Digitized by Madhuban Trust

भावी वेदभाष्य के सन्दर्भ-सूत्र

फतहसिंह, एम ए, डी लिट्
अध्यक्ष, शोध-सदन, वेद-संस्थान

श्रद्धा चौहान, एम ए, पी एच डी

अभयदेव, एम ए, पी एच डी
अध्यक्ष, वेद-संस्थान

वे द - सं स्था न
अजमेर (भारत)
१९८३

परिवर्तित मूल्य
Rs. 15/-
वेद-संस्थान, जिला
रु. १५.००

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

भावी वेदभाष्य के सन्दर्भ-सूत्र

फतहसिंह, एम ए, डी लिट्
अध्यक्ष, शोध-सदन, वेद-संस्थान

श्रद्धा चौहान, एम ए, पी एच डी

अभयदेव, एम ए, पी एच डी
अध्यक्ष, वेद-संस्थान

वे द - सं स्था न
अजमेर (भारत)
१९८३

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

संस्थान-प्रकाशन-संख्या : ८९

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण; १९८३; ५०० प्रतियाँ

प्रकाशक : **वेद-संस्थान**, बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर ३०५००१

मुद्रक : **प्रिण्ट हाउस**, अजमेर

रु. १५.००

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

प्राक्कथन

'भावी वेदार्थ के सन्दर्भ-सूत्र' के द्वारा वेदाध्ययन का वृत्त पूरा हो रहा है। वेदार्थ की प्राचीनतम कसौटियां ऋषि, छन्द, देवता और योग मानी जाती रही हैं। इन चारों को जाने बिना वेद के अध्ययन-अध्यापन और यज्ञादि में मंत्रों के प्रयोग से मनुष्य के पापी हो जाने की पुरानी धारणा को आज का मानव भले ही तर्कहीन कहकर टाल दे, पर इतना निस्सन्दिग्ध है कि इन चारों को समझे बिना वेदार्थ की सरणि के सही दिशा में प्रसृत होने का भरोसा नहीं किया जा सकता। वेद की भाषा इतनी लचकीली है कि उसमें से अध्येता अपनी मर्ज़ी का कोई सा भी भाव निकाल लेता रहा है। इस अराजकता को नियन्त्रित करने में सबसे सक्षम अंकुश ये चार कसौटियां हैं। इनके बाद है मंत्र का अर्थ करने की वैज्ञानिक पद्धति, जिसका निरूपण इन पंक्तियों के लेखक ने 'वेद-सविता' में अपनी एक लेखमाला, 'वेदाध्ययन कैसे करें' में किया था।

वेदाध्येता को सबसे आरंभ में ही यह अहंभाव त्याग देना चाहिए कि वह ही कोई पहला शूरमा है जो वेद का अर्थ निकालने चला है। उसे क्षण-भर को भी यह विनम्र बुद्धि नहीं त्यागनी है कि उससे पूर्व अनेक चिन्तक, सहस्रों वर्षों से, वेदानुशीलन करते रहे हैं। उनकी चिन्तनपद्धतियों से उसे पूरा लाभ लेना है। वे प्राचीन चिन्तक हमारी अपेक्षा वेद के कहीं निकट थे। उन पूर्वसूरियों की चिन्तनपद्धति की उपर्युक्त चार कसौटियां रही हैं। पिछली दो शताब्दियों में देश-विदेश में वेदाध्ययन के क्षेत्र में अनेक पद्धतियों का परीक्षण हुआ है। पर कोई भी नवीन पद्धति वेद के प्रतिपाद्य को पूरा उजागर नहीं कर पाई। अतः पुनः प्राचीन कसौटियों का गम्भीर विश्लेषण करने के अलावा वेद के हृदय तक पहुंचने का अन्य उपाय नहीं है।

आधुनिक पद्धतियों का पूरा उपयोग वेदसमुद्र की सतह का विश्लेषण करने में अवश्य अवश्य करना है। पर यही पर्याप्त नहीं होगा। गहरा गोता लगाने के लिए ऋषि, छन्द, देवता और योग—ये चार साधन साथ लेने होंगे। किस प्रकार इन साधनों का उपयोग करना है, इन साधनों का पूरा स्वरूप क्या है, यह समझने-समझाने के लिए डॉ फतहसिंह का यह प्रस्तुत तप है। वेदाध्येता चिर काल तक इसके लिए उनके कृतज्ञ रहेंगे।

वेद-संस्थान, नई दिल्ली में डॉ फतहसिंह के निदेशन में 'वैदिक परिभाषा-कोश' के निर्माण की विराट् शोधयोजना पर कार्य आरंभ हुआ है। यह योजना करोड़ों रु की, सैकड़ों वैदिक चिन्तकों की की हवि मांगनेवाली है। साधनों की प्रतीक्षा में अमूल्य समय जाए, इससे अच्छा है कि स्वयं जितना कर सकें वह आरंभ कर दिया जाए, इस भावना से डॉ फतहसिंह और डॉ श्रद्धा चौहान ने वैदिक 'पुरुष' तत्त्व का जो अध्ययन 'वैदिक परिभाषा-कोश' के लिए किया उसका संक्षिप्त सार तथा 'कोश' के लिए तैयार की गई टिप्पणी भी इस ग्रन्थ में दी जा रही है।

अन्त में संस्थान की शोध-योजना का कुछ स्वरूप दिया गया है। संस्थान के पास कार्य के लिए अपेक्षित मन्त्र और उत्साह शक्तियां तो हैं। साधन देना समाज का पावन दायित्व है जिसे निभाने के लिए उसका आह्वान है।

जीवान् नो अभिधेतना, दित्यासो पुरा हथात्।
कद् ध स्थ हवनश्रुतः। ऋग्वेद ८.६७.५

आदित्यो—तेजस्वियो! हमारे जीते जी, मौत से पहले, सब ओर से दौड़कर आओ। पुकार सुननेवालो! कहां हो?

अजमेर
१२ जुलाई, १९८३

अभयदेव
अध्यक्ष, वेद-संस्थान

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

लेख-क्रम

'वेद' : तत्त्व और ग्रन्थ	फतहसिंह	i–xxii
प्राण-दृष्टि और योग	,,	१
देव (ब्रह्म) का देवत्व और देवता	,,	१२
मन्त्रों के देवता, ऋषि और छन्द	,,	२४
वैदिक 'पुरुष' तत्त्व : एक विवेचन	श्रद्धा चौहान	३८
'पुरुष' की परिभाषा	,,	६६
मानव के व्यक्तित्व की खोज	फतहसिंह	६९
भावी वेदभाष्य की तैयारी का उपक्रम	अभयदेव	७६
परिशिष्ट		
१ ग्रन्थ में चर्चित प्रसंग		८६
२ ग्रन्थ में चर्चित वैदिक शब्द		८८
३ ग्रन्थ में उल्लिखित·····नाम		८९

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

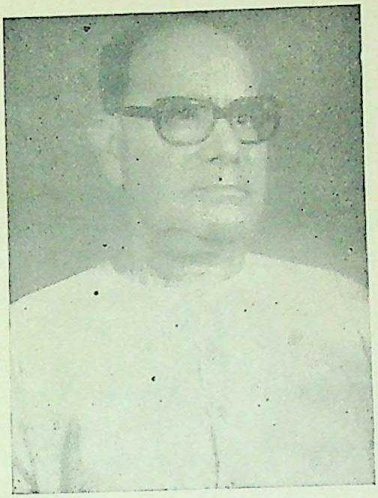

डॉ फतहसिंह

जन्म : गुरुपूर्णिमा, १९७० वि. में भदेंग कज्जा (पीलीभीत) में। एम ए, डी लिट् (वाराणसी)। आगरा, कोटा के महाविद्यालयों में संस्कृत और हिंदी का अध्यापन। श्रीगंगानगर, व्यावर, कालाडेरा के महाविद्यालयों में प्राचार्यत्व। राजस्थान-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान के निदेशक। आजीविका-निवृत्ति सन् १९६८ में।

३३ प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का संपादन किया। साहित्य, संस्कृति, तुलनात्मक भाषाविज्ञान, धर्मविज्ञान, समाजशास्त्र, प्राचीन लिपिशास्त्र, दर्शन विषयक अनेक शोधलेख और ग्रन्थों के प्रणेता, यथा, कामायनी-सौन्दर्य, भारतीय समाजशास्त्र, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका, वैदिक एटिमॉलॉजी, वैदिक दर्शन, साहित्य और राष्ट्रीय स्व, साहित्य और सौंदर्य। सिंधु-घाटी लिपि को पढ़ने के अपने प्रयास के द्वारा अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की।

सम्प्रति वेद-संस्थान के शोधसदन के अध्यक्ष, तथा वैदिक शोधकार्य के निदेशक। १९७८ ई. में प्रथम 'विदेह'-स्मृति-प्रवचनमाला के प्रवक्ता के रूप में 'मानवता को वेदों की देन' पर हुए आपके प्रवचन 'वेद-सविता' विशेषांक के रूप में १९८१ में प्रकाशित। 'वेद-सविता' के नियमित सम्मान्य लेखक। 'वेद-सविता' में धारावाही प्रकाशित, 'पुरुष-सूक्त की व्याख्या' विशेष महत्त्वपूर्ण, जिसके ग्रन्थ-रूप में प्रकाशन तथा अंगरेजी अनुवाद साधनापेक्षित हैं। अस्यवामीय-सूक्त पर भी आपकी व्याख्या प्रकाशनार्थ साधनापेक्षित है। वैदिक प्रतीकशैली के इस भूतल पर अद्वितीय मर्मज्ञ। स्वभाव से शिशुवत् भोले, नितान्त अहंकार-शून्य, सतत ब्रह्मलीनता में आत्मविभोर।

श्रीमती डॉ श्रद्धा चौहान

जन्म : १ जुलाई, १९४५ में कोटा में। **शिक्षा** : एम ए (संस्कृत), पीएच डी 'ऋग्वेद में धन की परिकल्पना' विषय पर राजस्थान विश्वविद्यालय से। **अध्यापन** : सहारिया राजकीय महाविद्यालय, कालाडेरा (१९६६-६७); जोधपुर विश्वविद्यालय (१९६७-६९)। **सम्पादन** : 'मन्त्रभागवतम्' (राजस्थान-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान, जोधपुर का प्रकाशन)। **सामाजिक कार्य** : १९७० से '८० तक अलवर जिले के एक छोटे से ग्राम में समाजसेवा; कोट-पूतली में दो बालशिक्षण संस्थाओं की स्थापना की।

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

वेद : तत्त्व और ग्रन्थ

वेद नामक ज्ञान और चार वेद

वेद मोक्षधर्म बतलानेवाले ग्रंथ ही नहीं अपि तु वे सांसारिक अर्थ-कामपरायण जीवन को भी स्वस्थ दिशा दे सकते हैं।

हम लोग परमार्थ को पूर्णतया भूले हुए हैं और व्यवहार (संसार) को एक-मात्र सत्य मान बैठे हैं। हमारी दृष्टि वेदों के पशु, प्रजा, द्रविण, रयि, सूर्य, वायु, आदि में सांसारिक पदार्थों के अतिरिक्त कुछ देख ही नहीं सकती। प्रतीकों को समझने की आदत जाती रही। यही कारण है कि वेद की भाषा को समझना अतिकठिन हो गया।

इसलिए, वेद नामक ज्ञान शताब्दियों से पोथियों में बन्द पड़ा था। सौभाग्य से हमारे पूर्वजों ने इन पोथियों के मूल्य को पहचाना और उनको अक्षरशः रटकर अपनी स्मृति में सुरक्षित रखने की एक परिपाटी चला दी। इस तरह वेदों के शब्द तो सुरक्षित हैं पर उनका अर्थ समझने की परम्परा लुप्त हो गई। हजारों वर्ष पहले, इसी कारण, कौत्स ने **अनर्थका हि मन्त्राः** आवाज उठाई थी। फिर भी यास्क, पाणिनि, पतञ्जलि जैसे बड़े बड़े आचार्य वेदों के मन्त्रों को समझने समझाने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहे। दुर्भाग्यवश, इस प्रकार के प्रयास का भी गुणात्मक ह्रास होता गया और कालान्तर में वेद केवल पवित्र पोथी अथ वा शब्दसमूह-मात्र रह गए—सिर्फ़ पूजन-अर्चन अथ वा पाठ-पारायण द्वारा पुण्य अर्जित करने के साधन।

वास्तव में **वेद** एक अतिमानसिक ज्ञान है। उस ज्ञान को जिन ग्रन्थों का विषय बनाया गया उनको भी इसी लिए 'वेद' कहा जाता है। अतः उस ज्ञान की प्राप्ति तो तभी होगी जब पोथी में लिखे शब्दों का वास्तविक अर्थ पल्ले पड़े। केवल उसके शब्दों को रटने-मात्र से तो पूरी तरह अर्थज्ञान संभव नहीं। वेद को कंठाग्र करने वाले को 'निरुक्त' में 'स्थाणुर्....भारहारः' कहा है।

जिस ज्ञान के कारण चार प्रसिद्ध महाग्रन्थों का 'वेद' नाम पड़ा वह सामान्य लौकिक ज्ञान से सर्वथा भिन्न है। इसी लिए, परम्परा से, लोक और वेद को एक दूसरे से भिन्न माना जाता रहा है।[1] दोनों की भाषा अलग अलग; दोनों को बताने की शैली पृथक् पृथक्। लोक की दृष्टि बहिर्मुखी है, वेद की अंतर्मुखी। लौकिक दृष्टि किसी वस्तु को खण्डशः जानने की अभ्यस्त है, जब कि वैदिक दृष्टि अखण्डतावादी है। आधुनिक विचारक भी कम से कम मानव-व्यक्तित्व को समझने के लिए एक पूर्णवादी दृष्टि (Holism) की आवश्यकता अनुभव करने लगे हैं।[2] उनकी सम्मति में, किसी विषय को खण्डशः देखनेवाली आधुनिक दृष्टि पर्याप्त नहीं है। वैदिक दृष्टि और ज्ञान, इसलिए, आधुनिकतम विचार-धारा के लिए भी उपयोगी है।

संहिता-दृष्टि और साम-दृष्टि

वैदिक दृष्टि को संहिता-दृष्टि कह सकते हैं। **संहिता** का अर्थ कोई निष्प्राण संग्रह वा समुच्चय नहीं जिसमें, घड़ी के समान, अनेक पुर्जों को एकत्र किया गया हो। घड़ी के पुर्जों को तो अलग अलग करके उन्हें पुनः जोड़-कर घड़ी का रूप दिया जा सकता है। 'संहिता' एक ऐसी पूर्ण इकाई (one whole) का नाम है जिसका

---

१ तुलनीय **लोकहु बेद न आन उपाऊ।** रामचरित-मानस, अ.का.

२ 'To Professor Whitehead we owe a profound but difficult philosophy which envisages the universe as an organic whole of which the living organism is an examplar.' C E M Joad, *Guide To Modern Knowledge*, p. 130

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

प्रत्येक अंग अपना कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रखता। वे सब सबके निमित्त हैं, पूरी संहिता के हितसंपादन के लिए हैं। और उनका अस्तित्व तभी तक है जब तक वे संहिता के अंग हैं। मानव-व्यक्तित्व एक ऐसी ही संहिता है। वेद के अनुसार, पूरे जगत् वा ब्रह्माण्ड में (ब्रह्माण्ड-संज्ञक देहे) भी ऐसी संहिता है जिसके विभिन्न अंग अपने अंगी (संहिता) के पूरक हैं और उसी के कार्य में परस्पर सहयोगपूर्वक संलग्न रहने के लिए बने हैं। 'सं गच्छध्वं, सं वदध्वं, सं वो मनांसि जानताम्' का अक्षरशः पालन करनेवाले 'पूर्वे देवाः' की तरह, उनमें से प्रत्येक सम्पूर्ण इकाई (संहिता) की व्यवस्था में अपने न्यायोचित भाग को, बिना मांगे ही, पा सकता है। वैदिक शब्दावली में, इसे सं-ज्ञान (mutual understanding) और सं-वनन (mutual affection) कहते हैं। इसका एक अद्भुत नमूना जीवित मानवदेह (पुरुष-संहिता) है। ब्रह्माण्ड की संहिता का ही एक लघु संस्करण इस नमूने में है। इसी लिए, **यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे** उक्ति प्राचीनकाल से चलती आई है।

इस संहिता-दृष्टि का विवेचन 'संहितोपनिषद्' नाम से किया जाता है। इसका विवेचन शांखायन आरण्यक के सातवें और आठवें अध्याय में विस्तारपूर्वक मिलता है। एक अतिसंक्षिप्त संहितोपनिषद् तैत्तिरीयोपनिषद्[3] में प्राप्त है। स्वयं वैदिक संहिताओं में इस संहिता[4] का उल्लेख है पर 'संहिता' को संग्रह का पर्यायवाची मानकर विद्वानों ने उसके वास्तविक अर्थ की उपेक्षा कर दी है। इस संहिता-दृष्टि के अनुसार, मनुष्य पिण्डीय (Solids), द्रवीय (liquids), वाष्पीय (gaseus) और वैद्युत (electro-magnetic) पदार्थों का संघात-मात्र नहीं है। न उसे केवल इच्छाओं, भावनाओं, विचारों एवं क्रियाओं, आदि की पेटी कहना ही पर्याप्त है। कुछ लोग मनुष्य को हाड़-मांस की मशीन अथ वा सामाजिक पशु कह देते हैं। मनुष्य के विषय में प्रचलित ये सब उक्तियां उसके अन्नमय, प्राणमय अथ वा अधिक से अधिक मनोमय कोश को ही स्पर्श करती हैं। इन तीनों कोशों की वैविध्यपूर्ण अनेकता के सार को अपने में पुञ्जीभूत और केन्द्रीभूत करनेवाला एक चतुर्थ कोश भी है। उसको देवकोश अथ वा विज्ञानमय कोश कहा जाता है। इन कोशों के 'चतुष्टय' को संहित करनेवाला हिरण्मय कोश अथ वा आनन्दमय कोश कहलाता है। वह वेदों में सर्वाधिक रहस्यमय है।[5] इसी के कारण अन्य चारों कोशों को 'चतुष्टयं संहितान्त'[6] कहा गया है। इसी में, मनुष्यगत अग्नि का विश्व-रूप **संहत**[7] (केन्द्रित) कहा जाता है और इसी में सविता सारी अनेकता को समेटकर स्थित है।[8] प्रसिद्ध गायत्र मन्त्र में जिस सविता देव के भर्ग का ध्यान किया जाता है वह यही है। यही हिरण्मय कोश का वह 'आत्मन्वत्' (आत्मा से संयुक्त) यज्ञ है जिसे ब्रह्मवेत्ता जानते हैं।[9] यही वह बीज है जो अन्य चार कोशों के स्तूप के रूप में वर्धमान होने से 'ब्रह्म', तथा उसका प्रसव करने से 'प्रसविता' वा सविता कहा गया है। इसी के कारण 'चतुष्टय' संहितान्त बनता है।

संहिता अखण्डताबोधक अदिति का नाम है; उसके ज्ञान को आदित्य-बोध[10] कहा जाता है। 'परः सन्निकर्षः संहिता' का भी यही अर्थ है कि संहिता एक सर्वोच्च-स्तरीय सन्निकर्ष वा सायुज्य का नाम है। यह सायुज्य उक्त ब्रह्मात्म-सायुज्य ही है जिसका साक्षात्कार हिरण्मय कोश में संभव है। तदनुसार ही, हिरण्मय (आनन्दमय) कोश, विज्ञानमय (देव) कोश, मनोमय कोश, प्राणमय कोश और अन्नमय कोश के आत्माओं में प्रत्येक पूर्ववर्ती अपने अनुवर्ती का **अन्तर आत्मा** है।[11] इन आत्माओं को जब क्रमशः आदित्यपुरुष, महापुरुष, वेदपुरुष, छन्दःपुरुष और शरीरपुरुष कहते हैं तो आदित्य को महापुरुष का,

३ अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः। तैउ१.३

४ तुलनीय, ऋ ८.९६.२; अ १०.२.३, आदि।

५ क्व स्विद् अस्य रजसो महस् परं, क्वावरं मरुतो यस्मिन्न आयय। अच्च्यावयथ विथुरेव संहितं, व्य अद्रिणा पतथ त्वेषम् अर्णवम्। ऋ १.१६८.६

६ अ १०.२.३ ७ ऋ ३.२.७ ८ ऋ २.३८.४

९ तस्मिन् हिरण्मये कोशे, त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षम् आत्मन्वत्, तद् वै ब्रह्मविदो विदुः। अ १०.२.३२

१० असौ वा आदित्यो बोधः। काठ ३७.१०

११ तैउ २.१.५

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

तथा अशरीरी प्रज्ञात्मा को अन्यों का रस कहकर पुनः आदित्य और प्रज्ञात्मा का एकत्व प्रतिपादित किया जाता है।[12] इस प्रकार निर्दिष्ट एकरसता वा समरसता संहिता की सबसे बड़ी विशेषता है।

इसी समरसता का एक नाम साम[13] अथ वा समत्व है। संहिता की अपरिहार्य विशेषता होने के कारण, कभी कभी संहिता को भी साम कहा जाता है।[14] वास्तव में साम संहिता सम्यक्सायुज्य की अनुभूति का वही परिणाम है जिसे जय-अजय, लाभालाभ, आदि द्वंद्वों के स्थान पर समरसता पैदा करनेवाला समत्व-योग कहा गया है।[15] इसका सर्वोत्तम उदाहरण बीज से अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और निरंतर बद्धमूल होता हुआ हरा भरा विशाल वट वृक्ष है। यह संहिता, साम और समत्व-योग मानव-व्यक्तित्व और समाज, दोनों में वांछनीय है। पर वह ब्रह्मात्मसायुज्य अथ वा आदित्य के बोध से ही संभव है।

इस सायुज्य के वेदन का नाम **वेद** है। वेद ब्रह्मात्म-सायुज्य की अनुभूति से प्राप्त बल है। यही वह 'ब्रह्म-वीर्य' है जिसका 'उद्धरण' करके 'इष्ट कर्म' संभव है।[16] इष्ट कर्म से अभिप्राय है इष्टि जो 'यज्ञः 'श्रेष्ठतमं कर्म' ' का पर्याय समझा जा सकता है। वेदोद्धार के लिए, ज्ञात मनुष्य का अपने अज्ञात स्तर से संबद्ध होना आवश्यक है। अन्नमय कोश से लेकर मनोमय कोश का क्षेत्र न्यूनाधिक रूप में ज्ञात है। इसी का एक नाम **व्यचस्** (व्यक्त) है, जब कि हिरण्यय (आनन्दमय) कोश का नाम **अव्यस्** (अव्यक्त) है। अव्यक्त होने से इस अज्ञात स्तर को ज्ञात (व्यक्त) से जोड़नेवाला विज्ञानमय कोश है जिसे 'व्यक्ताव्यक्त' कहा जाता है। अतः जब अव्यस् और व्यचस् के संयुक्त प्रयास से वेदोद्धार करके कर्म करने की बात कही जाती है[17] तो उसका अभिप्राय यह है कि विज्ञानमय के व्यक्ताव्यक्त महत् नामक बुद्धि तत्त्व के आलोक में आचरण किया जाए। यह संभव होते ही मानव-व्यक्तित्व में संहिता और साम का आगम हो जाता है और वेदोद्धार निश्चित हो जाता है।

वेदोद्धार का अर्थ है देव (ब्रह्म) के प्रतिबिम्ब वा प्रतिच्छाया का ग्रहण क्यों कि **वेद** शब्द वस्तुतः **देव** के वर्ण-विपर्यय से बना है[18] और उसका अर्थ है 'देव का आलोक वा शक्ति'। यह वेद हिरण्यय कोश से सर्व-प्रथम तो विज्ञानमय कोश में आता है। वहां से वह मनोमय कोश का स्वामी होकर 'मनसस् पति' कहलाता है[18] और मनोमय में ऋक्, यजुः और साम की त्रयी होकर सक्रिय होता है। इसी से इंद्रिय-रूप देवों को यज्ञ-रूप मार्ग (**गातु**) का ज्ञान होता है और वे **गातु-विद्** कहे जाते हैं।[18] दूसरे शब्दों में, हिरण्यय कोश के पुरुष की अन्य कोशों में होनेवाली अभिव्यक्ति ही का नाम वेदत्रय है। हिरण्यय कोश के संदर्भ से जो पुरुष अजन्मा है वह विज्ञानमय में 'जायमान' तथा मनोमय में 'जात' कहलाता है। अतः जैमिनीयब्राह्मण[19] कहता है कि वह अजन्मा से जायमान होकर जो वाक् बोला वही वेदत्रय हो गई और उन्हीं तीनों के द्वारा इंद्रिय-देवों से यज्ञ-विस्तार करने के लिए कहा गया[20]। यही पूर्वोक्त यज्ञ 'गातु' है।

---

१२ स यश चायम् अशरीरः प्रज्ञात्मा यश चासाव् आदित्य एकम् एतद् इति विद्यात्। शांआ ८.३

१३ एतं ह तं हीदं सर्वं समेतम्। तस्माद् एष एव साम। जै ३.३६९; तद् यत् समेत्य साम प्राजनयतां तत साम्नः सामत्वम्। जैउ १ १६.२.२

१४ सामैवाहं संहिता मन्य इति। शांआ ७.१४

१५ सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा, समत्वं योग उच्यते। भ-गी २.४८

१६ यस्मात् कोशाद् उद् अभराम वेदं, तस्मिन्न् अन्तर् अव दध्म एनम्। कृतम् इष्टं ब्रह्मणो वीर्येण, तेन मा देवास् तपसावतेह। अ १९.७२.१

१७ अव्यसश् च व्यचसश् च विलं वि ष्यामि मायया। ताभ्याम् उद्धृत्य वेदम् अथ कर्माणि कृण्महे। अ १९.६८ १

१८ तुलनीय, वेदोसि येन त्वं देव ! वेद देवेभ्योभवस् तेन मह्यं वेदो भूयाः। देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुम् इत। मनसस् पत ! इमं देव ! यज्ञं स्वाहा वाते धाः। य २.२१

१९ स यां जायमानो वाचम् अवदत् स एव त्रयो वेदोभवत्। जै ३.३८०

२० स देवान् अब्रवीद् एतेन यूयं त्रयेण वेदेन यज्ञं तनुध्वम् इति। जै १.३५८

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

वेदोद्धार, यज्ञ और योग

यह यज्ञ वा गातु एक मानस[21] प्रक्रिया है जिससे वेदोद्धार जुड़ा हुआ है। इस प्रक्रिया के अनुसार वेद जिस हिरण्मय कोश से उद्धृत होता है उसी में उसे फिर रख दिया जाता है और इस प्रकार जो ब्रह्म-वीर्य मिलता है उसी के द्वारा इष्ट कर्म (यज्ञ) होता है।[16] वेदोद्धार अवरोह है, तो उसको पुनः वहीं रखना आरोह। इस आरोहावरोह को विभिन्न प्रकार से कहा जाता है। यह अन्तर्ज्योति का प्राणापान है।[22] प्राणों का ऊर्ध्वगमन (आरोह) प्रातःसवन है, तो अधोगमन (अवरोह) माध्यन्दिनसवन।[23] योग की भाषा में, इसे क्रमशः समाधि और व्युत्थान का प्रयास भी कह सकते हैं। इस प्रक्रिया के द्वारा ही व्यक्त (मनोमय) और अव्यक्त (हिरण्मय) के बीच का बिल बन्द किया जा सकता है और तत्पश्चात् वेदोद्धार द्वारा यज्ञ कर्म संभव होता है।[24] निरंतर अभ्यास से, इस प्रकार, क्रियावृत्ति (यजुः) में ज्ञानवृत्ति (ऋक्) एवं आनन्दवृत्ति (साम) के समन्वय (ऋच्य अध्यूढं साम) की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। यही प्रत्यक्ष वेदोद्धार है। इसके माध्यम से अनेक सामों से ओत प्रोत प्राजापत्य यज्ञ[25] होता है। इसे सामदेवत्य[26] सोम का यज्ञ भी कह सकते हैं। सीधी सादी भाषा में, यह आनन्दमय व्यावहारिक जीवन है।

यह अन्ततोगत्वा उस मानसिक वा अतिमानसिक स्थिति में परिणत हो जाता है जिसको **सोमसाम**[27] कहा जाता है। सोमसाम का वास्तविक अभिप्राय उस आनन्दावस्था से है जिसके फलस्वरूप मानव-व्यक्तित्व में पूर्वोक्त समत्व योग (साम) आ जाता है। इसके कारण, आनन्द-रूप सोम को उसी प्रकार 'सोमदेवत्य' (काठ २६.२; क ४५.३) कहा जाता है, जिस प्रकार सोम को 'सामदेवत्य'। सोम और साम का यह अन्योन्याश्रय[28] सम्बन्ध तभी बोधगम्य हो सकता है जब साम' को शिव एवं शान्त अभिव्यक्ति,[29] तथा सोम को भी एक वैसी ही अनुभूति माना जाए।

इसी अनुभूति और अभिव्यक्ति के निरन्तर विकास का नाम **यव** की खेती है जिसके लिए अथर्ववेद में अष्टायोगों और षड्योगों का विधान किया गया है। जो लोग योग को केवल आसन व प्राणायाम मात्र मानकर उसे चमत्कार करने का साधन बनाए बैठे हैं उनको यह समझाना कठिन है कि यह खेती ही मानव-जीवन को सर्वांग स्वस्थ, सुन्दर और सरस बनानेवाला योग है। इसमें न भौतिकता की उपेक्षा है, न आध्यात्मिकता का तिरस्कार अथ वा अनीश्वरवाद का बहिष्कार। साथ ही, यह मनुष्य के सभी आयामों के हितसम्पादन में समर्थ है। ज्ञानवृत्ति, क्रियावृत्ति और आनन्दवृत्ति को अव्याकृत (एक) करके तथा उन्हें परावृत्ति (महत्तत्व) में परिणत करके उन्हें पुनः अवतरित करके मनोमय से अन्नमय तक लाने में ही वास्तविक योग निहित है। संक्षेप में यही वैदिक योग है जो व्यक्तिगत मोक्ष का ही नहीं अपि तु, साथ ही, सामाजिक मोक्ष का पक्षपाती है। यह अत्यन्त दुःख की बात है कि कालान्तर में वैदिक योग का सामाजिक पक्ष उपेक्षित हो गया। अप्पय दीक्षित के पश्चात् श्री अरविन्द ने ही इस बात की स्पष्ट घोषणा की।

वेद की चतुर्विधता वा अनन्तता

इस योग के फलस्वरूप हिरण्मय कोश से विज्ञानमय में उद्भूत होनेवाला अव्याकृत वेद मनोमय में त्रिविध

---

२१ मनसा हि पुरुषो यज्ञम् अभिगच्छति। तैसं ५.१.३.२

२२ ऋ १०.१८९.२ २३ कौ २५.१२

२४ अ १९.६८.१

२५ ऋ १०.१३०.२ २६ सामदेवत्यो वै सोमः। मै ४७.२ २८ तां ११.३.९ २७ तां ११.३.९

२८ सोम को एक भौतिक पेय, और साम को एक गेय-मात्र मानने से इस प्रकार की उक्तियों का कोई अर्थ नहीं, जैसे, यत् सामानि (ऋषयोऽध्यगीषत) सोमाहुतयः (ता अभवन्)। तैआ २.६.२; सर्वेषां वा एष वेदानां रसो यत् साम। माश १२.८.३.२३; गो २.५.७; (तमेतं पुरुषं) सामोत छन्दोगाः (उपासते), एतस्मिन् हीदं सर्वं समानम्। माश १०.५.२.२०

२९ यद् ध वै शिवं शान्तं वाचस् तत् साम। सामन् वदतीति वा आहुः। साधु वदन्तम्। जै ३.५२

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

होकर अनन्त रूप ग्रहण करता है। जैमिनीय ब्राह्मण के पूर्वोक्त शब्दों में कहें तो पुरुष विज्ञानमय में जायमान होकर जो प्रथम वाक् बोलता है वह अव्याकृत त्रयी ब्रह्मज्ञान की प्रथम अभिव्यक्ति है। इसी का नाम ब्रह्मवेद है। यह मनोमय की ज्ञानवृत्ति, क्रियावृत्ति और आनन्दवृत्ति में अभिव्यक्त होकर क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का रूप ग्रहण करता है। इस प्रकार, वेदों की संख्या चार[30] तो जरूर हो जाती है पर उन चारों में है त्रयी ही; एक 'अव्याकृत' (ब्रह्मवेद) त्रयी, तो दूसरी व्याकृत ऋक्-यजुः-और-साम-रूप में 'व्याकृत' त्रयी।

निस्संदेह, ज्ञान-रूप में यह त्रयी कोई ग्रन्थ नहीं अपि तु पुरुष (आत्मा) प्रजापति की तीन ज्योतियों का प्रकाश है। इन ज्योतियों का अलग अलग नाम अग्नि, वायु और अव्याकृत सूर्य है।[31] इन तीनों का पूर्व-रूप विज्ञानमय का वह अव्याकृत प्रकाश है जो हिरण्यय रथ[32] (कोश) में आसीन हिरण्यपाणि सविता से प्राप्त होता है। इसलिए वेदों को सविता अथ वा उसके 'वरेण्य' को छादन करनेवाले कहा जाता है।[33] हिरण्यय कोश में वेद सविता-रूप ब्रह्म से अभिन्न है। वह विज्ञानमय में 'सवितुः वरेण्यं', तो मनोमय में ऋक्, यजुः और साम के रूप में क्रमशः भर्गः, महः एवं यशः कहलाता है,[34] जब कि ये ही स्थूलतर स्तरों पर अनेकविध होकर 'अनन्ता वै वेदाः'[35] कहे जाते हैं। इस अनन्तता का पारिभाषिक नाम 'सर्वम्' है।[36] अनन्तता अथ वा सर्वम् का स्रोत विज्ञानमय का वही प्रकाश है जिसे 'योग आत्मा' (तैउ २.४) अथ वा, ऊपर, 'ब्रह्मवेद' कहा गया है। वेद का जो बीज हिरण्यय कोश में अनङ्कुरित रहता है वह विज्ञानमय में अङ्कुरित होता है। मनोमय में उसके, मानो, एक तना और दो पत्तों की त्रयी, तो प्राणमय-अन्नमय में अनन्त शाखा-प्रशाखाओं का स्तूप खड़ा हो जाता है। अतः एक से अनेक होने की इस 'अर्वाक्' गति का 'अथ' (आरंभ) वस्तुतः विज्ञानमय से ही होता है। इसी लिए विज्ञानमय के ब्रह्मवेद का एक नाम अथर्व (अथ+अर्वाक्) वेद भी है।[37] मनोमय से लेकर अन्नरसमय कोश तक विभिन्न अंग-प्रत्यंगों में विभक्त होकर, यही 'अंगों का रस' होने से अंगिरस् अथ वा आंगिरसः कहलाता है।[38]

विज्ञानमय के अथर्वा से लेकर उक्त आंगिरसों तक की वेदसमष्टि का सामूहिक नाम अथर्वाङ्गिरस है।[39] जब कि अथर्वाङ्गिरस की अनुभूति को 'मेद आहुतयः' (माश ११.५.६.७) कहा जाता है, आंगिरस स्तर पर उसी को 'अन्नाद्यरस' (जै २.४.२.९) तथा ब्रह्मवेद-स्तर पर मध्वाहुतयः संज्ञा दी जाती है।[40] वस्तुतः वह सब विज्ञानमय की एक ही परा वाक् वा महत्तत्व नामक 'स्वादिष्ठा धीति' है जो अनन्तता प्राप्त करके एक 'विश्वदेव्य समुद्र' का रूप ग्रहण कर लेती है,

ततं मे अपस् तद् उ तायते पुनः,
स्वादिष्ठा धीतिर् उचथाय शस्यते।
अयं समुद्र इह विश्वदेव्यः,
स्वाहाकृतस्य सम् उ ऋभवः। ऋ १.११०.१

इस प्रसंग में उल्लिखित स्वादिष्ठा धीति को ही सोम की 'स्वादिष्ठा मदिष्ठा धारा' कहा गया है।[41]

अत एव, सायणने, इस मंत्र में उल्लिखित कर्म (अपः)-विस्तार को यज्ञ मानकर, उस प्रसंग में आए 'विश्वदेव्य समुद्र' को ठीक ही सोम रस का समुद्र माना है। पर

---

३० चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो, यजुर्वेदः, सामवेदो, ब्रह्मवेदः। गो १.२.१६

३१ स इमानि त्रीणि ज्योतींष्य अभिततप। तेभ्यस् तप्तेभ्यस् त्रयो वेदाः अजायन्ताग्नेर् ऋग्वेदो, वायोर् यजुर्वेदः, सूर्यात् सामवेदः। माश ११.५.८.३

३२ हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्। ऋ १.३५.२

३३ वेदा एव सविता। गो १.१.३३; वेदाश् छन्दांसि सवितुर् वरेण्यम्। गो १.१.३२

३४ ऋग्वेदो वै भर्गः। यजुर्वेदो महः। सामवेदो यशः। माश १२.३.४.९

३५ अनन्ता वै वेदाः। तै ३.१०.११.३

३६ ये अन्ये वेदास् तत् सर्वम्। माश १२.३.४.६

३७ गो १.१.४

३८ गो २.१.७; माश १४.४.१.६; जैउ २.४.२.६

३९ तैउ २.३ ४० तैआ २.६.२ ४१ ऋ ९.१.१

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

संभवतः सायण को यह नहीं सूझा कि यह वैश्वदेव सोम समुद्र, वास्तव में, पांचजन्य (ऐ ३.३१) अथ वा सामाजिक आनन्दोत्कर्ष का द्योतक है। शांति-दृष्टि से इसी को वैश्वदेव्य साम का प्रजनन (जैउ १.१६.३.२) कहा जाता है। ज्ञान-दृष्टि से यही वैश्वदेव अग्नि है; एक होते हुए भी बहुविध हो जाने से, सर्वसाधारण इसमें अनेकधा (ऐ ३.४) विहार करते हैं। क्रिया-दृष्टि से यही वैश्वदेव पर्व है जिसका यजन सब विश्वे देवाः मिलकर (तै १.४.१०.५) करते हैं।

विश्वदेव्य नामक समुद्र, पर्व, शस्त्र, आदि उस आनन्दमय समाज की ओर संकेत करते हैं जहाँ सर्व-साधारण पूर्वोक्त आरोहावरोहात्मक योग का अधिकाधिक अभ्यास करके सार्वजनिक सुख, शांति और समरसता का एक उच्च स्तर उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। व्यक्तिगत स्तर पर जिसे ऊपर योग-यज्ञ का प्रातःसवन एवं माध्यंदिन सवन कहा गया है उसी के सामाजिक-परिणाम-स्वरूप होनेवाला यह तृतीय सवन है। इसके संपन्न होने पर ही, नीचे ऊपर, इधर उधर, सर्वत्र विष (गर) को दूर किया जाना संभव[42] है। प्रथम दो सवन व्यक्तिगत स्तर पर होनेवाला अर्क[43] नामक अग्नि, साम, पुरुष वा प्राण, आदि हैं, तो तृतीय सवन अश्वमेध वा राष्ट्र।[44] और दोनों, महायज्ञ के, दो तनू माने जाते हैं।[45]

महासंहिता

यह महायज्ञ व्यक्ति और मानवसमाज की संहिता तक ही सीमित नहीं है। प्रत्येक व्यष्टि और पूरी विराट् समष्टि को अपने में समाहित करनेवाली महा-संहिता में भी वह विद्यमान है। पर इसके लघु संस्करण का अपने भीतर साक्षात्कार करने का सौभाग्य मनुष्य को ही मिल सकता है। परम पिता परमेश्वर ने अपनी अहैतुकी कृपा से उसमें ऐसी सब संभावनाओं को बीज-रूप में रख छोड़ा है। बीज को अंकुरित करने अथ वा न करने की स्वतंत्रता भी उसको प्राप्त है। इसलिए, यदि वह उसको अंकुरित न करना चाहे तो वह पशुतुल्य जीवन में संतुष्ट रह सकता है। इसके विपरीत, यदि वह चाहे तो उस बीज को अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित करके, अपने व्यक्तित्व की संहिता के साथ साथ समष्टि की महासंहिता का साक्षात्कार करके, अपने समाज को भी सर्वांग-सुन्दर बनाने में पहल कर सकता है।

वेद नामक ग्रंथों की 'संहिता'

वेदों के अनुवाद वा भाष्य की गुरुता मुख्यतः उस अतिमानसिक ज्ञान के कारण है जिसे वे व्यक्त करते हैं। अतिमानसिक होने से, उसे मानसिक स्तर पर बोधगम्य बनाने के लिए एक सुसमृद्ध अर्थवाद और प्रतीकवाद का प्रयोग किया गया है। जैसा कि बताया जा चुका है, मानव-व्यक्तित्व के चार आयामों में उक्त वेद (ज्ञान) क्रमशः अथर्ववेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद नाम से चार रूप ग्रहण कर लेता है। तदनुसार, इसी नाम के चार ग्रंथ क्रमशः विज्ञान, ज्ञान, कर्म एवं उपासना (आनन्द) की 'संहिता' बन जाते हैं।

प्रत्येक ग्रंथ को एक 'संहिता' कहने का एक विशेष प्रयोजन है। जैसा वेद नामक ज्ञान के प्रसंग में कहा गया है, संहिता किसी एक समवेत इकाई का नाम है। अतः चारों वेद अपने अपने विषय (आयाम) की दृष्टि से मानव-व्यक्तित्व की एक एक समवेत इकाई (संहिता) का वर्णन प्रस्तुत करते हैं। मानव-व्यक्तित्व ब्रह्माण्ड का एक लघु संस्करण है। अतः प्रकारान्तर से, उससे ब्रह्माण्ड के भी संबंधित पक्ष का ज्ञान हो सकता है। उदाहरण के लिए, ऋग्वेद मानव-व्यक्तित्व के ज्ञान-काण्ड का प्रतीक है। इसका अर्थ है कि मानव-व्यक्तित्व में जो ज्ञान-प्रधान सृष्टि का पक्ष है वह इस वेद में चित्रित किया गया है। मानव-व्यक्तित्व में, ज्ञान की दृष्टि से, पुरुष-संहिता की मूल प्रकृति की अष्ट विकृतियां होती हैं।[46] तदनुसार,

---

४२ एताभ्याम् एव त्रिवृद्भ्यां सवनाभ्याम् इतश् चोर्ध्वम् इतश् चार्वाञ्चं विश्वं च गरं व्यस्यते। जै २.८३

४३ प्राणो वार्कः। माश १०.४.१.२३; १०.६.२.७ स एषोग्निर् अर्को यत् पुरुषः। माश १०.३.४.५; दीर्घतमसोर्को (सामविशेषः) भवति। ता १५.३.३४

४४ राष्ट्रम् अश्वमेधः। माश १३.२.२.१६

४५ एते वै महायज्ञस्यान्त्ये तनू यद् अर्काश्वमेधौ। तै २.२.७.५

४६ इनके नाम हैं महत्, अहंबुद्धि, मन और पांच ज्ञानेंद्रियां।

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

ऋग्वेद नामक ग्रन्थ में, प्रत्येक ऋक् के संहिता-पाठ की आठ विकृतियां मानी गई।[47]

ऋग्वेद-संहिता का अर्थवाद :

१) वैयक्तिक और अतिवैयक्तिक दृष्टि से, पुरुष-संहिता (मानव-व्यक्तित्व) के दो समानान्तर और समकक्ष पक्ष हैं। ऋग्वेद के प्रथम एवं अंतिम मण्डलों को इन दोनों पक्षों का प्रतिनिधि बनाने के लिए, उन दोनों की सूक्त-संख्या समानरूप से १९१ है। दोनों मण्डलों का आरंभ अग्नि-सूक्त से होता है क्यों कि दोनों अपने अपने ढंग से ज्ञानाग्नि प्रदीप्त करने का लक्ष्य रखते हैं। पर उसकी प्रदीप्ति का रूप भिन्न भिन्न होने से, दोनों के आरम्भिक अग्नि-सूक्तों के ऋषि और छन्द अलग अलग हैं। यही भेद दोनों के उपसंहार-सूक्तों में भी है। प्रथम मण्डल की अग्नि-प्रदीप्ति वैयक्तिक पक्ष के विष (कषाय, रोग) का विनाश करने के लिए है। अतः उसके उपसंहार-सूक्त की देवता को 'विषघ्नोपनिषद्' कहा गया है। इसके विपरीत, अंतिम मण्डल की अग्नि-प्रदीप्ति का उद्देश्य संज्ञान और संवनन नामक गुणों की सृष्टि करके सभी अर्थों को सुसंगठित करना है। अत एव इसके उपसंहार-सूक्त का ऋषि संवनन, तथा देवता संज्ञान है।

यह भेद होते हुए भी, दोनों मण्डल, अन्ततः एक ही लक्ष्य की पूर्ति में लगे होने से, एक दूसरे के पूरक हैं। प्रथम मण्डल जिस पुरोहित अग्नि की ईडन-(ideation)-प्रक्रिया आरंभ करता है वही[48] दशम मण्डल के प्रथम सूक्त में **इकस् पद** में **सहस्य**[49] रूप ग्रहण करके उपस्थित है। यही सहस्य अग्नि इस मण्डल के उपसंहार-सूक्त में सुन्दर 'सह-अस्तित्व'[50] का विधायक बनता है क्यों कि तब तक वह सम्यक् संगठन का हेतु **वृषा** अग्नि[51] बन चुकता है। एक ओर, जिस पुरोहित अग्नि को ईडन द्वारा (ऋ १.१.१) **विषघ्नोपनिषद्** (ऋ १.१९१) का साधन बनाया गया है वही, दूसरी ओर, सहानुभूति, सहयोग, सहकार, आदि की प्रक्रिया द्वारा 'सहस्य' (ऋ १०.१.७) होता हुआ, अन्त में अतिमानसिक स्तर की अतिवैयक्तिकता पाकर, आनन्दवृष्टि करनेवाला 'वृषा' अग्नि बन जाता है। इस अतिमानसिक अति-वैयक्तिकता में वैयक्तिक 'ईड्य' अग्नि एवं अतिवैयक्तिक (सामाजिक) 'सहस्य' अग्नि, दोनों एक हो रहे हैं। इस स्तर का नाम 'हिरण्यय कोश' है।

उभयपक्षीय अग्नि के एकत्व के अतिरिक्त, अति-मानसिक स्तर पर एक और भी एकत्व देखा जाता है। इसे 'हरियोग हिरण्यय दक्ष' कहते हैं।[52] यही वह स्तर है जहां, आनन्द की सब धाराएं संहित होने से, आनन्द-सोम को 'हरि' संज्ञा होती है[53] और वह भी 'सत्यं' की 'वर्षा करनेवाला होकर अग्नि की तरह 'वृषा' कहलाता है। इस प्रकार, वेदों में यज्ञ के दो पक्षों के रूप में मान्य अग्नि एवं सोम भी यहां एकीभूत होते हैं। यही नहीं, 'हिरण्यय हरियोग'-रूप रथ को इन्द्रतत्त्व भी इस स्तर पर आवृत किए हुए है।[52] वास्तव में, इस स्तर पर मानव व्यक्तित्व की समस्त त्रिविधता साम्यावस्था में स्थित **प्रकृति** का रूप ले लेती है।

२) साम्यावस्था भंग होने की दशा का तात्त्विक नाम 'महत्' है जिसका प्रतीक ऋग्वेद का नवम मण्डल है। यहां सब सूक्तों की देवता **पवमान सोम** है जिसकी स्वादिष्ठा-मदिष्ठा[54] धारा इन्द्र के पानार्थ पवमान होती है। पवमान रूप, सोम का 'महत्'[55] अथ वा 'महत् वीर्य' है। यही अग्नि का 'महत् उल्वं' (१०.५१.१) तथा इन्द्र का 'महत् नाम' (१०.५५ २) है। इस प्रकार जो महत्

---

४७ जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वजो, दण्डो, रथो, घनः। अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः।

४८ अरुषो जातः पद इडायाः, पुरोहितो राजन्! यक्षीह देवान्। ऋ १०.१.६

४९ अथा वह सहस्येह देवान्। वही, १०.१.७

५० तुलना कीजिए, यथा वः सुसहासति। वही, १०.१९१.४

५१ संसम् इद् युवसे वृषन्न! अग्ने! विश्वान्य् अर्य आ। वही, १०.१९१.४

५२ ऋ १.५६ १ ५३ ऋ ९.११३.५

५४ स्वादिष्ठया मदिष्ठया, पवस्व सोम धारया। इन्द्राय पातवे सुतः। ऋ ९.१.१

५५ महत् तत् सोमो महिष श्चकार। वही, ९.९७.४१; करिष्यन् वीर्यं महद् (९.११३.१)। तुलनीय, महद्....महताम्। १०.३६.११

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

तत्त्व प्रकृति की साम्यावस्था को व्याकृत करके पुनः त्रिविधता ग्रहण करता है उसी का प्रतीक नवम मण्डल है।

३) मानव-व्यक्तित्व में जो क्रमशः अहंबुद्धि, मन तथा पांच ज्ञानेन्द्रियों वाली सप्त काष्ठाएं हैं उनके प्रतीक ऋग्वेद के अवशिष्ट मण्डल हैं। अहंबुद्धि अष्टम मण्डल के प्रथम सूक्त में 'वृषभ' इन्द्र के रूप में है जो विविध रूप में आहूत (८.१.३) होता है और जिसका मन अनेक रूपों में बंटा हुआ (८.१.७) होता है। पर अहं-बुद्धि का यह रूप मण्डल के अंत में 'सुमतिः नवीयः' (८.१०३.९) में परिणत हो जाता है क्यों कि इस विकास के बिना उस 'महत्' बुद्धि तक पहुँचना संभव नहीं जिसका प्रतीक नवम मण्डल है। महत् अहंपूर्वा बुद्धि है। इस तक पहुँचने के लिए जिस ज्ञानाग्नि की आव-श्यकता पड़ती है उसका नाम **गातु-वित्तम**[56] (मार्ग-वेत्ताओं में श्रेष्ठ) है। वह 'आर्यस्य वर्धनं' कहलाता है क्यों कि उसमें सब व्रतों को समाहित[56] करके उक्त 'सुमति नवीय' की उपलब्धि होती है।

४) सप्तम मण्डल पूर्वोक्त बहुधा विभाजित मन के ज्ञानाग्नि को प्रस्तुत करता है। उसके उस 'दूरेदृशम् गृहपतिम्' (७.१.१) और 'सुप्रतिचक्षम्' और 'यविष्ठ' रूप (वही, २) की खोज है जो अपनी 'अजस्रा सूमि' (वही, ३) के द्वारा प्रकाशित हो क्यों कि वही 'पाक मन' (७.१०४.८) है। वही निरन्तर विकसित होता हुआ उस 'सुविज्ञानं' को सुलभ कराने में समर्थ है जो सत् का रक्षक और असत् का नाश करनेवाला सोम (वही, १२) कहा जाता है। पूरा सप्तम मण्डल मानसिक परिपाक की प्रक्रिया का वर्णन करता है।

५) षष्ठ मण्डल का आरम्भ श्रोत्र नामक इंद्रिय के उस रूप से होता है जिसे 'मनोता'[57] (मन द्वारा रक्षित) अग्नि कहा गया है। इसकी दो प्रमुख विशेषताएं हैं, 'श्रवः'[58] और 'सहः'[59]। **श्रवः** उसी धातु से निष्पन्न है जिससे श्रोत्र शब्द बना है। पर वेद में **श्रोत्र** स्थूल शब्द सुनने-वाली इन्द्रिय ही नहीं है। बाह्य जगत् की मांगों को अनुभव करनेवाली इन्द्रिय को भी श्रोत्र कहते हैं। समाजशास्त्र के क्षेत्र में इसी को सामाजिक उत्तर-दायित्व की अनुभूति कहा जाता है। इसी से व्यक्ति का 'स्व' बृहत् बनता है, और उसकी बुद्धि बृहती बनती है। इसलिए, ज्ञानाग्नि के इस पक्ष का श्रेष्ठतम रूप 'ब्रह्मणस्पति' कहलाता है जो इसी मण्डल के अन्तिम सूक्त (१७) में है। इस रूप के प्रादुर्भूत होते ही, व्यक्ति के भीतर एक अभेद्य ब्रह्म कवच (वर्म)[60] का निर्माण हो जाता है क्यों कि इसके फलस्वरूप सहानुभूति, सहयोग, सहकार, आदि से उत्पन्न होनेवाला वह 'सहः' नामक बल पैदा होता है जो ज्ञानाग्नि के पूर्वोक्त 'सहस्य' विशेषण को सार्थक करता है तथा 'सु-सह-अस्तित्व' को संभव करता है। इसी लिए 'श्रवः' के साथ 'सहः' भी षष्ठ-मण्डलीय ज्ञानाग्नि की विशेषता मानी गई है।

६) चक्षु इंद्रिय के रूप में जो ज्ञानाग्नि है वह पंचम मण्डल का विषय है। **चक्षु** से अभिप्राय स्थूल रूप को देखनेवाली इंद्रिय ही नहीं अपि तु सूक्ष्मातिसूक्ष्म बोध करानेवाली शक्ति भी है। इसलिए, इस मण्डल का पहला सूक्त बोध करानेवाले (५.१.१-२) ज्ञानाग्नि की चर्चा से आरंभ होता है। वह सुमति को जाननेवाला (वही, १०) है। सप्तम मण्डल का ज्ञानाग्नि जहां 'वर्म' (कवच) का निर्माण करता है, वहां यह 'शर्म' की सृष्टि करता है जो 'बृहत्' तथा 'भद्र' (वही, १०) है। यह ज्ञानाग्नि 'ऊर्ध्वः' और 'सुमनाः' महान् देव है जो अज्ञान-रूप अंधकार से मुक्ति देता (वही, २) है तथा 'उरु अन्तरिक्ष' का ज्ञाता (वही, ११) है। यह अग्नि अपने में सामान्य चक्षुओं का भी समावेश करता है। इस ओर संकेत करने के लिए, एक उपमा में मनों (मनांसि) की तुलना चक्षुओं (चक्षूंषि) से (वही, ४) की गई है।

इस चक्षु नामक ज्ञानाग्नि का पूर्वोक्त श्रोत्र इंद्रिय के श्रव से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह वस्तुतः ज्ञानचक्षु है जो वस्तुतः ज्ञानियों में पाया जानेवाला 'बृहत् श्रवः' (५.८६.६) ही है क्यों कि जो मरुत 'श्रोता'(५.८७.८-९)-रूप में 'बृहत्' की 'गिरा' को सुनते (वही, ३) हैं वे

---

५६ वही, ८.१०३.१ ५७ वही, ६.१.१

५८ तुलनीय, श्रवस्यवः श्रव आपन्न अमृक्तम्। वही, ६.१.४

५९ श्रवोभिश्च श्रवस्यस तरुत्रः। वही, ६.१.११

६० तुलनीय, ब्रह्म वर्म ममान्तरम्। ऋ ६.७५.१९

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

ही तो चक्षु नामक ज्ञानाग्नि की संदृष्टि (प्रसितौ संदृशि) में स्थित होनेवाले (वही, ६) हैं। यह चक्षु एक बुद्धि-प्रेरक बल को धारण करती (५.८.६) है और यही यु में स्वर्भानु की माया को नष्ट करनेवाली 'सूर्यस्य.... चक्षुः' (५.४०.८) भी है।

७) चतुर्थ मण्डल में जिस ज्ञानाग्नि की चर्चा है उसे सामान्यतः स्पर्शेन्द्रिय कह सकते हैं। यह ज्ञानाग्नि देव का वह अमर्त्य एवं प्रवेतस् रूप है जिसे प्राणरूप अनेक सूक्ष्म 'समन्यवः' देवों ने मर्त्यों में चारों तरफ़ पैदा किया है (आ जनत), और साथ ही उस 'अरति' देव को रति के लिए प्रेरित किया है।[61] पर इसे केवल त्वगिन्द्रिय तक सीमित समझना भूल होगी। संहिता की कल्पना में, यह ज्ञानाग्नि हमारे व्यक्तित्व के कोने कोने और कण कण को स्पर्श करती है। 'आशु चक्र' के समान किसी ओर सक्रिय होने में उसे देर नहीं लगती (४.१.३)। इसलिए मानव-व्यक्तित्व में जहां जो भी 'जात' (उत्पन्न) होता है उसे तुरन्त जान लेनेवाला वह 'जातवेदस्' (४.१.२०) है।

मण्डल के प्रथम सूक्त (मन्त्र ७) में उसके जिन 'तीन परम स्पृहणीय सत्यों' का उल्लेख है उन्हीं को अंतिम सूक्त में क्रमशः इन्द्र, सूर्य एवं वेन से संबद्ध (मन्त्र ४) बताया गया है। पर इन तीन व्यक्त रूपों के अतिरिक्त एक तुरीय (चतुर्थ) 'गुह्य' अमृतत्व-प्राप्त रूप (मन्त्र १) भी है जिसकी अनुभूति 'हिरण्यय' पुरुष (मन्त्र ५) को ही हो सकती है क्यों कि यह हमारे व्यक्तित्व का वह कोश है जो पवमानसोम- एवं यज्ञ-रूप नानात्व की भी योनि (मन्त्र ९) है। यही अमृतत्व (ज्ञानाग्नि) हमारे उन तीन व्यक्त स्तरों पर प्रकट होता है जिनको वैदिक शब्दावली में **समुद्र** (कारण देह), **हृद्** (सूक्ष्म देह) तथा **आयु** (स्थूल व्यावहारिक जीवन) कहा जाता है।[62]

८) तृतीय मण्डल घ्राणेन्द्रिय के क्षेत्र से सम्बन्धित है। पर उसे केवल बाह्य गंध को ग्रहण करनेवाली स्थूल इंद्रियमात्र मानना पर्याप्त नहीं। पूर्वोक्त जातवेदस् (स्पर्शेन्द्रिय) के समान इस ज्ञानाग्नि के भी तीन व्यक्त रूपों को 'गन्धर्वा''''वायुकेशान्'[63] कहकर इसी मण्डल में याद किया जाता है। गन्धर्व और वायु नामक स्थूल प्रतीकों को एकजुट करके सामान्य घ्राणेन्द्रिय के परिवेश की ओर अवश्य कुछ संकेत किया गया है पर साथ ही यह भी जोड़ दिया गया है कि वे गन्धर्व 'मनसा' दृश्य वा गन्तव्य हैं,[63] न कि स्थूल घ्राणेन्द्रिय द्वारा। इसी दृष्टि से, इस ज्ञानाग्नि को आरंभ में ही सोम के बल (तवस्) को वहन करनेवाला वह्नि (३.१.१) कहा गया है। बल को 'गृत्साय चित् तवसे' कहकर, इस ज्ञानाग्नि को किंचित् लोभ-वृत्ति से भी जोड़ दिया गया यद्यपि इस वृत्ति का सर्वाधिक स्पष्ट रूप, जैसा कि आगे बताया गया है, स्वादेंद्रिय के परिप्रेक्ष्य में मिलता है।

जातवेदस् नामक पूर्वोक्त ज्ञानाग्नि के समान, इसका भी इन तीन 'वायुकेशान्' के अतिरिक्त एक चतुर्थ रूप भी है जिसका सुस्पष्ट वर्णन मण्डल के उपसंहार-सूक्त (३.६२) में मिलता है। इसी सूक्त में प्रसिद्ध गायत्र मंत्र (ऋक् १०) का भी समावेश है। इसमें प्रयुक्त 'तत् सवितुर् वरेण्यम्' वस्तुतः इसी ज्ञानाग्नि के तुरीय रूप के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसी के लिए, एक दूसरे मंत्र में 'शश्वत्तमम्' विशेषण (ऋक् २) का प्रयोग है। इसी को 'बृहस्पतिं वरेण्यम्' (मन्त्र ६) भी कहा गया है।

९) दूसरे मण्डल के ज्ञानाग्नि में स्वादेन्द्रिय को उसके बृहत्तम रूप में समाविष्ट किया गया है। सामान्यतः स्थूल रसना में स्वादेन्द्रिय का वास माना जाता है। पर वास्तव में यह शब्द **स्व+अद्** से बना है। स्व का अदन ही 'स्वाद' है। अतः अपने व्यापक रूप में यह भी एक प्रकार की स्वानुभूति है। जब प्राण-रूप 'विश्वे देवाः' को इस अग्नि में हवि का अदन'[64] करते हुए कहा जाता है तो **अद्** धातु को ऐसे ही व्यापक अर्थ में समझना पड़ेगा। इस अग्नि को जब अदिति कहा जाता है तो भी संभवतः उसकी निष्पत्ति **अद्** धातु[65] से अभिप्रेत है। इसी अदन की ओर संकेत करने के लिए, इस ज्ञानाग्नि को आदित्यों का मुख एवं जिह्वा भी बताया गया है।[66] **अद्** धातु से सम्बन्धित लोभवृत्ति की ओर

६१ ऋ ४.१.१

६२ अन्तः समुद्रे हृद्य अन्तर् आयुषि। ऋ ४.५८.११

६३ अपश्यम् अत्र मनसा जगन्वान्, व्रते गन्धर्वा अपि वायु-केशान्। वही, ३.३८.६

६४ ऋ २.१.१४ ६५ तुलनीय, वही, २.१.११

६६ त्वाम् अग्न ! आदित्यास आस्यं, त्वां जिह्वा शुचयश चक्रिरे कवे ! वही, २.१.१३

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

संकेत करने के लिए इस मण्डल का ऋषि-नाम गृत्स-मद है। इसका 'गृत्स' वही पूर्वोक्त गृत्स है जिसे घ्राणेन्द्रिय के संबन्ध में ऊपर देख चुके हैं। पर गृध्रवृत्ति में 'मद' अनुभव करनेवाली इस मण्डल की दृष्टि केवल स्थूल भोगों तक सीमित नहीं है। यद्यपि इस ज्ञानाग्नि को मण्डल के अन्तिम सूक्त में शकुन्त रूप में कल्पित करके और उसको उद्गाता, ब्रह्मपुत्र एवं वृषा सदृश बोलनेवाला मानकर[67] उसके तीन रूप स्वीकार किए गए हैं पर अपने तुरीय रूप में यह चुपचाप बैठकर केवल 'सुमति'[68] की अनुभूति करता है।

इस प्रकार, संक्षेप में ऋग्वेद-संहिता का अर्थवाद यहां प्रस्तुत किया गया। यद्यपि सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इसी प्रसंग में और भी अनेक उल्लेखनीय बातें हैं पर विस्तार-भय से इतना पर्याप्त समझा गया। इसी प्रकार, अथर्ववेद-संहिता के विषय में भी विचार करना अपेक्षित है।

अथर्ववेद-संहिता का अर्थवाद : अथर्ववेद का विषय विज्ञान-काण्ड है जो ऋग्वेद के ज्ञान-काण्ड से किञ्चित् भिन्न है। जब कि ज्ञान-काण्ड मुख्यतः मनोमय से प्रसूत होनेवाली त्रिविधता से संबन्ध रखता है और अतिमानसिक स्तर की ओर केवल संक्षेप में संकेत करता चलता है, अथर्ववेद का क्षेत्र मुख्यतः अतिमानसिक एवं मानसिक स्तरों के योग को बतलाना है। इस दृष्टि से **विज्ञान** शब्द सामान्यतः यहां अतिमानसिक विशेष ज्ञान का बोधक है और मानसिक विविध ज्ञान का भी। विशेष ज्ञान की दृष्टि से इसका नाम ब्रह्मवेद वा अथर्ववेद है, तो विविध ज्ञान की दृष्टि से इसे अथर्वाङ्गिरस कहा जाता है. जहां 'अथर्वा' अतिमानसिक ज्ञान की अर्वाक् गति का सूचक है, तो 'आंगिरस' विविध अंगों की शक्तियों (रसों) से सम्बन्धित विविधता की ओर संकेत करता है।

अथर्ववेद की ऋग्वेद से इस भिन्नता की ओर संकेत करने के लिए, सर्वप्रथम उसके काण्डों की संख्या ऋग्वेद से दूनी रखी गई है। इस संख्या का आधार मानव-व्यक्तित्व का वह रूप है जिसे हाथों और पैरों की अंगुलियों के परिप्रेक्ष्य में विशः पुरुषः[69] कहा जाता है। इस पर भी ऊर्ध्वबाहु होकर खड़ा होने पर पुरुष का जो आयाम बनता है वह इस **विज्ञान** के क्षेत्र का द्योतक है।[70] कल्पना यह थी कि **विज्ञान** के निमित्त मनुष्य के व्यवहार-क्षेत्र का वह बल (वीर्य) भी आता है जिस तक उसके हाथ-पांव की उंगलियों की पहुंच है। दूसरे शब्दों में, मानव-व्यक्तित्व के वैयक्तिक एवं अति-वैयक्तिक पक्ष के स्थूलतम (सामाजिक) स्तर से लेकर अतिमानसिक स्तर के उच्चतम बिन्दु तक उसकी परिधि है। अथर्ववेद-संहिता नामक ग्रन्थ जिस पुरुष-संहिता का प्रतीक हुआ उसकी यह एक मोटी सी रूपरेखा है।

संहिता के सभी काण्डों का विवेचन यहां सम्भव नहीं है। फिर भी उसके आदि और अन्त को ध्यान में रखकर कुछ कहना आवश्यक है। प्रथम काण्ड अथर्ववेद-संहिता के पूर्वोक्त आधार को प्रस्तावित करता है, सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि।' वेद के श्रुत शब्द में पूर्वोक्त 'श्रव' के अतिरिक्त आन्तरिक 'श्रुति' का भी समावेश है। इन्द्रियों के माध्यम से मन, मानो, बाह्य जगत् की मांगों का श्रवण करके 'श्रवस्' का आयात करता है, तो अतिमानसिक आदेश को श्रवण करके उसको 'श्रुति' (अन्तरात्मा की आवाज़) से समवेत करता है। श्रवस् और श्रुति के योग से विज्ञान का विकास होता रहता है। 'सं श्रुतेन गमेमहि' द्वारा इस संकल्प को लेकर अथर्ववेद आरंभ होता है। विज्ञान के दोनों पक्षों को धनुष[71] के दो सिरों के समान एकजुट करके, श्रुत को अपने में ही रखने का यही संकल्प १९वें कांड के उपसंहार-सूक्त में फलित होता दिखाई

६७ वही, २.४३.२ ६८ वही, २.४३.३

६९ विंशो वै पुरुषो दश हस्त्या अंगुलयो दश पाद्याः। तैसं ७.३.९.२। तां २३.१४.५ भी।

७० यावान् पुरुष ऊर्ध्वबाहुस् तावान् भवत्य एतावद् वै पुरुषे वीर्यम्। तैसं ५.२.५.१। मैसं ३.२.४ भी तुलनीय।

७१ तुलनीय, इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया। वाचस् पतिर् नि यच्छतु मय्य एवास्तु मयि श्रुतम्। अ १.१.३

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

पड़ता है। 'जिस कोश से मैं वेद का उद्धार करता हूँ उसी के भीतर इसे स्थापित कर देता हूँ' (१९.७२.१). इन शब्दों में 'मय्य एवास्तु मयि श्रुतम्' की पूर्ति स्पष्ट है। इससे जो विज्ञान-वृद्धि निरन्तर होती रहती है उसके द्वारा जीव-रूप वत्स के लिए महान् इन्द्र (ब्रह्म) अपने ओज के साथ वृष्टिमान् पर्जन्य के समान सब प्रकार से वृद्धिकारक बन जाता है, **महाँ इन्द्रो य ओजसा, पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव। स्तोमैर् वत्सस्य वावृधे।** (अ २०.१३८.१)। इस प्रकार अथर्व-संहिता का विज्ञान श्रवस् और श्रुति के समन्वय द्वारा व्यवहार और परमार्थ, दोनों को साधता है। इसी की पुनरुक्ति योगवाशिष्ठ ने निम्नलिखित श्लोक में की है,

उभाभ्याम् एव पक्षाभ्यां, यथा खे पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्माभ्यां जायते परमं पदम्।

यजुर्वेद-संहिता का अर्थवाद : अतः यजुर्वेद-संहिता के अध्यायों की संख्या अथर्ववेद से दुगुनी, अर्थात् ४० है, क्यों कि वह अथर्ववेद के विज्ञान को एक कर्मविज्ञान में परिणत करके उसको द्विगुणित कर रहा है। प्रथम अध्याय के प्रथम मंत्र में **वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण** द्वारा यह लक्ष्य प्रस्तावित हुआ है। अन्तिम अध्याय में पुनः **कुर्वन्न एवेह् कर्माणि जिजीविषेच् छतं समाः** द्वारा कर्म करते हुए ही जीने का दृढ़ संकल्प व्यक्त हुआ है। पर साथ ही वह उपाय भी संकेतित है जिससे मनुष्य कर्मों से निर्लिप्त रहता है, **एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति, न कर्म लिप्यते नरे।** इस प्रकार, यजुर्वेद ज्ञान और कर्म, विद्या और अविद्या, संभूति और असंभूति के बीच सामंजस्य पैदा करनेवाली संहिता है।

चलते चलते, यजुर्वेद ने इस सामञ्जस्य का उद्देश्य भी बतला दिया है। इस उद्देश्य का नाम अन्यत्र आदित्य-बोध है। पर यहां इसी को हिरण्मय पात्र से आच्छन्न सत्य कहा गया है और साथ ही उसकी व्याख्या भी जोड़ दी है, **योसाऽ आदित्ये पुरुषः सोसाऽ अहम्,** अर्थात्, हिरण्मय कोश का ब्रह्मात्म-सायुज्य प्राप्त जो आदित्य नामक पुरुष है वही वस्तुतः मैं कर्मभूमि में अवतीर्ण होनेवाला पुरुष हूँ। इस सत्य को भूलकर स्थूल कर्मभूमि में निरत 'आयु' नामक स्थूल पुरुष को ही मनुष्य समझना अज्ञान है। आधुनिक भौतिकवाद की यही भूल है। वैयक्तिक और अवैयक्तिक, मानसिक और अतिमानसिक मानव की एकता का जो सिद्धांत अथर्ववेद का विज्ञान है वही व्यावहारिक स्तर पर आकर किस प्रकार कर्मविज्ञान का रूप ग्रहण करता है, यह यजुर्वेद-संहिता का विषय है। इस कर्म-विज्ञान को हृदयङ्गम करने से ही, पुरुष के दोनों स्तरों की एकता की अनुभूति के साथ साथ हिरण्मय (आनन्दमय) कोश में उस ब्रह्मात्म-सायुज्य की प्राप्ति होती है जिसका पारिभाषिक नाम 'उपासना' है।

सामवेद-संहिता का अर्थवाद : उपासना-काण्ड सामवेद का विषय है। मूलतः **उपासना** का अर्थ पुरुष के वैयक्तिक और अवैयक्तिक, मानसिक और अतिमानसिक स्तरों का निकट आना है। इसे वेद की भाषा में 'पूर्व' (प्राचीन) तथा 'उत्तर' (उच्चतर) का मिलन कह सकते हैं। इसके परिणामस्वरूप ब्रह्मात्म-सायुज्य का आदित्य-बोध करानेवाली उपासना भी हो जाती है।

इसी दृष्टि से, सामवेद के पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक नाम से दो भाग किए गए हैं। पूर्वार्चिक मानव के पूर्व-व्यक्तित्व का प्रतीक है जिसे लेकर मानव जन्मता है और पशु के समान बाह्य व्यवहार में लगा रहता है। आहार, निद्रा, भय और मैथुन, आदि में सीमित, उसके इस व्यक्तित्व के अतिरिक्त, एक उच्चतर व्यक्तित्व भी है। उसका प्रतीक सामवेद का उत्तरार्चिक भाग है। यह अतिमानसिक स्तर पर छिपा हुआ है जो शनैः शनैः अव्यक्त से स्वतः व्यक्त होता है। पर उपासना-विज्ञान व्यक्तीकरण की इस प्रक्रिया में वेग ला सकता है, गुणात्मक वृद्धि कर सकता है। यही उपासना-काण्ड है जो सामवेद का विषय है।

मानव के पूर्व और उत्तर पक्ष में क्रमशः अग्नि और सोम तत्त्व की प्रधानता है। दोनों ज्योतिर्मय माने गए हैं। अतः दोनों की अर्चियां हैं। उन्हीं अर्चियों की ओर संकेत करते हुए, सामवेद के प्रथम भाग को **पूर्वार्चिक,** तो दूसरे को **उत्तरार्चिक** नाम दिया गया है। अत एव प्रथम का आरंभ अग्नि-मंत्रों से होता है और द्वितीय का सोम-मंत्रों से।

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

अग्नि और सोम वस्तुतः एक ही तत्त्व के दो ध्रुव हैं। यह ध्रुवीकरण हमारे व्यक्तित्व के मनोमय से लेकर अन्नमय कोश तक व्यक्त और व्याकृत है। पर विज्ञानमय स्तर पर यह अव्याकृत होकर अव्यक्त होने लगता है, जब कि हिरण्मय (आनन्दमय) कोश में बिलकुल समाप्त हो जाता है। इसके समाप्त होने पर, अग्नि और सोम केवल सत्य इन्दु में परिणत होकर 'सत्य इन्द्र' से अभिन्न हो जाते हैं, **सश्चइ देवो देवं, सत्य इन्दुः सत्यम् इन्द्रम्** (सा ८६८)। इसी का नाम उपासना है जिसकी ओर सामवेद के इस अन्तिम मंत्र में संकेत है। इसी ओर अन्यत्र **इन्द्रायेन्दो परि स्रव** टेक संकेत करती है। इन्दु तथा इन्द्र के इसी सम्बन्ध को बतलाने के लिए इंदु+द्रु से भी इन्द्र शब्द को निष्पन्न[72] किया जाने लगा।

सत्य इन्द्र और सत्य इन्दु के अविनाभाव सम्बन्ध को समझने और दोनों के अद्वैत सम्बन्ध को अनुभव करने के लिए, यह हृदयङ्गम होना आवश्यक है कि धर्म और सूर्य, मन्यु और मन, इन्द्र और इन्द्रिय, तथा अर्क और अश्वमेध के द्वन्द्व में उसी इन्द्र का ध्रुवीकरण हो रहा है।[73] इसी दृष्टि से, उपासना-काण्ड (सामवेद) पूर्वार्चिक एवं उत्तरार्चिक में विभक्त किया गया है, और इस प्रकार सामवेद-संहिता को मानव-व्यक्तित्व के आधारभूत ध्रुवीकरण का प्रतीक बनाकर पुनः अद्वैत सम्बन्ध की ओर संकेत किया गया है।

इसके साथ ही, सामवेद को उस **साम** नामक शांति और आनन्द की अनुभूति का भी प्रतीक बनाना अभीष्ट समझा गया जिसे सब वेदों का रस[74] कहा गया है। यही मानव-व्यक्तित्व (पुरुष) का वह 'साम' रूप है जो जो छन्दोगा का उपास्य है, '(तमेतं पुरुषं) सामोत छन्दोगा (उपासते), एतस्मिन् हीदं सर्वं समानम्' (माश १०.५.२.२०)। इसी का प्रतीक बनाने के लिए सामवेद को गेय बनाया गया क्यों कि संगीत द्वारा वह अनुभूति सुलभ हो जाती है।

अर्थवाद-योजना

चारों संहिताओं का उपर्युक्त परिचय उनमें निहित प्रतीकवाद का केवल सतही परिचय देता है। प्रत्येक संहिता का विस्तार के साथ अध्ययन करने पर, इसकी पुष्टि में अनेक प्रमाण मिलते हैं। इनमें से कुछ की ओर अन्यत्र लेखों में संकेत किया भी जा चुका है। यहां कुछ ऐसी विशेष प्रवृत्तियों का संक्षेप में उल्लेख करना आवश्यक है जो, अर्थवाद-योजना को सफल बनाने के लिए, वैदिक साहित्य और भाषा में आई हैं। इनको समझे बिना, वेदार्थ करने में वैसी ही भूल होती रही है जैसी किसी संहिता को एक सामान्य संग्रह मानने से हुई है।

पद-पाठ और संहिता-पाठ: ऐसी ही कुछ प्रवृत्तियां संहिता-पाठ और पद-पाठ की तुलना से सामने आती हैं। सामान्यतः यही समझा जाता है कि संहिता-पाठ की संधि-योजना एक सर्वथा अनावश्यक प्रवृत्ति है और पद-पाठ में पदच्छेद द्वारा उसको बोधगम्य बनाया जाता है। यह पूर्ण सत्य नहीं है। मानव-व्यक्तित्व की संहिता के 'परः संनिकर्षः' (सर्वोच्च सायुज्य) के सादृश्य को लाने के लिए संहिता-पाठ में सन्धि अनिवार्य हो जाती है। इस संनिकर्ष के कारण जिस प्रकार मानव-व्यक्तित्व के विभिन्न अंग अपना स्वतंत्र स्वरूप छोड़ परस्पर संहित होकर एक पूर्ण इकाई में आत्मसात् कर लिए जाते हैं उस प्रकार इस संनिकर्ष के प्रतीक-रूप संहिता-पाठ के अंगभूत सब पदों को अपना स्वरूप-परिवर्तन करना आवश्यक है।

इस प्रकार होनेवाले उच्चारण-परिवर्तन और स्वर-परिवर्तन सुपरिचित हैं। **कुर्वन्, एव** और **इह** के मिलने से **कुर्वन्न एवेह**, और **जिजीविषेत्** तथा **शतं** की संधि से **जिजीविषेच्छतम्** होने में जो उच्चारण बदलता है, और पद-पाठ में संधि-विच्छेद द्वारा विभिन्न पदों का स्वरूप-ज्ञान होता है वह सर्वविदित है। अनुदात्त से उदात्त और स्वरित का होना भी, निस्संदेह, उच्चारण-भेद को जन्म देता है। पर इस प्रकार के परिवर्तनों में कभी कभी शब्दों का अर्थ-परिवर्तन भी हो जाता है। ऐसे अनेक परिवर्तनों को वेद के विद्यार्थी जानते हैं। पर निम्न लिखित उदाहरण

---

७२ तुलनीय, निरु १०.८

७३ इदं वा इन्द्रस्य धर्मश्च सूर्यश्च, इदम् अस्य मन्युश्च मनश्च, इदम् अस्य इन्द्रश्च इंद्रियं च, इदम् अर्कश्चाश्वमेधश्च, एतानि सर्वाणीन्द्रोभवत्। मैसं २.२.६

७४ सर्वेषां वा एष वेदानां रसो यत् साम। माश १२.८.३.२३; गो २.५.७

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

में जो उकार का स्वरूप-परिवर्तन हुआ है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है,

य उ त्रिधातु पृथिवीम् उत द्याम्, एको दाधार भुवनानि विश्वा । ऋ १.१५४.४

यहां जो स्वरित उ-कार है वह पद-पाठ में अनुदात्त ऊँ लिखा जाता है । पद-पाठ से संहिता-पाठ में आने पर, इसका जो, स्वर-भेद एवं उच्चारण-भेद के साथ साथ, म-कार का लोप होता है वह तो स्पष्ट ही है । पर क्या अर्थ-परिवर्तन भी नहीं हुआ ? इस प्रश्न पर विद्वान् चुप रहेंगे क्यों कि वे उ-कार को केवल पाद-पूरक मानते हैं । पर प्रस्तुत लेखक इससे सहमत नहीं है । अकेले ऋग्वेद में यह शब्द लगभग एक हजार बार प्रयुक्त हुआ है । कई स्थानों पर वह 'लोकम्' का समानाधिकरण सा लगता है, तो अन्य कई स्थानों पर त्रिधा-तु, आदि शब्दों से जुड़ा हुआ है । उदाहरण के लिए, निम्नलिखित मंत्र में 'ऊँ लोकम्' का विशेषण 'उरु' है,

आन्यं दिवो मातरिश्वा जभारामथ्नाद् अन्यं परि श्येनो अद्रेः ।
अग्नीषोमा ब्रह्मणा वावृधानोरुं यज्ञाय चक्रथुर् उ लोकम् ।
ऋ १.९३.६

यहां मातरिश्वा द्वारा अग्नि और सोम को लाने का प्रसंग है । ये दोनों सयुक्त रूप से यज्ञार्थ **ऊँ लोकम्** को **उरु**[75] करते हैं । एक दूसरे मंत्र (२.३०.६) में इन्द्र-सोम की जोड़ी इस त्रस्त जगत् (अस्मिन् भयस्थे) में 'ऊँ लोकम्' बनाने-वाले समझे गए हैं । अन्यत्र (ऋ ३.२.९) वैश्वानर अग्नि को तीन समिधाओं में से एक को तो मर्त्य लोक में 'भुजम्' बनाया जाता है और दो 'ऊँ लोकम्' को गई जो उनका संबन्धी (जामिम्) भी कहा गया है । एक अन्य मंत्र (ऋ ४.१७.१७) में 'ऊं लोकम्' के साथ 'ईम्'[76] पद भी जुड़ा है जिसे भी, 'ऊम्' के समान, विद्वानों ने पादपूरक ही समझ रखा है, यद्यपि वह अकेले ऋग्वेद में कम से कम २०० बार प्रयुक्त हुआ है । ऊँ लोकम् सुखकर (स्योनम्) है जिसको अग्नि (ऋ ५.४.११) वा इन्द्र (ऋ ६.२३.३; ७) बनाता वा उरु करता है । यही वह 'उरुं लोकम्' है जिसे 'स्वर्वज् ज्योतिर् अभयं स्वस्ति' कहा जाता है और जिस तक इन्द्र हमें ले जाने में समर्थ (ऋ ६.४७.८) है । इस ऊँ लोकम् का आविर्भाव अहंकार-रूप वृत्र के वध[77] के पश्चात् ऋ ६.७०.२) ही संभव है । इसी लिए, इसी प्रसंग में, यज्ञार्थ प्रादुर्भूत उषा, सूर्य, अग्नि और अहः (ऋ ७.९९.४; ६.७०.२) के साथ ही 'उरुं ऊँ लोकम्' का भी उल्लेख मिलता है । दिन (अहः) के लिए ज्योति और 'ऊँ लोकम्' को आविर्भूत करके, सोम मनु की रक्षा (९.९२.५) करता है ।

अहंकार-रूप वृत्र का वध और अज्ञान-रूप अन्ध-कार का नाश वस्तुतः यम-नियम-संयम की जीवन-धारा का परिणाम है । संयम-युक्त देही और देह के प्रतीक यम-यमी के 'ऊँ लोकम्' में आसीन होने के फलस्वरूप हम उसी 'इंदु' के अधिकारी (ऋ १०.१३.२) होते हैं जिसे हमने सामवेद-संहिता के प्रसंग में सत्य इन्द्र से अभिन्न हिरण्यय कोश की वस्तु पाया । यही निस्संदेह यम द्वारा प्रदत्त अवसान वा पितृलोक (ऋ १०.१४.९) कहलाता है । वह पुण्यात्माओं (सुकृताम्) का 'ऊँ लोकम्' (ऋ १०.१६.४) है जिसे आविर्भूत करके इन्द्र आबद्ध को मुक्त (ऋ १०.१३.७) करता है । पर क्यों कि इस लोक को पाने के बाद ही 'इंदु' के हिरण्यय कोश को प्राप्त करने का अधिकार मिलता है इसलिए 'ऊँ लोकम्' को हिरण्यय कोश (आनन्दमय) से नीचे विज्ञानमय अथ वा उरु अंतरिक्ष समझना चाहिए ।

सामवेदी पद-पाठ और वेदार्थ : पद-पाठ से सम्बन्धित एक अन्य प्रवृत्ति मुख्यतः सामवेद के पाठ में पाई जाती है ।[78] इस पद-पाठ में, अनेक पदों को अन्यों की अपेक्षा अधिक तोड़ा गया है । उदाहरणार्थ,

---

७५ उरु विशेषण का प्रयोग ऊँम् लोकम् के साथ प्रायः पाया जाता है (ऋ ६.२३.७; ७.३३.५; ६०.९; ८४.२; ९९.४; १०.१८०.३); इसे उरु अंतरिक्ष, उरु ज्योति, आदि के समान ज्योतिर्मय स्थान बताया जाता है जिसकी तुलना उरुक्रम विष्णु द्वारा प्रादुर्भूत, 'ऊँ त्रिधातु' (वही, १.१५४.४) से की जा सकती है ।

७६ इस ईम् से युक्त जन को ईवान् कहा जाता है । तुलनीय, जनाय चिद् ईवत उ लोकं (वही, ६.७३.२) जहां वह 'ऊँ लोकम्' से जुड़ा हुआ है ।

७७ आदंयद् वृत्रम् अकृणोद् उ लोकम् । ऋ १०.१०४.१०

७८ इस प्रवृत्ति का उद्घाटन सर्वप्रथम भगवद्दत्त ने किया था । द्रष्टव्य उनका ग्रन्थ, **वैदिक वाङ्मय का इतिहास**, भाग द्वितीय; १९७६; पृ १५९-१६०

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

संहिता-पाठ	पद-पाठ
मित्रम्	मि । त्रम्
अद्य	अ । द्य
सूनृता	सु । नृता
सख्ये	स । ख्ये
अहनी	अ । हनी
श्रद्धा	श्रत् । धा
अघ	अ । घ
चन्द्रमसः	चन्द्र । मसः
समुद्रम्	सम् । उद्रम्
दूरात्	दुः । आत्
स्वस्तये	सु । अस्तये
पुरन्दर	पुरम् । दर
मेध्यातिथे	मेध्य । अतिथे
उस्रियाः	उ । स्रियाः
पुत्रस्य	पुत् । त्रस्य

इस पद-पाठ की छाया यास्कीय 'निरुक्त' की व्याख्याओं में प्राप्त होती है । उदाहरणार्थ,

पद-पाठ	निरुक्त
मि । त्रम्	प्रमीतेस् त्रायते । १०.२१
अ । द्य	अस्मिन् द्यवि । १.६
स । ख्ये	समान-ख्याना । ७.३०
श्रत् । धा	श्रद्धानात् । ६.३०
अ । घ	हन्तेः । निह्रसितोपसर्गः । ६.११
दुः । आत्	दुरयं वा । ३.१९
सु । अस्तये	सु + अस्तीति । ३.२१
उ । स्रियाः	उस्राविणोस्यां भोगाः । १४.१६
पुत् । त्रस्य	पुन् नरकं ततस् त्रायत इति । २.११

इन निर्वचनों में से अन्तिम दो विशेष रूप से विचारणीय है । 'उस्रियाः' में जिस 'उ' का स्रवण माना गया वह, निस्संदेह, 'ऊँ लोकम्'-वाला 'ऊँ' है, जो संहिता-पाठ में 'उ' हो जाता है । अत एव 'निघण्टु' के रश्मि-नामों में परिगणित 'उस्राः' वा 'उस्रियाः' को विज्ञानमय कोश की रश्मियां माना जा सकता है । मैत्रायणी संहिता के अनुसार वे महान् आत्मा वा प्रजापति के तेज का अति-स्रवण धारण करनेवाली किरणें हैं जिनकी कल्पना गायों के रूप में की जाती है ।[79] इसी प्रकार, 'पुत्र' के निर्वचन में 'पुमान्' शब्द के मूल 'पुम्' को नरक अर्थ में ग्रहण करके उससे त्राण करनेवाले को पुत्र कहना कोरे अंध विश्वास पर आश्रित नहीं है । वेद में **पूः** और **पुम्** से क्रमशः 'पुरुष' एवं 'पुमान्' शब्द बनते हैं । इनमें से, द्वितीय को मानव-व्यक्तित्व की अधोगति के प्रतीक-रूप में स्वीकार करने पर, उसके मन, प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, हाथ, गुदा, शिश्न और पैरों के रूप में दश नरक[80] बन जाते हैं । इसके विपरीत, प्रथम (पूः) उसी की ऊर्ध्व गति का प्रतीक है जिसमें ये दश स्वर्ग[81] बन जाते हैं । इस अधोगति से पुरुष को ऊपर उठानेवाला कोई हाड़-मांस का पुत्र नहीं अपि तु पूर्वोक्त इन्द्र है जिसके जन्म के परिणामस्वरूप पाप-मूल वृत्र का वध होता है, और सूर्य, उषा, आदि की ज्योति द्वारा मानवजीवन में वह स्वर्ग उतर आता है जिसे अंतर्हित ज्योतिर्मण्डित हिरण्यय कोश कहा गया है,

अष्टचक्रा नवद्वारा, देवानां पूर् अयोध्या ।
तस्यां हिरण्यः कोशः, स्वर्गो ज्योतिषावृतः ।

अ १०.२ ३२; तैआ १.२७.२-३

इस बात को वेदों में अनेक तरह से व्यक्त किया जाता है । जब दिन (अहः) के लिए, ज्योति और 'ऊँ लोकम्' को आविर्भूत करके, सोम मनु की रक्षा करता है (ऋ ९.९२.५), तो पूर्वोक्त हिरण्यय कोश की ज्योति के अवतरण द्वारा उक्त नरक में पड़े पुमान् (मनु) की रक्षा ही अभिप्रेत है । हिरण्ययकोशीय ज्योति का अवतरण

---

७९ ततो यद् (रेतः) अत्य अस्रवत् तद् बृहस्पतिर् उपागृहणात् तद् आसां (गवां) उस्रियात्वम् । मै ४.२.१२

८० मनो नरको, वाङ् नरकः, प्राणो नरकश्, चक्षुर् नरकश्, श्रोत्रं नरको, हस्तौ नरको, गुदं नरकश्, शिश्नं नरकः, पादौ नरकः । जैउ ४.११.५.१

८१ दश पुरुषे स्वर्गनरकाणि तान्य एनं स्वर्गं गतानि स्वर्गं गमयन्ति, नरकं गतानि नरकं गमयन्ति ।

जैउ ४.११.४.६

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

ही इन्द्र-जन्म है जो मनु को 'मन्यु' में परिणत करके उसे वृत्र-वध, आदि के लिए किस प्रकार सक्षम करता है, इसका सुन्दर चित्र ऋग्वेद के दो मन्यु-सूक्तों (१०.८३; ८४) में मिलता है। इन सूक्तों में मन्यु के भी दो रूप हैं। एक मन्यु **तापस** नाम से उस पुमान् का प्रतीक है जो इन्द्र-जन्म अथ वा सोम-प्राप्ति (जो वस्तुतः एक साथ होते हैं) के लिए तप करनेवाला मनु है। दूसरा, **मन्यु** उस पुरुष का प्रतीक है जो तप के फलस्वरूप अपने में इन्द्र-जन्म एवं सोम-सवन को आत्मसात् करके पहले का रक्षक होता है। दोनों सूक्तों का, पहला मन्यु ऋषि है, तो दूसरा देवता है।

प्रतीकवाद और वैदिक संस्कृत

इस प्रकार की अर्थवादी प्रवृत्तियों ने वैदिक भाषा को लौकिक संस्कृत से सर्वथा भिन्न बना दिया है। यह भेद जिन रूपों में मिलता है उन सबका विस्तृत विवेचन तो संभव नहीं पर कुछ का निर्देश करना आवश्यक है।

अर्थवादी प्रवृत्ति का एक परिणाम यह है कि आध्यात्मिक अथ वा मनोवैज्ञानिक चर्चा में भौतिक प्रतीकों की भरमार हो गई है। 'निरुक्त' की भाषा में इन प्रतीकों को 'महान् आत्मा' के **भूत-नामधेयानि** कहा जाता है। 'निरुक्त' (१४.११) में इस प्रकार के जो अनेक नाम सूचीबद्ध हैं उनमें 'निघण्टु' के ४ यज्ञनाम, ४२ जलनाम और १५ अंतरिक्षनाम शामिल हैं। इनके अतिरिक्त महान् आत्मा की शक्ति का नाम 'वाक्', स्वयं मूलतः भौतिक वाणी का द्योतक होने से, एक प्रतीक है। पर 'निघण्टु' में वाङ्नामों में **धारा, गौ, धेनुः, सुपर्णी, नौः**, आदि जैसे शब्द स्पष्टतः भौतिक जगत् की वस्तुएं वा जीव हैं। ये सब वाक् के स्थूल अन्नमय कोश से लेकर सूक्ष्मतम स्तर तक के विभिन्न रूपों को बतलाने के लिए वेदमंत्रों के विभिन्न रूपकों में प्रयुक्त हुए हैं।

ऐसा ही एक **व्रीहि-यवौ** नामक दो अन्नवाचक शब्दों का द्वन्द्व है। **व्रीहि** का अर्थ शुद्ध चावल है जिसमें भूसी नहीं होती। **यव** हिन्दी का जौ है जिसको भूसी से अलग करना पड़ता है। यव ऊपर से एक लगता है पर भूसी उतरने पर द्वैतपरक इकाई प्रकट होती है—गेहूँ के दाने की तरह एक होता हुआ भी द्वैत की रेखा से युक्त। मानव-व्यक्तित्व अन्नमय से मनोमय तक अपने अंग अंग में यही यवत्व भूसी में छिपाए हुए है। पर विज्ञानमय में वही भूसी छोड़ देता है और हिरण्मय कोश में शुद्ध व्रीहि में परिणत होकर स्वच्छ अद्वैत-मात्र रह जाता है। इस प्रकार, पूरा मानव-व्यक्तित्व व्रीहि-यवौ है, मनोमय से अन्नमय तक अनेक यवों की एक आवृत समष्टि है। विज्ञानमय में आवरणहीन यव (द्वैतपरक इकाई) है, तो हिरण्मय कोश में शुद्ध अद्वैत व्रीहि है। इस प्रतीक को समझे बिना क्या **यव** और **व्रीहि** शब्दों का अलग अलग अथ वा समस्त पद के रूप में होनेवाले वैदिक प्रयोग सम्यक् रूप से बोधगम्य हो सकते हैं?

एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। अथर्ववेद ६.९१ में अष्टायोगों और षड्योगों द्वारा एक यव के कर्षण का उल्लेख है। इसके परिणामस्वरूप, वात, सूर्य तथा अघन्या के दुग्ध की गति अवरोहक्रम (न्यक्) ग्रहण करती है और आपः रोगनाशक हो जाते हैं। यदि योगों के स्थान पर हल-कुदाली की बात होती तो शायद जौ को कृषि का रूपक समझा जा सकता था। पर उसके फलस्वरूप होनेवाले अन्य सभी कार्यों की संगति फिर भी कैसे बैठ सकती थी? इसी प्रकार परमेष्ठी प्रजापति को जब अन्य अनेक वस्तुओं के साथ साथ यवों और अयवों का भाग भी कहा जाता है[82] तो जौ और ग़ैर-जौ से क्या काम चलेगा? इसी लिए जैमिनीय ब्राह्मण को स्पष्ट कहना पड़ा कि व्रीहि-यवौ कोई अन्न नहीं अपि तु प्रजापति द्वारा आत्मा में निहित कोई तत्त्व है।[83] शतपथ[84]-ब्राह्मण के अनुसार इस तत्त्व का पारिभाषिक नाम मेध' है जिसके अनेक विभिन्न रूप मानव-व्यक्तित्व में पशु, अश्व, गौ, अवि और अज कहे जाते हैं। व्रीहि, यव, अश्व, गौ, अज और अवि, कुल छह कामदुघा (जै १.१८१) कहलाते हैं।

इस प्रकार, प्रतीकवाद की भरमार के कारण, लौकिक शब्दों का अर्थ वेद में आने से बिलकुल बदल जाता है। इस प्रसंग में आए हुए **पशु, अश्व, गौ, अवि** और **अज** शब्द विशेष उल्लेखनीय हैं। पुरुष-सूक्त में जब ये पुरुष से

---

८२ य १४.२६

८३ व्रीहि-यवौ ह वाव स (प्रजापतिः) तद् आत्मन् दधे। जै २.२२८

८४ माश १.२ ३.६; ७

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

उत्पन्न हुए माने जाते हैं तो बिना प्रतीकवाद स्वीकार किए उन्हें समझना असंभव है।[85]

चुटकुलों, आख्यानों का प्रयोग : प्रतीकों की व्याख्या के लिए, 'ब्राह्मणों' में कुछ आख्यानों, चुटकुलों और दृष्टान्तों का प्रयोग किया गया है। उनमें से बहुत से 'बृहद्देवता', 'निरुक्त', आदि में भी मिलते हैं। ये केवल व्याख्यान के निमित्त कुछ चुटकुले-मात्र हैं। आज भी ऐसे चुटकुले प्रयुक्त होते हैं। एक सज्जन ने कहा, 'नेता वह जो कभी 'ना' नहीं कहता।' इस व्युत्पत्ति से आधुनिक नेता का झूठे सच्चे वायदे करके जनता को प्रसन्न करनेवाला रूप उजागर होता है। इसी प्रकार, एक कॉलेज के कुछ मनचले छात्रों ने एक 'फ़ॉर्टनाइट क्लब' चलाया। फ़ॉर्टनाइट का अर्थ पखवाड़ा होता है। पर इसके सदस्यों ने एक नया अर्थ 'फोर्ट (किले) की रात (नाइट)' भी कर रखा था और तदनुसार वे रात को शराब पीकर शाही रंगरेलियां मनाते थे।

इसी प्रकार के चुटकुले 'ब्राह्मण'-ग्रन्थों में शब्दों की व्याख्या करते हैं। इनकी प्रायः टेक होती है, 'इति परोक्षेण, परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः', अर्थात्, वास्तविक बात को प्रत्यक्ष न कहकर परोक्ष रूप में ऐसा कहा जाता है क्यों कि देव प्रत्यक्ष से द्वेष करते हैं। यह कोई सार्वभौम सत्य की घोषणा कदापि नहीं, जैसा कि कुछ लोग समझने लगे हैं। यह व्याख्या को मनोरंजक बनाने-मात्र के लिए है।

उदाहरण लीजिए। 'देहान्त' अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले **मृत्यु** शब्द को जब एक नया अर्थ देने की आवश्यकता पड़ी तो कहा गया, 'स समुद्राद् अमुच्यत स मुच्युर् अभवत् तं वा एतं मुच्युं सन्तं मृत्युर् इत्य् आचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः।' गो १.१.७ 'परोक्षप्रिय'-वाली टेक तभी प्रयुक्त होती है जब, शब्द के प्रकृति-प्रत्यय को छोड़कर, किसी अन्य प्रकार से उसे नया अर्थ दिया जाता है। जब प्रकृति-प्रत्यय-सम्बन्ध तनिक भी ध्वनित होता है तो इसकी आवश्यकता नहीं समझी जाती, यथा,

१ प्राण एव स पुरि शेत इति पुरिशयं सन्तं पुरुषम् इत्य् आचक्षते। गो १.१.३९

२ स यत् पूर्वोस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मन ओषत् तस्मात् पुरुषः। माश १४.४.२.२

व्यक्तिमूलक जातिवाचक शब्द : दार्शनिक आवश्यकता के साथ साथ इस आख्यानप्रियता ने अनेक व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को जन्म दिया। साथ ही उन व्यक्ति-नामों का बहुवचनान्त प्रयोग करके उन्हें जातिवाचक बनाया गया। गोतम से गोतमाः, वृत्र से वृत्राणि, वसिष्ठ से वसिष्ठाः, भरत से भरताः, मनु से मनवः, आयु से आयवः तथा द्रुह्यु से द्रुह्यवः ऐसी ही संज्ञाएं हैं। अपत्यवाचक प्रत्यय द्वारा भी यही काम हुआ है, यथा, विश्वामित्र से वैश्वामित्राः, यद्यपि 'विश्वामित्राः' रूप भी चला है। इनको प्रायः ऐतिहासिक पुरुष समझ लिया जाता है। पर जब विश्वानरः से वैश्वानराः, अग्निः से अग्नयः, सोमः से सोमाः वा सौम्याः, आदि होता है तो संदेह होता है कि यह कहीं एकता से अनेकता और अनेकता में एकता दिखाने का यत्न तो नहीं है। इसकी पुष्टि तब होती है जब ऋषयः में एकर्षि की कल्पना होती है, और गोतम एकर्षि से अर्वाक् और पराक् भेद से दो ऋषि-धाराएं चलती हैं अथ वा कश्यप से गरुडों और नागों की, और प्रजापति से देवों और असुरों की दो भिन्न जातियों की कल्पना होती है।

बहुत से लोग ऋषियों, देवों, आदि को ऐतिहासिक जाति वा व्यक्ति मानते हैं। पर इनकी ऐतिहासिकता के विरुद्ध प्रतीकात्मकता के संकेत स्पष्ट रूप से मिलते हैं। अगस्त्य और वसिष्ठ का कुंभ से और मित्रावरुणौ के संयुक्त वीर्य से पैदा होना, भृगु का भुने हुए रेतस् से, अंगिरसों का अंगारों अथ वा अंगों के रसों से संबद्ध होना, एक ही व्यक्ति का एक मातृ-समूह से उपजना, गर्भस्थ इन्द्र का बात-चीत करना अथ वा वामदेव का मनु, सूर्य, कक्षीवान्, कुत्स, आर्जुनेय, आदि अनेक रूप ग्रहण करने का दावा करना, ऐसी बेतुकी बातें प्रतीकवाद में ही तर्क-संगत हो सकती हैं। अतः इनमें इतिहास ढूंढना बड़ी भारी ग़लती है। हां, ये सब शाश्वत अध्यात्म से संबन्धित हैं। अतः इन्हें सनातन इतिहास की संज्ञाएं भले

८५ देखिए, फतहसिंह-कृत 'पुरुष-सूक्त की व्याख्या', 'वेद-सविता', सितम्बर, '८१, दिसम्बर, '८१

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

ही कहा जा सकता है।

मानव-व्यक्तित्व और वैदिक भाषा : वास्तव में, ये सब आख्यान, आदि उसी मानव-व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखते हैं जिसे हम 'व्रीहि-यवौ' के प्रसंग में देख चुके हैं। यव की भूसी वृत्र है। इसे दूर करने के लिए हिरण्यय कोश के व्रीहि से संपर्क होना आवश्यक है। ज्यों ज्यों यह संपर्क बढ़ता जाता है व्रीहि का अवतरण होता जाता है और शनैः शनैः मानव-व्यक्तित्व के विभिन्न तत्त्व वृत्र के आवरण (भूसी) से रहित होकर शुद्ध यव बनते हैं। जिनका यह सस्कार नही हो पाता वे 'अ-यव' कहे जाते हैं। इस प्रकार, मानव-व्यक्तित्व के दो भाग हो जाते हैं, शुद्ध और अशुद्ध, यव और अ-यव। इन दो के सन्दर्भ से व्यक्तित्व की विभिन्न शक्तियों और सृष्टियों को दो प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है, जैसे,

यव	अ-यव
देवाः	देवासः
जनाः	जनासः
योगैः	योगेभिः
देवैः	देवेभिः
वैश्वामित्राः	विश्वामित्राः
भारताः	भरताः
प्रजाः	जाः
हिरण्यय	हिरण्य
मनु	मनुः

विद्वानों ने इन द्विविध शब्द-रूपों को देखकर, वैदिक भाषा के दो विकास-स्तरों की कल्पना कर ली। इससे वे प्रतीकवादी शैली को समझने में असमर्थ रहे। इसी प्रकार, तीन लिङ्गों, तीन पुरुषों, तीन वचनों तथा लेट्, आदि विशेषताएं भी वैदिक भाषा को प्रतीकवाद की देन हैं जिनमें से कुछ लौकिक संस्कृत में भी आ गई। विस्तार-भय से इन सबका विवेचन नहीं किया जा रहा है।

प्रतीकवाद के फलस्वरूप, अनेक नए शब्दों की सृष्टि हुई है। 'उस्राः' और 'पुत्र' के निर्वचनों से यह बात भली भांति स्पष्ट हो जाती है कि पद-पाठ में इन शब्दों को इस प्रकार तोड़ना तथा यास्क द्वारा उनकी व्याख्या करना किस प्रकार तर्कसंगत सिद्ध होता है। पुरुष (मानव-व्यक्तित्व) के भीतर ही स्वर्ग और नरक, ज्योति और अंधकार, देव और असुर द्वन्द्वों को स्वीकार करके वस्तुतः उसी पूर्वोक्त कल्पना की पुनरुक्ति की गई जिसमें, एक अन्य दृष्टि से, धर्म और सूर्य, मन्यु और मन, इन्द्र और इन्द्रिय, अर्क और अश्वमेध को इन्द्र के ही दो भाग माना गया है। पर उसमें यह विशेषता है कि इसमें प्रयुक्त धर्म और सूर्य सामान्यतः बाह्य जगत् के पदार्थों के द्योतक होते हैं, अर्क और अश्वमेध कर्मकाण्ड से सम्बन्ध रखते हैं और, साथ ही, मन्यु और मन मनोवैज्ञानिक क्षेत्र के हैं। तीन विभिन्न क्षेत्रों के शब्दों को एक ही इन्द्र वा पुरुष की संहिता में एकत्र करने की प्रवृत्ति के पीछे एक सुव्यवस्थित तर्क है, न कि कोई अंध विश्वास। इस तर्क का एक पक्ष 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' का आश्रय लेता है और तदनुसार भौतिक जगत् के पदार्थ आन्तरिक तथ्यों के प्रतीक बन जाते हैं, जैसे, आत्मा को सूर्य और उसकी शक्ति को धर्म कहना। दूसरा पक्ष यह है कि वह आत्मा ही मानव-व्यक्तित्व का मन्यु (अहंबुद्धि) और मन होकर सारे कार्यकलाप का चालक है। तीसरे पक्ष में, मानव की आंतरिक और बाह्य, वैयक्तिक और अतिवैयक्तिक अभिव्यक्तियों को मूर्तिमान् करने हेतु क्रमशः अर्क एवं अश्वमेध नामक यज्ञों की कल्पना की गई है।

इस प्रकार, त्रिपक्षीय तर्क पर आधारित प्रतीकवाद अत्यन्त जटिल होते हुए भी अत्यन्त सुनियोजित और व्यापक है। इसके परिणामस्वरूप, किसी एक क्षेत्र से आया हुआ शब्द सब क्षेत्रों की वस्तुओं का बोधक हो सकता है। उदाहरण के लिए, **आपः** शब्द को ले लीजिए। आज सामान्यतः इसका अर्थ भौतिक जल है जिसे हम पीते हैं। पर वस्तुतः यह उसी धातु से आया है जिससे कर्मवाचक **अपः**। पर जहां कर्मवाचक 'अपः' का प्रयोग तीनों वचनों में होता है, वहां 'आपः' सदा बहुवचन में प्रयुक्त होता है और वह आद्या सृष्टि[86] का नाम है जो सप्त आपः होकर तीन स्तरों पर इस प्रकार पाई जाती है,

१ अहंबुद्धि, मन और पञ्च प्राण,
२ अहंबुद्धि, मन और पञ्च ज्ञानेंद्रियां,
३ अहंबुद्धि, मन और पञ्च कर्मेन्द्रियां।

इन्हीं आपः को ऋ १०.७५, आदि में 'सप्त-सप्त त्रिधा'

---

८६ देखिए, फतहसिंह, मानवता को वेदों की देन, पृ २३

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

कहा जाता है। इन्हीं तीन क्षेत्रों में से किसी न किसी का आश्रय लेकर सप्त आपः के समान वेद में सप्त ऋषयः, सप्त सिन्धवः, आदि अनेक रूप मिलते हैं। सप्तमानुषः, सप्तरश्मिः, सप्तमातरम्, सप्तशीर्ष, सप्तचक्र, सप्तास्य, सप्तपुत्रम्, आदि अनेक समस्त पद भी मिलते हैं जिनको प्रतीकवाद के आधार पर ही तर्कसंगत रूप में समझा जा सकता है।

पुरुष-संहिता (मानव-व्यक्तित्व) की इकाई की जब जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाओं की कल्पना की गई, अथ वा अन्य आधार पर उसको पंचविध, षड्विध, सप्तविध, अष्टविध, आदि रूपों में विभक्त किया गया तो उसके आधार पर भी अनेक शब्दों की सृष्टि हुई जिन्हें प्रतीकवाद के आधार पर ही समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए, ओम् = अ + उ + म्

प्रणव = प्र + नव
प्रउग = प्र + उ + ग
अहम् = अ + ह + म्
अह = अ + ह
ह = अह — अ
नाक = न + अक
अक = अ + क
मन्म = मनु + नमः
क = अक — क

इसी प्रकार, कुछ शब्द प्रतिच्छाया वा प्रतिबिम्ब, आदि की कल्पना को प्रकट करने के लिए वर्ण-विपर्यय द्वारा बने हैं, देवः > वेदः, वेदस्

यमः > मयः
ओम् > मो
मनः > नमः
ऋ > ऋक्
अहन् > महः

इसी प्रकार के अनेक शब्द प्रतीकवादी योजना के अन्तर्गत निष्पन्न किए गए है। इन सबको केवल प्रकृति-प्रत्यय के आधार पर पूरी तरह नहीं समझा जा सकता।

वेद-प्रतिपाद्य और प्रतीक-शैली

भूत-नामधेय कहे जानेवाले जिन भौतिक प्रतीकों का आश्रय लेकर **महान् आत्मा** का वर्णन वेदों में हुआ है उनका उल्लेख निघंटु और निरुक्त में हो चुका है। निघण्टु और निरुक्त द्वारा समर्थित ये प्रतीक ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों को तो पहले से ही मान्य हैं। प्रश्न यह है कि क्या आधुनिक विद्वानों ने ब्राह्मणादि ग्रन्थों की इस परम्परा को अस्वीकार करने से पहले, इन भौतिक प्रतीकों की व्याख्या **महान् आत्मा** के संदर्भ में करने का कोई यत्न किया ? यदि नहीं, तो प्रतीकवाद को अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं बनता। पाश्चात्य विद्वानों की इस ओर उपेक्षा देखते हुए, डॉ आनन्द के. कुमारस्वामी ने, अपनी **ए न्यू अप्रोच टु दी वेदाज** में आश्चर्य प्रकट किया है कि जब वे **दान्ते** की **डिवाइन कमेडी** जैसे काव्यों में ही नहीं अपि तु स्वयं **बाइबिल** में ही ख़ासा प्रतीकवाद देखते हैं तो उन्हें वैदिक प्रतीकों को स्वीकार करने में क्यों कठिनाई होती है।

वास्तव में, बात यह है कि जिस रोमन-यूनानी विरासत को आधार मानकर योरोपीय नव जागरण ने आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान की वह प्लैटो के समय में ही यूनानी देवताओं के प्रतीकवादी अर्थ को सर्वथा भूल चुकी थी। प्लैटो ने स्पष्ट लिखा है कि इन देवताओं की मूर्तियों का क्या अभिप्राय है इसको बतलाने के लिए हमारे वर्तमान ग्रन्थों से कोई सूत्र हमें नहीं प्राप्त होता। हमारे देश में भी तो यही हुआ। संतोष की बात यह है कि **विष्णुधर्मोत्तर**-पुराणादि अनेक ग्रन्थों में देव-विग्रहों का जो विवेचन मिलता है उससे स्पष्ट हो जाता है कि इनका आकार-प्रकार किसी 'विशेष अर्थ को ग्रहण' करने के कारण **विग्रह** कहलाता है। पर इस विशेष अर्थ को भूल जाने पर वे, निस्संदेह, एक निरर्थक प्रतिमा, एक मनोरंजक कलाकृति अथ वा अंध विश्वास का आश्रय-मात्र रह जाती हैं।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि **महान् आत्मा** के पूर्वोक्त वैदिक **भूत-नामधेयों** की प्रामाणिकता को अन्तःसाक्ष्य के आधार पर सिद्ध किया जाए।

वेद की वह अनिर्वचनीय परम सत्ता, जिसे 'अनिरुक्त'[87] **कः** (कौन), देवनामों का **नामधा एक एव** तथा **संप्रश्न** कहा जाता[88] है, वेद-संहिताओं में बारम्बार अनेक ढंग से वर्णित है। ब्राह्मणीय कर्मकाण्ड में, इसी

८७ अनिरुक्तो वै प्रजापतिः। ऐआ १.२.३; काठ १४.१०

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

अनिरुक्त परम तत्त्व को कभी **अपरिमित**[89] कभी **परोक्ष**[90] और कभी **यद् अनिरुक्तं तेन वैश्वदेवं**[91] कहकर इंगित किया गया, तो कभी **सर्व वानिरुक्तं**[92] अथ वा **अनिरुक्तम् उ वै प्राजापत्यं**[93] कहकर। इसी **अनिरुक्त** परोक्ष को निरुक्त करने अथ वा व्याख्यात करने के लिए वेदमंत्रों में कभी नानारूपात्मक प्रत्यक्षीभूत सृष्टि की एक वृक्ष के रूप में कल्पना की गई और उसकी सब अनेकताओं (शाखाओं प्रशाखाओं, आदि) को उसी में अन्तर्हित एक **महद् यक्ष** में केन्द्रित (अ १०.२३.४; ४.३८) पाया गया, तो कभी स्पष्ट कहा गया कि नानारूपात्मक सृष्टि के परिप्रेक्ष्य में हम जिन नामों से उस परम सत्य का वर्णन करते हैं वह वस्तुतः एकं **सत्** (ऋ १.१६४.४५) है। प्रतीकवाद का आश्रय लेकर इस एकं **सत्** को एक ऐसा **सुपर्ण** माना गया जो अपनी नानारूपात्मक अभिव्यक्तियों के कारण अनेक ढंग से कल्पित होता है; **सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिर्, एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।** (ऋ १०.११४.५)। पर आधुनिक विद्वानों का कहना है कि यह तो ऋग्वेद के केवल प्रथम और दशम मण्डल की बात है जो तब जोड़े गए थे जब आदिम मानव ने अपने बहुदेववाद में एकेश्वरवाद की झलक पाना आरंभ कर दिया था।

वास्तविकता यह है कि अनेकता में केन्द्रस्थ एकता की दृष्टि समस्त वैदिक साहित्य की मूलभूत विशेषता है और वह सर्वत्र ओत प्रोत है। ऋग्वेद के प्रथम और अंतिम मण्डल को यदि छोड़ भी दें, तो भी उसके दूसरे से नवम मण्डल तक, सर्वत्र यह दृष्टि प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए, इन मण्डलों में से प्रत्येक से निम्न लिखित स्थल विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं,

१ ऋ २.२४.१२ का **विश्वं सत्यम्**।

२ ऋ ३.१.१४ का **अनन्त उरु स्व** में स्थित अग्नि।

३ ऋ ४.१.७ का 'अनन्त में सर्वत्र व्याप्त कोई शुचि शुल्क' जिसके तीन परम जन्म हैं।

४ ऋ ५.९.४ का वह अग्नि जिसके रूपांतर मित्र, वरुण, इंद्र, आदि देव हैं।

५ ऋ ६.९.४ की वह **अमृत ज्योति** जो सब मर्त्यों में विराजमान है।

६ ऋ ७.१.५ का वह नित्य अग्नि जिसके रूपांतरों को अनेक **अग्नयः** कहा जाता है।

७ ऋ ८.५८.२ जिसमें न केवल एक ही मूल तत्त्व स्वीकार किया गया है अपि तु यह भी स्पष्टतः स्वीकार किया गया है कि उषा, सूर्य, आदि प्रतीकों द्वारा वर्णित अनेकता में अनुस्यूत एकता का प्रतिपादन वैदिक शास्त्र का लक्ष्य है। पूरा मंत्र इस प्रकार है,

एक एवाग्निर् बहु-धा समिद्ध,
एकः सूर्यो विश्वम् अनु प्र-भूतः।
एकैवोषाः सर्वम् इदं विभात्य,
एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्।

८ ऋ ९.९६.५ जहां सोम को न केवल द्यावा-पृथिवी का अपि तु अग्नि, सूर्य, इन्द्र और विष्णु का जनक बताया गया है।

सोमः पवते जनिता मतीनां,
जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः।
जनिताग्नेर् जनिता सूर्यस्य,
जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः।

ऋ ९.९५.२ में सोम को ऐसा देव कहा गया है जिसमें सब देवों के नाम गुह्य रहते हैं और फिर प्रकट होते हैं।

सच बात तो यह है कि **वैदिक साहित्य का प्रतीकवाद इतना जटिल और संकेत-संकुल है कि उसका शाब्दिक अनुवाद सर्वथा असंभव है।** यही कारण है कि आधुनिक विद्वानों द्वारा प्रस्तुत अनुवादों से निराशा ही हाथ लगी है। डॉ आनन्द के. कुमारस्वामी का कथन है कि 'वैदिक ग्रन्थों के अनुवाद वर्तमान निर्वचनशास्त्र की दृष्टि से कितने ही युक्तियुक्त क्यों न हों पर वे न तो समझ में आने योग्य हैं और न विश्वास के योग्य। यह बात कभी कभी तो स्वयं अनुवादकों ने भी स्वीकार की है।'

---

८८ ऋ १०.८२.६

८९ अपरिमितं वानिरुक्तम्। माश ५.४.४.१३

९० छन्ना इव हि परोक्षम्, अनिरुक्ता इव देवाः प्रजाः पृष्ठ्योवथानि। जै २.३७४

९१ जै १.१३८; १४२ ९२ माश १.३.५.१०

९३ जै २.२२

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

उपनिषदों के अनुवाद के सन्दर्भ में अपनी निराशा व्यक्त करते हुए, प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक यूंग ने भी लिखा है कि 'उपनिषदों के विचारों की जो अत्यन्त असाधारण गम्भीरता तथा आश्चर्यजनक मनोवैज्ञानिक सत्यता है उसको ठीक ठीक आँक सकना अभी तक एक सुदूर भविष्य की संभावना है।

अत एव वेदों को बोधगम्य बनाने के लिए शाब्दिक अनुवाद अपर्याप्त ही नहीं, भ्रामक भी सिद्ध होता है। उदाहरण के लिए, जब **पुरुषः सहस्राक्षः** का अनुवाद 'हजार नेत्रों वाला आदमी' किया जाता है अथ वा अथर्ववेदीय उच्छिष्ट-सूक्त[94] में उच्छिष्ट का अर्थ 'जूठन' तथा ओदन-सूक्त[95] में **ओदन** का अनुवाद 'भात' किया जाता है तो उसमें समाहित होनेवाली द्यावा-पृथिवी, समुद्र, आदि समस्त नामरूपात्मक सृष्टि की अप्रासंगिकता पर हंसी आए बिना नहीं रह सकती। अत एव शब्द-निर्वचन के आधार पर शाब्दिक अर्थ, विशेषकर, पारिभाषिक शब्दों वा प्रतीकों को समझाने में सर्वथा निरर्थक होता है।

वास्तव में, वेद के अधिकांश प्रतीक और पारिभाषिक शब्द ऐसे हैं जिनको शब्दनिर्वचन के आधार पर समझ सकना असंभव है। उदाहरण के लिए **गायत्री** शब्द को ले लीजिए। सामान्यतः यह एक वैदिक छन्द का नाम है। पर जो गायत्री वेदमाता कही जाती है और जो छन्द ही नहीं, कभी कभी किसी वेदमंत्र की देवता भी बन जाती है, वह श्येन बनकर स्वर्ग से सोम लाती है, संगीत की सृष्टि करती है और **गय** नामक प्राणों का विस्तार करती है। क्या यह अक्षरपरिमाणात्मक छन्द द्वारा सम्भव है ?

इस **गायत्री** शब्द का अर्थान्वाख्यान करने के लिए, यास्क ने **गायतेः स्तुतिकर्मणः, त्रिगमना वा विपरीता** (निरु ७.१२) कहा है। यहां, और ऐसे ही अन्य प्रयोगों में **वा** शब्द समुच्चयार्थक है, विकल्पबोधक नहीं। इसलिए **गायतेः** को छोड़कर विपरीता तक के सब शब्द गायत्री की व्याख्या करते हैं। इनमें से कोई भी गायत्री का प्रकृति-प्रत्ययमूलक निर्वचन प्रस्तुत नहीं करता। यदि केवल शब्दनिर्वचन यहाँ अभिप्रेत होता तो एक ही निर्वचन पर्याप्त था पर उससे गायत्री के पूर्वोक्त विविधतामय स्वरूप का अर्थान्वाख्यान नहीं हो पाता। वस्तुतः निरुक्त जब कभी कोई प्रकृति-प्रत्ययमूलक निर्वचन देता भी है तो भी उसका प्रयोजन अर्थान्वाख्यान ही होता है क्यों कि निरुक्त का मूल विषय अर्थपरीक्षा है, न कि व्याकरण के समान शब्दपरीक्षा। **त्रिगमना** शब्द से अवश्य यह भ्रम हो सकता है कि **गायत्री** की व्युत्पत्ति 'गम्+त्री' से अभिप्रेत है। पर वास्तव में गायत्री के संदर्भ में प्रयुक्त **स्तुतिकर्मणः, त्रिगमना** और **विपरीता** शब्दों का प्रयोग किसी शब्द-निर्वचन के लिए नहीं है अपि तु वे गायत्री के प्रतीकार्थ की ओर संकेत करने के लिए ही आए हैं।

वेदों में गायत्री एक छन्द का नाम ही नहीं है अपि तु वह आत्मा की एक ऐसी शक्ति है जो आनन्दमयकोश-रूप द्यौ से लेकर सूक्ष्मदेह-रूप अन्तरिक्ष और स्थूलदेह-रूप पृथिवी तक रहती है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण देह को पार करने के कारण वह **त्रिगमना** है। गायत्री छन्द के तीन पाद भी इस त्रिविधतामय क्षेत्र की ओर संकेत करते हैं। अत एव गायत्री छन्द का वहीं प्रयोग होता है जहाँ इस क्षेत्र की ओर संकेत होता है। आनन्दमय कोश से वापिस लौटती हुई वह **विपरीता** कहलाती है। उसकी इस उभय[96] गति को जब **अग्निष्टोम-युगल** संज्ञा दी गई तो वे दोनों गतियां उस गायत्री-श्येन के दो पक्ष हो गईं जिसे **ज्योतिष्पक्षा**[97] आत्मा कहा गया।

गायत्री की ऊर्ध्व गति को 'प्रस्तुति' और अधोगति को 'स्तुति' कहते हैं। प्रस्तुत होने पर गायत्री (गायत्र्यां प्रस्तुतायाम्) का प्राण के द्वारा वायु (एकाग्र चित्त) के साथ संधान होता (संदध्यात्) है।[98] इसके फलस्वरूप **शुचिपा**[99] वायु (शुद्ध चित्त) आनन्दमय कोश का सोम प्राप्त करता है। गायत्री की यह गति उसे, सोम के लिए

९४ अथर्ववेद ११.७ ९५ वही, ११.३

९६ प्रेति च एति च गायत्र्यै रूपम्। जै १.२७०

९७ याव अग्निष्टोमौ ते ज्योतिषी, येष्टा अन्तर् उक्थ्या आत्मैषा गायत्री ज्योतिष्पक्षा। काठ ३४.८

९८ गायत्र्यां प्रस्तुतायां प्राणेन वायुं संदध्यात्। जै १.२७०

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

स्वर्ग (आनन्दमय कोश) की यात्रा करनेवाला, **श्येन**[100] बना देती है। इसके विपरीत, स्तुति (नीचे अवतरण) की अवस्था में गायत्री **विपरीता** कहलाती है। तब वह सोम की सौम्यात का वितरण मानव-व्यक्तित्व के विभिन्न स्तरों पर करती हुई अन्नमय कोश तक आती है जिसके परिणामस्वरूप एक शांति-संगीत सर्वत्र छा जाता है। इस दृष्टि से गायत्री को गानेवाली[101] गायिका के रूप में कल्पित किया जाता है। इस प्रकार, 'गायतः स्तुति-कर्मणः' के रूप में निरुक्त का निर्वचन शब्द और अर्थ, दोनों की दृष्टि से सार्थक हो जाता है।

वस्तुतः प्रस्तुति और स्तुति, आरोह और अवरोह गायत्री का स्वभाव[96] है। प्रस्तुता (ऊर्ध्वगता) गायत्री जिस सोम को आनन्दमय कोश से लाती है वही तो ब्रह्म का वीर्य वा वेद[102] है जिसके द्वारा सभी 'इष्ट कर्म' का संपादन होता है। अत एव सोमोद्धार करनेवाली गायत्री 'स्तुता वेदमाता'[103] भी कही जाती है। वेदमाता के अवरोह से मानव-व्यक्तित्व में 'गय' नामक प्राणों का विस्तार और विकास होता है। इस प्रकार, गय प्राणों के प्रसंग से भी उसका नाम गायत्री हो जाता है, प्राणा वै गयास् तत् प्राणांस् तत्रे.....तस्माद् गायत्री नाम। माश १४.८.१५.७

इसी तरह, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों में अनेक अर्थपरक निर्वचन प्राप्त होते हैं जिनके द्वारा वैदिक प्रतीकों के विभिन्न अर्थों को प्रकट किया जाता है। इसी व्याख्यान-प्रक्रिया को उपस्थित करनेवाला वेदाङ्ग यास्क का 'निरुक्त' है। यदि इस प्रकार की अर्थपरक व्युत्पत्तियों को छोड़ दिया जाए तो, निरसंदेह, ऐसे निर्वचन 'निरुक्त' में बहुत थोड़े ही रह जाते हैं जिन्हें, डॉ सिद्धेश्वर वर्मा के शब्दों में, सार्थक (अर्थात्, प्रकृति-प्रत्ययमूलक) कहा जा सकता है। पर अन्य निर्वचन भी अर्थ की दृष्टि से कितने सार्थक हैं, यह बात गायत्री-विषयक उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है।

वेदार्थ के संदर्भ-सूत्र

इस प्रकार, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों पर आधारित 'निरुक्त' के अर्थान्वाख्यान की इस प्राचीन परिपाटी पर प्राचीन भाष्यकारों की भी दृष्टि गई थी पर वे उसका उपयोग किसी तर्कसिद्ध सुसंगत वेदव्याख्या के लिए नहीं कर सके। यदि उन्होंने भी वैदिक प्रतीकवाद की व्याख्या में प्रयुक्त ब्राह्मणीय अर्थान्वाख्यान, समीकरण, आदि को समझने का यत्न किया होता तो उनके आधार पर चलनेवाले मॉक्स म्युलर-संप्रदाय का अथक परिश्रम भी अत्यधिक फलदायी हो सकता था।

अतीत में जो नहीं हो पाया वा बुरा हो गया उसके लिए किसी को दोषी ठहराना व्यर्थ है। अपनी अपनी परिस्थिति, योग्यता और सामर्थ्य के अनुसार, सभी ने परिश्रम किया। पर दुर्भाग्यवश वेदार्थ करने की जो पद्धति 'ब्राह्मण'-ग्रन्थों से आरम्भ हुई और जिसे किसी सीमा तक यास्क ने सुरक्षित रखा उसको समझने के सूत्र चिर काल से लुप्त हो चुके थे। सायण ने कम से कम ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के और तैत्तिरीयसंहिता के भाष्य में ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, निरुक्त, व्याकरण, बृहद्देवता, आदि से लेकर वेदार्थ के लिए यथासंभव सभी उपयोगी सामग्री एकत्र कर दी। पर उसका यथार्थ उपयोग वेदार्थ में नहीं हो पाया। सायण की भी अपनी सीमाएं थीं। उनमें रहते हुए उसने प्रयत्न किया भी। पर कार्य की गुरुता और गंभीरता के सामने उसकी क्षमता को घुटने टेकने पड़े। उदाहरण के लिए, अश्वबामीय सूक्त (ऋ १.१६४) के प्रथम मंत्र के भाष्य को ले लीजिए। वहाँ सायण ने अर्थवाद

---

९९ **शुचिपा** विशेषण का प्रयोग ऋग्वेद में या तो वायु के लिए अथ वा इन्द्रावायू नामक देवताद्वन्द्व के लिए होता है (ऋ ७.९०.२; ९१.४; ९२.१; १००.२), क्यों कि इन्द्रावायू शुद्धचित्तयुक्त जीवात्मा का द्योतक है। वायु=एकाग्रचित्त। द्रष्टव्य, लेखक-कृत पुरुष-सूक्त की व्याख्या में वायव्य पशुओं का प्रसंग।

१०० तृतीयस्यां दिवि सोम आसीत्, तं गायत्री श्येनो भूत्वाहरत्। मै ४.१.१

१०१ सा.....अगायत् तस्माद् इयं गायत्री। माश ६.१.१.१५

१०२ अ १९.७२। तुलनीय, अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः। ऋ १.१६४.३५

१०३ स्तुता मया वरदा वेदमाता। अ १९.७१

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

के भीतर प्रवेश करने का यत्न किया है। पर साथ ही उसको यह भी लिखना पड़ा कि 'यद्यपि इसी प्रकार का अर्थ आगे भी किया जा सकता है पर 'स्वरस' के अभाव और 'ग्रन्थविस्तार के भय' से ऐसा नहीं किया जा रहा है।'

ऋषि, देवता और छन्द का नाम प्रत्येक वैदिक मंत्र से जुड़ा हुआ माना जाता है। **बृहद्देवता** के अनुसार, ये तीन ही नहीं अपि तु योग का भी मंत्रों से सबन्ध है और जो कोई वेदमंत्र का अध्यापन वा जप इन चारों को बिना जाने करने लगता है वह पापी होता है,

अविदित्वा ऋषिं छन्दो, दैवतं योगम् एव च।
योध्यापयेज् जपेद् वापि, पापीयाञ् जायते तु सः।

सायण ने अपनी ऋग्वेदभाष्यभूमिका में इसे उद्धृत किया है। अन्य भाष्यकारों ने भी इस श्लोक में निहित सत्य को प्रायः स्वीकार किया है। वेङ्कटमाधव ने ऋग्वेद के प्रथम मंत्र की व्याख्या करते हुए स्पष्ट लिखा है, 'अर्थज्ञाने ऋषिज्ञानं भूयिष्ठमुपकारकम्।' अर्थ करने में देवता का तो प्रायः सभी उपयोग मानते ही है। स्कन्दस्वामी[104] ही एक ऐसे भाष्यकार हैं जिन्होंने यह कहने का साहस किया कि वेदव्याख्या में मैं केवल ऋषि और देवता का उल्लेख करूँगा क्यों कि उनका उपयोग है पर छन्द का उल्लेख नहीं करूँगा क्यों कि उसका वेदार्थ में कोई उपयोग नहीं। अन्य भाष्यकारों ने छन्द की उपयोगिता मानी भी है तो केवल 'पादावसान-विज्ञान' मात्र में।[105] योग के स्थान पर तो सामान्यतः विनियोग[106] की ही मान्यता रही।

---

१०४ तत्रार्षदैवतयोर् अर्थावबोध उपयुज्यमानत्वात् ते दर्शयिष्येते न छन्दोनुपयुज्यमानत्वात्। स्कन्द-भाष्य, ऋ १.१.१ पर।

१०५ पादावसानविज्ञानं छन्दोज्ञानेन सिध्यति। पारुच्छेपादिषु ज्ञेयम् अतश् छन्दश् च यत्नतः॥ वेंकटमाधव, ऋ-भा १.१.१

१०६ विनियोगपरिज्ञानाद् यजुषाम् अर्थनिश्चयः। वही

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

प्राण-दृष्टि और योग

वेद नामक ग्रंथों में जिन शब्द-समूहों को **मंत्र** कहा जाता है उनमें मंत्र नामक ज्ञानबल छिपा हुआ होता है। उसको प्रकट कर देने का नाम ही वेदार्थ है। मूलतः, मंत्र नामक ज्ञानबल मन की मनन नामक ऊर्ध्व गति का परिणाम होता है—**मननात् मंत्रः**। यह उर्ध्व गति उस कृ नामक शक्ति की अर्वाग् गति से भिन्न होती है जो कर्म में प्रकट होकर **यजुः** कहलाती है। अतः कृ के वर्ण-विपर्यय द्वारा प्राप्त ऋक् संज्ञा भी इसी मंत्र नामक ज्ञानबल की है। इसी लिए, ऋक् को ऊर्क्,[1] अर्थात्, 'ऊर्ध्व कृ'-जन्य ज्ञानबल कहा गया। ऊर्ध्व गति वा 'ऊर्ध्व कृ' से युक्त मन अंततोगत्वा 'अक्षरं ऊर्ध्वं मनः'[2] कहलाता है। यह अविनाशी ऊर्ध्व मन वह अतिमानसिक (Supramental) स्तर है जिसको वैदिक भाषा में 'विज्ञान' कहा जाता है। ऊर्ध्व गति ऋक् ही 'साम' नामक समत्व वा समन्वय को जन्म देती है; इसी लिए साम को 'ऋक्-गर्भ'[3] कहा जाता है। ऋक्-साम का जब 'कृ' नामक बहिर्मुखी क्रियाशक्ति से योग होता है तभी वे, 'यजुः' नामक बल बनकर ऋक्-सामरूप हवि और ओज के समन्वय से, शचीपति से संबंधित वेद रूप ग्रहण करते हैं।[4] इसी मनोवैज्ञानिक अर्थ में ऋक्-साम को शचीपति इंद्र के हरी[5] (अश्वद्वय) कहा जाता है जिनके द्वारा इन्द्र कर्म-रूप यज्ञ में झट आजाता है।

मूलतः एक ही मंत्र है जिसे त्रयीविद् ऋषि जानते हैं; वह सज्जनों की 'अमृता श्री' है जो अनेक ऋचः, सामानि और यजूंषि के रूप में प्रकट होती है।[6] यही मूल ऋक् का अविनाशी (अक्षर) परम[7] व्योम है जिसमें सब विश्वे देवाः केन्द्रित होते हैं। यही वह ब्रह्म-वीर्य है जो वेदोद्धार द्वारा हिरण्यय (आनन्दमय) कोश से प्राप्त करके उसी में अन्तर्हित किया जाता है।[8] यह मनन का अंतिम लक्ष्य है जिसे, मूल मंत्र होने से, 'गर्भ' भी कहा जाता है।[9] यह ब्रह्म-वीर्य है, जिसका वाचक 'ओम्' शब्द है और जो ऋक् में ऋक्, यजुः में यजुः, साम में साम, सूत्र में सूत्र, ब्राह्मण में ब्राह्मण, श्लोक में श्लोक और प्रणव में प्रणव हो जाता है।[10]

इस संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि वेद का शब्द-समूह, वस्तुतः, ब्रह्म-वीर्य नामक मनोवैज्ञानिक शक्ति के बोध कराने के कारण मन्त्र कहलाता है और **मन्त्र, ऋक्,** आदि शब्द मूलतः उसी शक्ति के विभिन्न रूपों के नाम हैं। अत एव इन वैदिक शब्द-समूहों (मत्रों) की इस मनोवैज्ञानिक इयत्ता को स्पष्ट करने में ही मन्त्रार्थ वा वेदार्थ प्रकट हो सकता है, अन्यथा नहीं। इस आरंभिक निष्कर्ष के आधार पर, आइए, वेदार्थ के संदर्भ-सूत्रों की खोज करें और देखें कि इस निष्कर्ष की पुष्टि वैदिक ग्रन्थों से कहां तक होती है।

---

१ ऊर्ग् ह वै नामैष। तम् ऋग् इति परोक्षम् आचक्षते। जै ३.३७९

२ मन एवोर्ध्वम् अक्षरम्। गो १.५

३ ऋगसि····सा साम गर्भम् अधत्थाः। मै २.१३.१५। तुलनीय, ऋचि साम गीयते। माश ८.१.३.३; साम वा ऋचः पतिः। माश ८.१.३.५

४ तुलनीय, ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते॥ ऋचं साम यद् अप्राक्षं हविर् ओजो यजुर् बलम्। तस्मान् मा हिंसीद् वेदः पृष्टः शचीपते। अ ७.५६.१-२

५ ऋक्सामे वै हरी। माश ४.४.३.६

६ अहे बुध्निय ! मन्त्रं मे गोपाय यम् ऋषयस् त्रयिविदा विदुः। ऋचः सामानि यजूंषि। सा श्रीर् अमृता सताम्। तै १.२.१.२६

७ ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्, यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। ऋ १.१६४.३९

८ अ १९.७२.१ ९ गर्भो मन्त्रः। मै ४.४.८

१० गो १.२३

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

सृष्टि-विद्या

प्रायः कहा जाता है कि वेद में सृष्टि-विद्या है। सृष्टि को सामान्यतः कृति का पर्यायवाची माना जाता है। कृति का कर्ता होता है जो कुछ उपादान के सहारे कोई वस्तु बनाता है। उसे कर्ता की कृति कहते हैं, जैसे मिट्टी से कुम्भकार द्वारा घट-निर्माण। इस कृति-रूप में सृष्टि को ग्रहण करने से न सांख्य दर्शन की सृष्टि समझी जा सकती है, न वेद की। सृष्टि-विद्या का मूलाधार एक से प्रसूत अनेकता की मनोवैज्ञानिकता है। उसे मानव-व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक विकास के आधार पर समझना होगा। व्यष्टिगत पुरुष की यह सृष्टि ब्रह्माण्ड-सृष्टि का लघु संस्करण है। अत एव भारतीय सृष्टि-विद्या मानव-व्यक्तित्व में होनेवाली सृष्टि से आरंभ होती है। इसके लिए वाह्य—भौतिक प्रतीकों (जैसे, सूर्य, चंद्रादि) का प्रयोग अवश्य होता है पर उन्हें मूलतः मानव-व्यक्तित्व के परिप्रेक्ष्य में देखने की आवश्यकता है। इस प्रकार जो ज्ञान प्राप्त हो उसके आलोक में भौतिक सृष्टि को समझने का प्रयास करना होगा। इस रूप में वैदिक ग्रन्थों के सृष्टि-वर्णन वेदार्थ के अच्छे संदर्भ-सूत्र बन सकते हैं।

गोपथ-ब्राह्मण का सृष्टि-वर्णन

उदाहरण के लिए, गोपथ-ब्राह्मण (१.१.३९) से एक उदाहरण प्रस्तुत है। यह, वस्तुतः, ऋग्वेदादि संहिताओं में प्राप्त सृष्टि-वर्णन की व्याख्या-मात्र है। व्याख्या अर्थवादी आख्यानों और अर्थान्वाख्यानों द्वारा की गई है।

मानव के देशकालातीत स्तर पर एक-मात्र ब्रह्म है। वह अपने को 'महद् यक्षम्' रूप में देखता है, तो एक वैसा ही दूसरा निर्माण करने की इच्छा से तप करता है। इस द्वितीय महद् यक्षं का नाम 'सुवेद' (सुन्दरं वेदनं) है क्यों कि यह आनन्दकर अनुभूति देता है। इसका उद्भव ऐसा सहज और सुखद है जैसे ललाट पर स्वेद। अतः सुवेद को 'स्वेद' कहा गया। यही स्वेद बाद में सब रोम-कूपों से धाराओं के रूप में फूट पड़ा। स्वेद एक से अनेक हो गया। सुवेद बीज है।

अनेकरूपा धारा वस्तुतः व्यष्टिगत पुरुष की प्रकृति वा आह्लादिनी शक्ति है। धारक होने से धाराः, जनक होने से जायाः और आपक वा व्यापक होने से उसी का नाम आपः है। इस मूल प्रकृति के इन त्रिविध रूपों की तुलना सांख्य की प्रकृति के क्रमशः सत्त्व, रजस् तथा तमस् से की जा सकती है। वैदिक साहित्य में इसी प्रथम सृष्टि को प्रायः आपः नामक आद्या[11] सृष्टि माना जाता है। सुवेद आनन्दमय कोश का वेद है जो उद्धरणीय ब्रह्म-वीर्य भी है।[12]

ये आपः शान्त और अशान्त भेद से दो रूप ग्रहण करते हैं। शान्ताः आपः में पड़ा हुआ ब्रह्म-वीर्य भृगु बनता है, तो अशान्ताः आपः में पड़ा रेतस् समुद्र को आवृत कर लेता है। शान्ताः और अशान्ताः आपः की तुलना अघमर्षण-सूक्त (ऋ १०.१९०) की क्रमशः रात्री और समुद्रो अर्णवः से कर सकते हैं। भृगु ही वह वत्स है जिससे युक्त होकर विज्ञानमय पुरुष 'संवत्सर' कहलाता है। (वही,२)

जैसा कि वेद नामक ज्ञान के प्रसंग में, अन्यत्र कहा जा चुका है, विज्ञानमय का एक ऊर्ध्वमुखी शान्त पक्ष है, तो दूसरा अर्वाक् गति की ओर उन्मुख पक्ष। पहले की दृष्टि से, इस स्तर पर, सुवेद 'ब्रह्मवेद' कहलाता है, तो दूसरे की दृष्टि से 'अथर्ववेद'। प्रस्तुत गोपथीय सृष्टिवर्णन में, प्रथम (शान्त) पक्ष के संदर्भ से विज्ञानमय पुरुष को भृगु कहा गया। ऋग्वेद में इसी को चेतन, भृगवाण अग्नि (४.७.२;४) कहा जाता है। गोपथ[14] में भृगु के वायु, मातरिश्वा, पवमान और वात नाम से, चार पक्ष माने गए हैं। पर इस शान्त पक्ष की सृष्टि में अहम् की अनुभूति नहीं होती—न न्व अविदम् अहम् इति (गो १.४)। अतः यह विज्ञानमय का अहंपूर्व पक्ष है, जब कि अथर्ववेद-वाले, अर्वाक् गति से युक्त, विज्ञानमय को अहं-पक्ष कहा जा सकता है। यही अथर्वा प्रजापति है जो मनोमय की नानारूपात्मक सृष्टि करने में सक्षम है (गो १.४)।

मनोमय-सृष्टि से पूर्व, बीस आथर्वण ऋषियों और बीस आथर्वण आर्षेयों के मन्त्रों के रूप में आथर्वण वेद, 'ऊर्ध्वं अक्षरं मनः' (Super-mind) की सृष्टि का उल्लेख

---

११ देखिए, डॉ फतहसिंह-कृत 'मानवता को वेदों की देन' में प्रथम अध्याय।

१२ यस्मात् कोशाद् उद् अभराम वेदं, तस्मिन्न् अन्तर् अव दध्म एनम्। कृतम् इष्टं ब्रह्मणो वीर्येण, तेन मा देवाः तपसावतेह। अ १९.७२.१

१४ गो १.४

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

है। इसी को ओम् नामक महाव्याहृति भी कहा (गो १.५) गया है। यह विज्ञानमय पुरुष का अहंपक्ष है जो मनोमयादि की सृष्टि के लिए तैयार है।

विज्ञानमय कोश के इन दोनों पक्षों को सूचित करने के लिए ही, दो विपरीत त्रिभुजों वाले 'श्री'-यंत्र का प्रयोग होता है जिसमें ऊर्ध्वमुखी त्रिभुज अहंपूर्व पक्ष का द्योतक है और अधोमुखी त्रिभुज अहंपक्ष का :

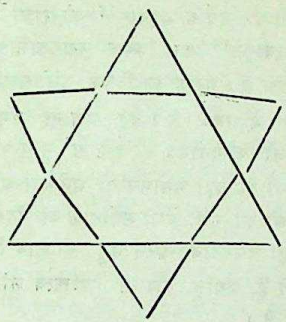

अघमर्षण-सूक्त में प्रथम पक्ष को सत्यं की, तो द्वितीय पक्ष को ऋतम् की प्रवृत्ति कहा गया है। इन दोनों पक्षों के आधार पर ही वेद में द्विमूर्धा आत्व्यं की, तो रोम देश में द्विमुख जनुस देवता की कल्पना हुई है। आनन्दमय (हिरण्मय) कोश में, ये दोनों अभिन्नरूपेण संपृक्त होते हैं जिसकी सूचक एक त्रिभुजाकार दीपशिखा है। विज्ञानमय में, एक पक्ष चिर शांति के लिए, तो दूसरा सतत अशांति (परिवर्तन) के लिए उद्यत है, जब कि मनोमय स्तर पर दोनों पक्ष एक दूसरे से होड़ करते हुए से आँख-मिचौनी का खेल शुरू कर देते हैं। इसी का प्रतीक अघमर्षण-सूक्त (ऋ १०.१९०.२) में 'अहोरात्राणि' है। विज्ञानमय में, ऊर्ध्वमुखी त्रिभुज रात्रि, चन्द्रमा और शान्त आपः का प्रतीक है, तो अधोमुखी त्रिभुज अहन् (दिन), सूर्य और अशान्त आपः का सूचक है। अहंपूर्व सत्यं और अहंपक्षीय ऋतम्, दोनों विज्ञानमय में, समन्वित साम्यावस्था में, होते हैं।

मनोमय स्तर पर, बात तब बदल जाती है जब स्रष्टा नानारूपात्मक सृष्टि को ही अहम् समझने लगता है। इसी भावना का नाम अहंकार है। इसके फलस्वरूप अज्ञानांधकार की महानिशा छा जाती है। यही 'दीर्घं तमः' वृत्र है (ऋ १.३२.१०) जिसको नष्ट करनेवाली दृष्टि अघमर्षण दृष्टि है। वृत्रवध होते ही पूर्वोक्त सूर्याचंद्रमसौ यथापूर्व हो जाते हैं और वृत्र-रूप दीर्घं तमः के कारण मनोमय, प्राणमय एवं अन्नमय कोश-रूप क्रमशः द्यौ, अंतरिक्ष और पृथिवी की जो 'दिव्य स्वः' नामक ज्योति नष्ट हो चुकी थी वह पुनः अस्तित्व में आ जाती है :

सूर्याचन्द्रमसौ धाता, यथापूर्वम् अकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षम् अथो स्वः॥ ऋ १०.१९०.३

इस सृष्टि के लिए, गोपथ के अनुसार, पूर्वोक्त अथर्वा प्रजापति ओम् नामक 'ऊर्ध्वं मनः अक्षरं' की महाव्याहृति उत्पन्न करता है और तत्पश्चात् उक्त तीनों लोकों के साथ साथ अग्नि, वायु और आदित्य तथा उनसे संबंधित ऋक्, यजुः और साम सहित भूः, भुवः एवं स्वः नामक महाव्याहृतियों को प्रादुर्भूत करता (गो १.६) है।

यह वांछित सृष्टि तभी संभव होती है जब अशान्त आपः-रूप समुद्र भगवान् को राजा वरण करते हैं। वरण के कारण उसका नाम **वरुण** होता है। वह समुद्र से मुक्त होता है (अमुच्यत)। अतः उसका नाम **मुच्यु** है। वही **मृत्यु** कहा जाता है। मृत्यु के अंगों से जो रस निकला वह **अंगिरा** कहा गया। अंगिरा से बीस आंगिरस ऋषि और बीस आंगिरस आर्षेय उपजे। इन सबके मंत्रों से आंगिरस वेद बना। आंगिरस वेद से 'जनत्' नामक महाव्याहृति पैदा हुई। तब अंगिरा ने प्राची, प्रतीची, उदीची, ध्रुवा और ऊर्ध्वा दिशाओं को देखा। उनकी सहायता से निम्न लिखित पंच वेदों और उनकी पंच महाव्याहृतियों को उत्पन्न किया :

पंच वेद	पंच महाव्याहृतियां
१ सर्पवेद	वर्धत्
२ पिशाचवेद	करत्
३ असुरवेद	रुहत्
४ इतिहासवेद	महत्
५ पुराणवेद	तत्

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

गोपथ (१.९-१०) के इस वर्णन में आगे, आवत् तथा परावत् (मनोमय के अधोमुखी और ऊर्ध्वमुखी) आपः से शम् नामक' ऊर्ध्व अक्षर' तत्त्व के उद्भव का उल्लेख है। उसी से उक्त 'तत्' नामक महाव्याहृति उपजती है (वही, ११)। तत्पश्चात् वह अपने मन से चन्द्रमा, नखों से नक्षत्र, लोमों से ओषधि-वनस्पतियां, तथा द्रक्षु प्राणों से अन्य अनेक देवों को पैदा करता है और फिर, त्रिवृत्, सप्ततंतु एवं एकविंशति-संस्थ यज्ञ को जन्म (वही, १२) देता है।

शम् सहित उक्त पंच व्याहृतियों के उत्पादन के पश्चात्, ब्रह्म पुष्कर में ब्रह्मा को पैदा करता है जो ओम् नामक एकाक्षर ऋक् को जन्म देता है (वही, १.१६-१७)। ओम् नामक वह एकाक्षर ऋक् ऋक् में ऋक्, यजु में यजु, साम में साम, सूत्र में सूत्र, ब्राह्मण में ब्राह्मण, श्लोक में श्लोक और प्रणव में प्रणव है (वही, २३)।

वेदों और व्याहृतियों का मनोविज्ञान

यह सारा सृष्टि-वर्णन वेदों और व्याहृतियों पर आधारित है। वेद और व्याहृतियां दो प्रकार की हैं जिनको दो प्रकार के आपः (शान्ताः और अशान्ताः) से सम्बद्ध बताया गया है। लोक में **आपः** का अर्थ जल अवश्य है पर वेद में वह प्राण-तत्त्व[15] का नाम है। इसी लिए, ब्राह्मण-ग्रन्थ बार बार (तां ९.९.९.४; तै ३.२.५.२; जैउ ३.२.५.६) 'प्राणा वा आपः' की रट लगाते हैं और, आपः के समान, प्राणों[16] को भी इदं सर्वं को व्याप्त करनेवाला (माश १.१.१.१४; २.१.१.४) कहा जाता है। अथर्ववेद में इसी लिए प्राणों के वर्णन में भी जल-वृष्टि के रूपक का प्रयोग हुआ है, यथा :

यत् प्राण स्तनयित्नुनाभिक्रन्दत्य ओषधीः।
प्र वीयन्ते गर्भान् दधतेथो बह्वीर् वि जायन्ते ॥
यत् प्राण ऋताव आगतेभिक्रन्दत्य ओषधीः।
सर्वं तदा प्र मोदते यत् किं च भूम्याम् अधि ॥
यदा प्राणो अभ्य् अवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम्।
पशवस् तत् प्र मोदन्ते महो वै नो भविष्यति ॥
अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन्।
अ ११.४.३-६

अतः आपः को जब शान्ताः और अशान्ताः कहा जाता है तो इससे प्राणों को ही शान्त और अशान्त समझना चाहिए। आपः प्राणों का ही भौतिक प्रतीक है। विज्ञानमय स्तर पर, ऊर्ध्वमुखी प्राण शांत कहे जाते हैं, तो अधोमुखी प्राण, मनोमय की ओर जाने के लिए गतिशील होने से, अशांत कहे जाते हैं। मनोमय में पहुंचकर जब वे अहंकार-रूप वृत्र को वरण करते हैं तो वे घोर अशान्त हो जाते हैं। पर जब वे भगवान्[17] को राजा वरण करते हैं तो सत्यानृत[18] का विवेक रखनेवाले वरुण का अभिषेक होता है। वरुण का विवेक उसे अशांत समुद्र से परे पहुंचाने में समर्थ है। वह अशान्त समुद्र से मुक्त अवस्था है जो कि मनोमय की दृष्टि से मृत्यु भी कही जा सकती है क्यों कि वहां मनोमय की अनेकता और अशांति नहीं है। इसी को कभी कभी मनोनाश वा 'विनशन' कहा जाता है जहां जलप्लावन-ग्रस्त मनु की नाव हिमालय से संपर्क करती है, अर्थात्, अशान्त व्यक्तित्व शांत स्तर को स्पर्श करता है।

पर यह परिवर्तन एक दम नहीं हो जाता। वरुण शान्त आपः (प्राण) से संवंधित पूर्वोक्त भृगु अग्नि को वारुणि बनाता है, और स्वयं अंगिरा बनकर मनोमय से लेकर अन्नमय तक सब अंगों के रसों (आंगिरस प्राणों) को अपना अंगभूत करके और स्वयं उनका अंगी बनकर, उन्हें अपनी राति देकर अपना अंगि-रासः (अंगी+रासः) नाम सार्थक करता है। इसके परिणाम-स्वरूप ही जो परिवर्तन होते हैं उन्हीं के प्रतीक सर्पवेदादि वेद, एवं वर्धत्, आदि व्याहृतियां हैं। अंगिरा 'शम्' की राति सभी स्तरों पर वितरित करता है जिससे प्रत्येक स्तर का वृत्र बदलकर वारुण (विवेकशील) वृत्त हो जाता है क्यों कि जो वृत्तियां पहले अशांति का कारण थीं उनका अब सदुपयोग होने लगता है। इसी लिए उनको वेद कहा जाता है—विष उगलनेवाला क्रोध-रूप सप अब शुभ की रक्षा के लिए अशुभ-द्वेषी बनकर

१५ आपो वै प्राणाः। काश ४.८.२.२; माश ३.८.२.४; जैउ ३.१०.६; तैआ १.२६.५
१६ अ ११.४.१; माश १४.८.१३.३; १४.२.२.३४
१७ तु. परा दस्यून् ददती देवपीयून् इन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम्। अ १२.१.३७
१८ सत्यानृते अवपश्यञ् जनानाम्। ऋ ७.४९.३

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

ह्रास के स्थान पर वृद्धि का कारण बनता है; अतः सर्पवेद की 'वर्धत्' व्याहृति है। रूप(पेश)लोभी काम-रूप पिशाच मांसल भोगों का लोलुप होने के बजाय सुन्दर कला-कृतियों के निर्माण में बदल जाता है; अतः पिशाच-वेद की 'करत्' व्याहृति है। महाप्राणता (असु) का लोभी स्वार्थवाद अब भौतिक बल और परपीडन के बदले आध्यात्मिक आरोहण के लिए प्रयुक्त होता है; अतः असुरवेद की 'रुहत्' व्याहृति है। पुरातनता(इतिहास)प्रेमी अंधा रूढ़िवाद अब विवेकशील इतिहास-प्रेम में बदलकर महत्त्व का पोषक होता है; अतः इतिहासवेद की व्याहृति 'महत्' कहलाती है। शरीर-रूप पुर के अन्न (प्राण) का प्रेमी भौतिकवाद अब शारीरिक प्राणबल को आध्यात्मिक सत्य (तत्) का लक्ष्य स्वीकार कर लेता है; अत एव वह पुराणवेद कहलाता है जिसकी व्याहृति का नाम 'तत्' है। इस प्रकार, अशान्त आपः की 'तत्' नामक व्याहृति को लाने में पूर्वोक्त 'शम्' व्याहृति का पुट ही मूल कारण है।

इन पंच व्याहृतियों के रूप में शम् की उत्तरोत्तर वृद्धि के परिणामस्वरूप हृदयकमल-रूप पुष्कर में ब्रह्म अपने ज्येष्ठ पुत्र[19] 'ओम्' व्याहृति को जन्म देता है। वही एकाक्षर ऋक् वा एकाक्षर मंत्र है। इसी को ज्येष्ठ प्राण[20] भी कहा जाता है। यही ब्रह्मवेद का 'आथर्वण शुक्र' है जिससे सब मंत्र प्रादुर्भूत होते हैं।[21] यही वह ऋक् है जो मानव-व्यक्तित्व में स्थित यज्ञ के आगे पीछे, भीतर (विश्वतः) और बाहर (सर्वतः) सर्वत्र युक्त होकर उसे विस्तार देने का प्रयत्न करती है तथा जिसके अक्षर, परम व्योम में विश्वे देवाः समाहित होते कहे जाते हैं।[22]

विश्वे देवाः

ओम् नामक व्याहृति, मंत्र वा ऋक् के परम व्योम में समाहित होनेवाले विश्वे देवाः भी तो वस्तुतः अनेक प्राण[23] ही हैं। आपः प्राण हैं; अतः आपः[23] को भी 'वैश्वदेवीः'[24] कहा जाता है। ओम् नामक महाव्याहृति वा ऋक् में विश्वे देवाः के समाहित होने का अर्थ है सब प्राणों का समाहित होना। दूसरे शब्दों में, ओम् प्राणों (आपः) की केन्द्रीभूत वा एकीभूत स्थिति का वाचक है।

इसी स्थिति का वाचक विश् शब्द भी है। अतः विश् को विश्वे देवाः बताने का भी यही अर्थ है कि वे विश् में समाहित माने जाते हैं। विश् से, वस्तुतः, पांच देवगण[25] प्रादुर्भूत माने गए हैं—(१) वसवः, (२) रुद्राः, (३) आदित्याः, (४) विश्वे देवाः, और (५) मरुतः। इन पांचों में से, विश्वे देवाः के समान, मरुतः 'स्वापयः' प्राण हैं, प्राणों द्वारा अवकीर्ण हैं और प्राणों के साथ कर्मों में प्रवेश करते हैं।[26] इसी तरह आदित्यों को भी प्राण कहा जाता है क्यों कि वे सर्व का आदान करते हैं।[27] आत्मा और दश प्राणों को मिलाकर ११ रुद्र कहे गए हैं।[28] प्राणों को वसवः भी कहते हैं क्यों कि वे ही सर्व वसु का आदान करते हैं।[29]

इसलिए, कम से कम ये पंच देवगण तो निस्संदेह प्राण ही हैं। वैसे किन्हीं द्रविणोदाः देवाः (मै ३.२.१), अपाव्याः देवाः (तै ३.८.१७.५; माश ६.७.२.३; ६.३.१.१५), धिष्ण्याः देवाः (माश ७.१.१.२४), मनुजाताः देवाः

१९ त ओंकारं ब्रह्मणः पुत्रं ज्येष्ठं ददृशुः। गो १.२३

२० अ १०.८

२१ सैषा एकाक्षरा ऋक् ब्रह्मणस्तपसोऽग्रे प्रादुर् बभूव ब्रह्मवेदस्याथर्वणं शुक्रम्। अत एव मन्त्राः प्रादुर् बभूवुः। गो १.२२

२२ अ १०.८.१०; ऋ १.१६४.३९। इसकी व्याख्या के लिए देखिए गो १.१४

२३ प्राणा वै विश्वे देवाः। तैसं ५.२.२.१; ४.६.१; मै १.५.११; काठ १९.१२; २१.८; क ३१.२; माश १४.२.२.३७

२४ वैश्वदेवीर् आपः। मै ४.५.२

२५ स विशम् असृजत यान्य् एतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वे देवा मरुत इति। माश १४.४.२.२४

२६ प्राणो वै मरुतः स्वापयः। ऐ ३.१६; मरुतः प्राणान (अवकीर्णः प्रविशति)। जै १.३६२ मरुतः प्राणाः। तैआ २.१८.१

२७ प्राणा वा आदित्याः। प्राणा हीदं सर्वम् आददते। जैउ ४.२.१.९

२८ दश पुरुषे प्राणाः। आत्मैकादशः। ते यदोत्क्रामन्तो यन्त अथ रोदयन्ति। तस्माद् रुद्राः। जै २.७७

२९ प्राणा वै वसवः। प्राणा हीदं सर्वं वसु आददते। तै ३. .३३; ५.२; जैउ ४.२ १.३

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

(काठ २३.५), मनोजाता मनोयुजः देवाः (तैसं ६.१.४.५; काठ २३.५), मरीचिपाः देवाः (काठ २७.१; क ४२.१०) तथा वयोनाधाः देवाः (माश ८.२.२.८) को भी यत्र तत्र प्राणाः ही बताया गया है। साध्याः (माश १०.२.२.३) और स्वभवसः (तैसं ६.४.५.४) देव भी प्राण हैं।

कुछ देवमिथुन वा देवद्वन्द्व कहे जानेवाले देवों को 'प्राणापानौ' कहा जाता है, यथा, प्राणापानौ मित्रावरुणौ (तां ६.१०.५; ६.८.१६; तै ३.३.६.९), प्राणापानौ वै मित्रावरुणौ (काठ २९.१; ३०.३; क ४५.१; जै १.३४७)। अश्विनौ भी 'प्राणापानौ' हैं क्यों कि मित्रावरुणौ जिसके अपरपाद हैं, अश्विनौ उसी के दो पूर्वपाद (तैआ २.१९.२) हैं। जैमिनीय ब्राह्मण के अनुसार, द्यावापृथिवी, इन्द्राग्नी, मित्रावरुणौ, अश्विनौ ही नहीं, वैदिक साहित्य में जो भी द्वन्द्व वा दिव्य मिथुन कहा जाता है वह पराक् और पूर्वाक् भेद से स्तोमद्वंद्व माना गया है—ताव एवैतौ स्तोमौ अभवताम् च। तौ प्राणापानौ, ते अहोरात्रे, तौ पूर्वपक्षापरपक्षौ, ताव इमौ लोकौ (द्यावापृथिव्यौ), ताव इन्द्राग्नी, तौ मित्रावरुणौ, ताव अश्विनौ, तद् दैव्यं मिथुनं यद् इदं किं च द्वंद्वं तद् अभवताम् (जै ३.३३४)। इनको 'स्तोमद्वंद्व' कहने से कोई अन्तर नहीं पड़ता क्यों कि सब स्तोम वस्तुतः प्राण ही हैं— प्राणाः वै स्तोमाः (जै २.१३३), प्राणाः वै स्तोमाः सुरभयः (तै ३.९.७.५; माश ८.४.१.३)।

प्राण को अलग अलग वायु (माश ५.२.४.१०), वैश्वानर (मै ४.६.६), बृहस्पति (माश १४.४.१.२२), ब्रह्मणस्पति (माश १४.४.१.२३), सोम (कौ ९.६; माश ७.३.१.२), मित्र (तैसं ५.३.४.२), सविता (ऐ १.१९; माश ४.४.१.५), वरुण (गो २.४.११) और वात (माश ५.२.४.९) बताया गया है। धर्मधृत् देव कहे जानेवाले सोम, इन्द्र, वरुण, मित्र, अग्नि भी प्राण[30] हैं। आदित्यगण से भिन्न एक आदित्य (एकवचन) भी प्राण (जैउ ३.१.४.९; ४.११.१.११) है, और स्वयं ब्रह्म (जैउ ३.१.४.९) को भी प्राण कहा गया।

३० सोम इन्द्रो वरुणो मित्रो अग्निस् ते देवा धर्मधृतो धर्म धारयन्ति एते वै देवा धर्मधृतो यद् इमे प्राणाः। मै ४.४.२

त्रिविध प्राण-दृष्टि और योग

देवों के विषय में, संहिता-ब्राह्मणसम्मत प्राण-दृष्टि को देखते हुए, उस त्रिविध प्राण-दृष्टि की परीक्षा आवश्यक हो जाती है जो वेद-मंत्रों के संबन्ध में प्रतिपादित की गई है। बृहद्देवता के अनुसार, वेद-मंत्रों से संबद्ध देवता, ऋषि और छन्द द्वारा यज्ञादि के प्रसंग में प्राण-दृष्टि को ही विहित समझना चाहिए। इस कारण, ऋषि, देवता, छन्द और योग को बिना जाने वेदाध्यापन अथ वा मंत्र-जप अनुचित है,

ऋषिछन्दोदैवतादिज्ञानं यज्ञादिषु श्रुतम्।
तद् आश्रित्य प्राणदृष्टिर् विहितात्रेति गम्यताम्॥
अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगम् एव च।
योध्यापयेज् जपेद् वापि पापीयाञ् जायते तु सः॥
७.१३१-१३२

यहां **योग** शब्द का अर्थ कुछ लोगों ने विनियोग मान लिया है। पर बृहद्देवता-कार, अन्यत्र, **योग** (एकवचन) के साथ **नियोग** शब्द का बहुवचन में प्रयोग करके, इन दोनों को ही, दाक्ष्य, दम, बुद्धि, तप एवं बाहुश्रुत्य के साथ, ऋग्-रूप देवताओं की उपासना द्वारा, वेदतत्त्व के बोध के लिए आवश्यक मानता है,

योगेन दाक्ष्येण दमेन बुद्धया बाहुश्रुत्येन तपसा
नियोगैः। उपास्यास् ताः कृत्स्नशो देवता या
ऋचो ह यो वेद स वेद तत्त्वम्॥ ७.१३०

इससे स्पष्ट है कि योग विनियोग से भिन्न है क्यों कि 'विनियोग' का अर्थ विविध अथ वा विशेष नियोग है जिसके लिए बृहद्देवता में यहां 'नियोगैः' द्वारा संकेत किया गया है।

इसके अतिरिक्त, उसी प्रसंग में, आगे ऋषि और छन्द, दोनों पर दृष्टि रखते हुए और देवता का ज्ञान रखकर अपने भीतर ही आत्मविवेक करके, सत् और असत् के योनिस्वरूप ब्रह्म नामक 'विश्वेश ज्योति' में प्रवेश करने की बात कही गई है :

ऋषिं च प्रथमं ब्रूयात् छन्दस् तु तदनन्तरम्।
देवताम् अथ मन्त्राणां कर्मस्व् एवम् इति श्रुतिः॥
आधारं वाप्य अनाधारं विविच्यात्मानम् आत्मनि।
ईक्षमाणो ह्य् उभौ संधिम् ऋचो दैवतवित् पठेत्॥
स ब्रह्मामृतम् अत्यन्तं योनिं सदसतो ध्रुवम्।

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

महच्च चाणु च विश्वेशं विशति ज्योतिर् उत्तमम् ।
विशति ज्योतिर् उत्तमम् ॥
७.१३४.१४०

यह, निस्संदेह, ध्यानयोग और समाधि की ओर संकेत है जिसमें आधार-सहित और निराधार (**आधारं वाप्य अनाधारं**) उपासना के साथ साथ, महत् और अणु के 'ज्योतिर् उत्तमम्' में प्रवेश करने की बात कही गई है। **आधार** से अभिप्राय संभवतः आरंभ में यज्ञकर्म की अग्निशिखा वा दीपशिखा से रहा होगा जो कालान्तर में देव-विग्रह में बदल गया। इसके साथ निराधार उपासना भी थी जिसे अवश्य ही आगे चलकर 'सूक्ष्म ध्यान' कहा गया। घेरण्ड-संहिता ने स्थूल, ज्योति और सूक्ष्म भेद से तीन प्रकार का ध्यान बताया है,

स्थूलं ज्योतिस् तथा सूक्ष्मं, ध्यानस्य त्रिविधं विदुः ।
स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं, ज्योतिस् तेजोमयं तथा ॥
सूक्ष्मं बिन्दुमयं ब्रह्म, कुण्डली परदेवता । ६.१

अस्तु। इस प्रकार के ध्यान में प्राण-दृष्टि का सदा ही विशेष स्थान रहा है। पातञ्जल योग, हठयोग, आदि में यही प्राणायाम के रूप में पाई जाती है। यह भी स्पष्ट है कि प्राणायाम का उद्देश्य साँस का प्रेरक, कुंभक और रेचक करना मात्र नहीं था। उसका सबसे बड़ा उद्देश्य मन की ऊर्ध्व गति द्वारा 'मनोन्मनी'[31] स्थिति को लाना था। किसी किसी ने तो मनोन्मनी को प्राथमिकता देने के लिए, पातञ्जल योगसूत्र के विपरीत, प्रत्याहार को प्राणायाम से पूर्व[32] रक्खा है क्यों कि 'प्रत्याहार' का अर्थ इतस्ततः भागते हुए मन को अचल और स्थिर करने का अभ्यास है। इसके 'विज्ञानमात्र' से कामादि का नाश होता बताया गया है,

अथातः संप्रवक्ष्यामि संप्रत्याहारकम् उत्तमम् ।
यस्य विज्ञानमात्रेण कामादिरिपुनाशनम् ॥ ४.१

इसलिए, वृहद्देवता में ऋचः-रूप देवता की उपासना अथ वा वेदार्थ के संबन्ध में योग के साथ प्राण-दृष्टि की बात कुछ इसी प्रकार का संकेत करती प्रतीत होती है। पर देवता, ऋषि और छन्द में प्राण-दृष्टि का क्या अभिप्राय हो सकता है, यह निस्संदेह अन्वेषणीय है।

इतना तो स्पष्ट है कि 'ब्राह्मण'-ग्रन्थों में देवों के समान, देवताओं को भी प्राण कहा गया है और यत्र तत्र ऋषियों और छन्दों को भी। जैमिनीय ब्राह्मण का प्रश्न है : कौन सी एक देवता है ? उत्तर है—प्राण[33]। श्रोत्र, मन और वाक् नामक देवताएं इसी प्राण को बिना मांगे बलि (भेंट) देती हैं (शांआ ४.१; कौ ३०२.१) और प्राणापानौ में भी निविष्ट होकर लीन (ऐआ २.३.३) होती हैं। यहीं नहीं, मैत्रायणी और काठक संहिता के अनुसार तो प्राणों को ही देवता कहा जाता[34] है। इसी प्रकार 'प्राणा उ वा ऋषयः' की उक्ति कम से कम शतपथ[35] और ऐतरेय[36] ब्राह्मणों में तो स्पष्ट रूप से मिलती है। ऐसे ही, वाक् को अनुष्टुभ् तथा प्राणों को अन्य सभी छन्द कहा जाता है—**प्राणा वा एतानीतराणि छन्दांसि। वाग् अनुष्टुप्**। मै ३.१.९ कौषीतकीब्राह्मण के अनुसार, प्राण ही छन्द हैं—**प्राणा वै छन्दांसि** (कौ ७.९; ११.८; १७.२)। इन दोनों कथनों में वस्तुतः एक ही बात समझनी चाहिए क्यों कि वाक् स्वयं एक प्राण है और वह सब प्राणों में उत्तमा (तैसं ५.१.९.१; ६.६.११.६) है। वाक् प्राण का रस (जैउ १.१.१.७) है। अतः सभी प्राण वाक् में प्रतिष्ठित (माश १२.८.२.२५) माने जाते हैं।

इसका अभिप्राय है कि ऋषि, देवता और छन्द वस्तुतः प्राण के तीन भिन्न भिन्न पक्षों के द्योतक हैं। पर कैसे ? यदि यह स्पष्ट हो जाता है तो त्रिविध प्राण-दृष्टि निस्संदेह योग का साधन बन जाएगी।

योग में ऋषि, देवता और छन्द

वृहद्देवता के शब्दों में, योग की प्रमुख प्रवृत्ति आत्मा में आत्मा को (**आत्मानम् आत्मनि**) ढूंढना है।

---

३१ प्राणायामाच्च खेचरीबोधः प्राणायामान् मनोन्मनी ।
आनन्दो जायते चित्ते प्राणायामी सुखी भवेत् ॥
घे.सं. ५.५७

३२ देखिए, घेरण्डसंहिता, उपदेश ४ (प्रत्याहार), तथा ५ (प्राणायाम)

३३ जै २.७७

३४ प्राणा वै देवताः। मै २.३.५; काठ ११.८

३५ माश ८.४.१.५; ७ २.३.५; ८.४.१.५; ६.१.१.१;

३६ ऐब्रा २.२७ ८.६.१.५

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

आधुनिक युग में रमण महर्षि भी सबको अपने भीतर आत्मा वा मैं को खोजने का उपदेश करते थे। श्वेताश्वतर उपनिषद् भी कुछ ऐसी ही साधना[37] बतलाकर, ध्यानयोग द्वारा स्वगुणों में छिपी देवात्मशक्ति को देखनेवाले ऋषियों की ओर संकेत करती है।[38] जब आत्म-तत्त्व की गवेषणा आरम्भ होती है तो, निस्संदेह, प्राण-व्यापार के तीन अंग हो जाते हैं, (१) अभिचक्षण, वा चक्षु का कार्य, (२) द्योतन, अर्थात्, मार्ग प्रकाशित करने का कार्य, (३) आह्लादन, अर्थात्, आवरण को हटाने में उत्तरोत्तर साफल्य-प्राप्ति।

इन तीनों में से, पहले अंग का प्रतीक-नाम **ऋषि** है जिसका शाब्दिक अर्थ ही है 'द्रष्टा'। अभिचक्षण वा ऋषि-कार्य, वस्तुतः, एक निरंतर मानसिक यात्रा है जो आरोह और अवरोह क्रम से द्विविध होती है। आरोहण में, ज्ञात दैहिक आत्मा (शरीर) से ऊपर उठकर अज्ञात अशरीरी आत्मा से संपर्क करने का प्रयास निहित है। प्रत्येक आरोहण-प्रयास एक योग-सोपान है; प्रत्येक अवरोहण उस योग-सोपान से प्राप्त यत् किं चित् उपलब्धि द्वारा दैहिक आत्मा का क्षेम-संपादन करना है। इसी दृष्टि से ब्राह्मण-ग्रंथों ने ऋषियों के दो भेद माने हैं, एक **पराञ्चः**, अर्थात्, ऊर्ध्वगामी, तो दूसरे **अर्वाञ्चः**, अर्थात्, अधोगामी। ये दोनों, वस्तुतः, एक ही ऋषि-कार्य के दो पक्ष हैं जो एक दूसरे के पूरक होने से एकर्षि-कार्य में परिणत हो जाते हैं। इस एकर्षि का नाम **गोतम** कल्पित किया गया है। उसकी उपासना पराञ्चः और अर्वाञ्चः, दोनों ऋषि-परिवार करते हैं।[39] पूर्वोक्त आथर्वणी सृष्टि में आथर्वण ऋषि और आर्षेय, तथा आंगिरसी सृष्टि में आंगिरस ऋषि और आर्षेय इन दो वर्गों में आते हैं।

दूसरे अंग का प्रतीक-नाम देवता है जिसका अर्थ है द्योतनशील देव का देवत्व गुण वा द्योतनशील शक्ति। देव तो मूलतः ब्रह्म ही है जिसका वाचक 'ओम्' शब्द है। ओम् से जनित बल का नाम ओज है। देवोद्भूत सब देवताएं इस ओज से युक्त हैं। इस ओज बल की द्विविध गति के संदर्भ से, मूल एक देव के अग्नि और इन्द्र नामक दो पक्षों की कल्पना की गई और इन्द्राग्नी को ओजिष्ठौ बलिष्ठौ सहिष्ठौ (ऐ २.३६) कहा गया। इन्द्र और अग्नि के संबन्ध से, सब देवताएं दो भागों में विभक्त मानी गई हैं।[40] इन सब देवताओं का समष्टिगत नाम **प्राण**[41] है। दूसरे शब्दों में, सब देवताएं वस्तुतः प्राण ही हैं। ये प्राण-देवताएं असंख्य हैं और मानव-व्यक्तित्व के अन्नमय से लेकर आनन्दमय स्तर तक रूपांतरित होते हुए विभिन्न नाम ग्रहण करती हैं। एक दृष्टि से, समष्टिगत प्राण (कृत्स्ना देवता) को 'वायु' कहा जाता है और उसके अन्य रूपों को १५ वर्गों में बांटा जाता है जिनके नाम आदित्य, चन्द्रमाः, नक्षत्राणि, अग्निः, अहः, रात्रिः, दिशः, पर्जन्यः, आपः, ओषधयः, वनस्पतयः, वाक्, मनः, चक्षुः और श्रोत्रम् कहे जाते हैं।[42] अन्य दृष्टियों से, उनको तेंतीस वर्गों में विभक्त किया जाता है,

१ अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादश आदित्याः, वाग् द्वात्रिंशी और स्वरः त्रयस्त्रिंशः।[43]

२ दश वसु+ग्यारहवां इन्द्र, दश रुद्र+ग्यारहवां इन्द्र, दश आदित्य+ग्यारहवां इन्द्र।[44]

३ ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, वषट्कार और प्रजापति (सोमपा देवताः)[45]

४ ११ प्रयाज, ११ अनुयाज और ११ संयाज (असोमपा देवताः)[46]

५ ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, इंद्र और प्रजापति (पशुभाजना देवताः)

---

३७ किं कारणं ब्रह्म ? कुतः स्म जाता ? जीवाम केन ? क्व च संप्रतिष्ठाः ? अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥ श्वे १.१

३८ ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर् निगूढाम्। यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्य् अधितिष्ठत्य् एकः ॥ श्वे १.३

३९ तद् ये च ह वै गोतमाद् ऋषयः पराञ्चो ये चार्वाञ्चस् ते गोतमम् एवर्षिम् उभय उपासते। जै ३.४४

४० अग्निं वा अन्व अन्या देवता इन्द्रम् अन्याः। क ४८.१६

४१ कतमैका देवतेति। प्राण इति। जै २.७७

४२ जै उ ३.१.१.१-२ ४३ काठ ३७.१७

४४ क ४४.३; काठ २८.३ ४५ काठ २६.९

४६ काठ २६.९; क ४१.७०

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

मानव-व्यक्तित्व के मानसिक और अतिमानसिक स्तरों पर ये सब दो भिन्न प्रकारों से कार्यरत हैं। मन को 'मनुष्यधुर्', तो अतिमन (आपः) को देवधुर् कहा जाता है।[47] इन दोनों से परे हिरण्यय (आनन्दमय) कोश को 'अमृत पद' कहते हैं, जिसमें दोनों का संधान[48] होता है। इन दोनों स्तरों पर, प्राण-देवताओं की भी, ऋषियों के समान, पराक् (ऊर्ध्व) एवं अर्वाक् (अधः) गतियां होती हैं। इस द्विविध गति के संदर्भ से, अतिमानसिक स्तर पर, सभी देवता प्राणोदान-रूप[49] इंद्राग्नी कहे जाते हैं, तो मानसिक स्तर पर प्राणापान-रूप[50] इंद्राग्नी कहलाते हैं। प्राणोदान के अन्तर्गत वायु, मातरिश्वा, पवमान और वात नाम से प्राण-देवता समाविष्ट होते हैं (माश १.१.३.२), तो प्राणापान के अन्तर्गत समाविष्ट होनेवाले प्राणों की संज्ञा चक्षु, श्रोत्र, मन और वाक् होती है।[51] प्राणोदानौ और प्राणापानौ को 'मित्रावरुणौ' भी कहा जाता है। माश १.८.३.१२; ३.६.१.१६; ५.३.५.३४; ६.५.१.५६; तै १.१०.६; तां ६.१०.५.९

देवता-रूप में, सब प्राण अपने ढंग से विभिन्न स्तरों पर मानव-व्यक्तित्व पर अपनी ज्योति फैलाकर अंधकार को दूर करते हैं। इससे ऋषियों का अभिचक्षण-कार्य संभव होता है। दैवत प्राणों की सहायता के बिना ऋषियों का काम नहीं चल सकता। ऋषिगण को अपने संकट-निवारण में देवों का सख्य, ऊति, जूति, आदि मांगते हुए, और देव वा देवों को तरह तरह से उनकी सहायता करते हुए वेद-मंत्रों में प्रायः बताया जाता है। देवता वस्तुतः देव का देवत्व है। प्रत्येक देवत्व वा दवता मूल देव का ही कोई न कोई गुण होता है। अत एव हर देवत्व वा देवता के प्रसंग से उस देव के एक नए रूप की कल्पना करके उससे प्रार्थना की जाती है।

योग में ऋषि और देवता कहे जानेवाले उक्त प्रणों का सम्मिलित प्रयास एक ही लक्ष्य को लेकर चल रहा है और वह है वेद-तत्त्व का दर्शन वा अभिचक्षण; पर बीच में छन्द स्थित है।[52] ऋषि और देवता के समान, छन्द भी प्राण का ही एक रूप है पर इसके दो रूप हैं। एक रूप में वह असुर-छन्द[53] है, तो दूसरे रूप में देव-छन्द।[54] प्रथम रूप में, छादन[55] करने के कारण, वह वृत्र नामक आवरक 'दीर्घं तमः' को जन्म देता है, तो दूसरे रूप में, छन्दन (आह्लादन) द्वारा, वही वरुण[56] नामक देव को खड़ा करके आनन्ददायक सोम की सृष्टि करने में हेतु बनता है।[57] इसी दृष्टि से, छादन और आह्लादन, दोनों ही अर्थों के संदर्भ से छन्द शब्द की निष्पत्ति मानी जाती रही है।[58]

छन्द के इस द्विविध रूप का कारण भी, ऋषि और देवता के समान, पराक् और अर्वाक् गति पर आधारित माना गया प्रतीत होता है। पराक् गति ऊर्ध्वमुखी वा अन्तर्मुखी होती है। इस गति का लक्ष्य आन्तरिक आनन्द (सोम रस) होता है। अर्थवादी भाषा में इसी बात को कई तरह से कहा जाता है, यथा,

१ देवता छन्दःपुरुष में प्रविष्ट हो गए तो देवों ने कहा— 'इन्हीं छन्दों से हम असुरों को नष्ट करेंगे।' जै ९.९८

२ देवों ने सोम का सवन छन्दों द्वारा किया। तै २.२.८.७

---

४७ मनो वै मनुष्यधुर आपो देवधुर। जै १.२७०

४८ जै १.२७०

४९ माश ४.३.१.२२

५० मै १.५.६.१०; काठ ७.५; ३४.१; ३६.२; गो २.२.१

५१ ऐआ २.३.३

५२ तुलनीय, अर्थेप्सवः खल्व ऋषयश छन्दोभिर् देवताः पुरा। अभ्यधावन्न इति छन्दो मध्ये त्व आहुर् महर्षयः। वृदे ७.१३८

५३ एकाक्षरं वै देवनाम् अवमं छन्द आसीत् सप्ताक्षरं परमम्। तां १२.१३.२७

५४ नवाक्षरम् असुराणाम् अवमं छन्द आसीत् परञ् च दशाक्षरं परमम्। वही

५५ यच् छन्दोभिश् छन्नस् तस्माच् छन्दांसीत्य् आचक्षते। ऐआ २.१.६

५६ गो १.७; तुलनीय, तेनान्दत्। गो १.१; छन्दांसि छन्दयतीति वा। दै ३.१९

५७ तं छन्दोभिर् असुवन्त तच् छन्दसां छन्दस्त्वम्। तै २.२.८.७

५८ छन्दांसि छन्दयतीति वा। दै ३.१९

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

३ छन्दों के द्वारा देव लोग आदित्य नामक स्वर्ग लोक में गए। तां १२.१०.६

४ छन्दों द्वारा राक्षस, पापी वा शत्रु मारा जाता है। काठ २५.६; जै १.८६

इसके विपरीत, अर्वाक् गति बहिर्मुखी, स्थूल विषय-भोगों में आसक्त होती है। इस गति के फलस्वरूप अज्ञानांधकार-रूप वृत्र, पाप वा शत्रु सर्वत्र छा जाता है। इसके विनाश होने पर ही यज्ञ का विस्तार, आदि मांगलिक प्रवृत्तियां संभव हैं। इसी दृष्टि से कहा जाता है,

१ छन्द वरुणपाश हैं। मै २.३.३; काठ १२.६

२ छन्दों से आच्छन्न होता है, इसी लिए 'छन्द' कहे जाते हैं। ऐआ २.१.६

३ अग्नि से समीद्ध छन्द ही देवों के लिए यज्ञ वहन करते हैं। माश १.३.४.६

इससे स्पष्ट है कि वैदिक तत्त्वज्ञान के प्रसंग में 'छन्द' शब्द 'तमु' (इच्छायाम्) धातु से निष्पन्न, दर्शन शास्त्र के 'तमस्' शब्द का पर्यायवाची माना जा सकता है। पर इस दृष्टि से, तमस् को बहिर्मुख स्थूल भोगों की इच्छाओं से उत्पन्न अज्ञानांधकार के अतिरिक्त, आन्तरिक उपरति वा शांति की अन्तर्मुखी इच्छा से प्रादुर्भूत विश्राम, सुख, आनन्द का भी वाचक मानना पड़ेगा। निस्संदेह, दर्शन में, स्थिति, निद्रा, निवृत्ति, आदि उसी प्रकार तमस् से पैदा होती हैं जिस प्रकार, तंद्रा, आलस्य, मोह, लोभ, आदि। भोगासक्त इच्छाओं का परिणाम वृत्र (अज्ञान) है, तो निवृत्ति वा शान्ति की इच्छा का अंतिम फल सोम (आनन्द) है। इसी लिए कहा जाता है कि सोम पहले वृत्र ही था।[59] इसका अभिप्राय यही है कि वृत्र केवल सोम के आच्छन्न होने का नाम है; अज्ञान-रूप तमस् वस्तुतः ज्ञान के आवृत होने को कहते हैं। यही पाश-रूप छन्द माना गया है। वेदतत्त्व को समझने में जिस छन्द का माहात्म्य है वह, तमस् के पार उदय होती हुई और मुस्काती हुई, उषा का उपमेय है।[60] इसी तमस् के संदर्भ से पुराणों में उन तमोमय[61] शिव, आदि देव-देवियों की कल्पना हुई है जिनका एक रौद्र पक्ष भी है।

संग्राम, सहयोग और समन्वय-योग

इस प्रकार, छन्द की कल्पना में दो परस्पर विरोधी तत्त्वों का समावेश है। छन्दों का एक स्तर ऐसा है जहां ये दोनों तत्त्व, देव और असुर नामों से, युद्धरत माने गए हैं (देवासुरा छन्दःसु अधिसंयत्ता आसन्; जै १.१९६)। इस स्तर पर, दोनों के बीच स्थित विषमता ही युद्ध का कारण है। देवों के पास धन थोड़ा, असुरों के पास अपार धन (जै १.१९८; तां १२.१२.३१); देवों के छन्द अतिछोटे, असुरों के बहुत बड़े (माश १४.४.१.२); देव दीन-हीन और पराजित मन वाले, असुर अत्यधिक बलवान् और अपराजित मन वाले (काठ १०.१०; तां १८.१.२); असुर अधिक मनस्वी, देव मनस्वितारहित (काठ १२.२)। देवों के पास तो केवल 'चक्रम्' है जिसके द्वारा श्वासोच्छ्वास, निमेषोन्मेष, रक्तसंचारादि का चक्र चलता रहता है। पर असुरों के पास 'छाल' अथ वा जाल है, जो मन से लेकर इच्छाओं, विचारों और क्रियाओं में अभिव्यक्त असुरों (प्राणों) के महाजाल में छाया हुआ होने से 'छाल' कहलाता है (जैउ ३.६.७.३; माश ६.८.१.१)। इस प्रकार, पृथिवी (अन्नमय), अंतरिक्ष (प्राणमय) और आकाश (मनोमय) लोकों पर असुरों का शासन होता है जहां वे अपने पुरों का निर्माण किए हुए हैं (ऐ १.२३; माश ३.४.४.३)। तमः (इच्छा-समष्टि) और माया (निर्माण-शक्ति) पर असुरों का (माश २.४.२.५) आधिपत्य है।

दूसरा स्तर तब आरंभ होता है जब देव और असुर यज्ञ में समान रूप से रत होते हैं (काठ २०.६; क ३१.८); जो देव करते हैं वही असुर करते हैं (तैसं २.५.४.१)। पुराणों में, इसी देवासुर-सहयोग को अमृत-मंथन के आख्यान द्वारा व्यक्त किया गया है। गोपथ के पूर्वोक्त सृष्टिवर्णन में, अशान्त आपः के समुद्र पर वरुण का आधिपत्य होना, और सर्पवेद, पिशाचवेद तथा असुरवेद का इतिहासवेद एवं पुराणवेद द्वारा निरंतर 'शम्'-उपार्जन

५९ वृत्रो वै सोम आसीत्। माश ३.४.३.१३; ९.४.२; ४.२.५.१५; सोमो वृत्रः। काठ. २४.६; २६.१; क ३८.२; ४५.२

६० ऋ १.६२.६ तुलनीय, दयानन्द-भाष्य

६१ तमोमयं शिवं ध्यात्वा मकारं शुक्लवर्णकम्। घे.सं. ५.५१

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

द्वारा 'तत्' व्याहृति की ओर बढ़ना, वस्तुतः, यही सहयोग प्रकट करता है।

तीसरे स्तर पर, समन्वय-योग का उदय होता है। सहयोग-काल में, जो छोटे छोटे तात्कालिक साम (समन्वय) स्वतः प्रादुर्भूत होते रहते हैं उनकी परिणति सत्यमूलक यौधाजय नामक साम के 'ओम्' निधन में होती है। इसके परिणामस्वरूप पूर्ण समन्वय (सामसाम) हो जाता है (जै १.३२३)। देवत्व-असुरत्व से परे स्थित 'वेदि' नामक परा वृत्ति उद्भूत होती है, जिसके द्वारा असुरों का समस्त 'स्वम्' (तमस् और माया) देवों को सुलभ (मै ३.८.३) हो जाता है। इसी का नाम है असुर-विजय, असुरों का निर्माया होना (ऋ १०.१२४.५), असुर-वध अथ वा 'अदेवीः मायाः' (ऋ ७ १.१०; ९८.५) का सोमरूप होना। यही वह 'साम' है जिसे प्राप्त करने के साथ ही, इन्द्र अपने भ्रातृवत् सप्तथ[62] (वृत्र) की माया को ऋतपक्ष में लाने के योग्य होता (ऋ १०.९९.२) है। इसी का नाम समन्वय-योग है जिससे वेदतत्त्व की उपलब्धि होती है।

उत्तरोत्तर-योग और ऋषि-देव प्रयास

इस स्थिति तक पहुंचने के लिए उत्तरोत्तर-योग[63] की प्रक्रिया चलती है। इस प्रक्रिया की क्रमिक उपलब्धि विभिन्न स्तरों पर तदनुरूप पुरुष (मानव-व्यक्तित्व) की विभिन्न शक्तियों (**तोक तनय**) के क्षेम का विधान करती रहती है।[64] प्रत्येक योग-प्रयास में, कुछ न कुछ आध्यात्मिक बल (वाज) प्राप्त होता है, पर उससे अधिक सशक्त (**तवस्तर**) का आह्वान (ऋ १.३०.७) किया जाता है।

सबसे निचला स्तर पूर्वोक्त सर्पवेद है जहां अर्बुद काद्रवेय 'सर्प' नामक ऋषि (ऋ १०.९४) अपने प्रयास को अभिव्यक्ति देता है। निम्न स्तरों (मनुष्यधुर) पर, योग-प्रयास की संज्ञा युग है। क्षेम के इच्छुक 'ध्रुवाः पितरः' (मानव की सहज वृत्तियां) प्रत्येक युग में (**युगे-युगे**), किसी सदस् के सदस्यों के समान 'युक्त' होते (**युञ्जते**) हैं और 'हरि' नामक शुद्ध सोम के सेवनकर्ता (**हरिषाच**) कहे जाते हैं (वही, १२)। पर यह तो उस दौड़ का आरम्भ है जिसकी परिणति उस देवधुर स्तर में होती है जहां मानवात्मा (इंद्र), मानव-व्यक्तित्व को 'समिति' (समत्व, साम) प्रदान करके योग और क्षेम को सदा के लिए निश्चित करके, निचली प्रवृत्तियों से कह देता है कि अब तुम 'नीचे उदक के मण्डूकों की तरह 'टर्र टर्र' करते रहो,'

> अभिभूर् अहम् आगमं, विश्वकर्मेण धाम्ना।
> आ वश् चित्तम् आ वो व्रतम्, आ वोहं समितिं ददे॥
> योगक्षेमं व आदायाहं भूयासम् उत्तम आ वो
> मूर्धानम् अक्रमीम्। अधस्पदान् म उद् वदत
> मण्डूकाइवोदकान् मण्डूका उदकाद्-इव॥
>
> ऋ १०.१६६.४-५

हरि-सेवन प्रदान करनेवाली यह 'समिति' नामक परिणति अन्यत्र 'हरि-योग' कहलाती है जो आनन्दमय (हिरण्मय)-कोश-रूप हिरण्मय रथ से संबद्ध (ऋ १.५६.१) कही जाती है। हिरण्मयपुरुष-रूप आदित्य की रश्मियों के रूप में जो निचले स्तरों पर सैकड़ों और हजारों 'हरयः'[65] कहे जाते हैं वे सब यहां 'हरि-योग' में युक्त हो जाते हैं। यही वह 'हारियोजन' नामक दिव्य ग्रह, पात्र, कोश वा सोम है जिसके लिए पूर्वोक्त सर्पवेद के स्तर से आरम्भ होकर विभिन्न युगों (युगे-युगे) में निरन्तर साधना चलती है।[66] इन सब असंख्य हरियों को, मानव के पूर्वपक्ष और अपरपक्ष की दृष्टि से, द्विविध मानकर 'दो हरी'[67] कहा

---

६२ अहंबुद्धि और मन सहित पञ्च प्राणों, पञ्च ज्ञानेन्द्रियों तथा पञ्च कर्मेन्द्रियों के जो तीन सप्तक बनते हैं उनको अभिभूत करने के कारण अहंकार-रूप वृत्र को सप्तथ कहा जाता है। जब उक्त साम (समन्वय) स्थापित हो जाता है तो यह भ्रातृव्य (शत्रु) भ्राता में बदलकर, अनृत के स्थान पर ऋत का पक्षधर होता है।

६३ एवम् एवोत्तरोत्तरयोगात् तोकं तोकं प्रशाध्वम्। गो १.२८

६४ वही।

६५ युक्ता ह्य् अस्य हरयश् शता दशेति सहस्रं हैवादित्यस्य रश्मयः। जैउ १.१४.३.५

६६ ऋ १.६२.१३; काठ २८.९; मै ४.७.४; क ४४.९; तैसं ६.५.९.१

६७ पूर्वपक्षापरपक्षौ वा इन्द्रस्य हरी। पञ्चा १.१

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

जाता है। इनको प्रसंग-भेद से अहोरात्र,[68] ऋक्सामे,[69] दर्शपूर्णमासौ,[70] द्यावापृथिवी[71] भी कह देते हैं। ये वे ही पराक् और अर्वाक् नामक पक्ष हैं जिनका उल्लेख ऋषियों, देवताओं और छन्दों की कल्पनाओं में भी हो चुका है। ये ही अन्ततोगत्वा 'हरि-योग' में हरि (सोम) नामक एक प्राण[72] बन जाते हैं।

दूसरे शब्दों में, वेदार्थ के इच्छुक ऋषि और देवता जब छन्दों द्वारा दौड़ते हुए कहे जाते हैं तो उनका गन्तव्य वही 'हरि-योग' है जिसके लिए प्राणों के तीनों पक्ष (ऋषि, देवता और छन्द) उक्त एकीभूत प्राण हो जाते हैं। अतः हरि-योग ही अंततोगत्वा वह तत्त्व है जिसकी ओर सब वेदमंत्र प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूप में संकेत कर रहे हैं। यही वह वेद-तत्त्व है जिसे ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त में 'तत् सत्यं', दूसरे सूक्त में सोमपीति, तीसरे सूक्त में 'महो अर्णः', चौथे सूक्त में 'इन्द्रस्य शर्म' और पांचवें सूक्त में 'योग' कहा गया है। छठे सूक्त से, दो 'हरी विपक्षसा' द्वारा इस योग से युक्त होने की जो बात शुरू होती है उसे **युज्** धातु के असंख्य प्रयोगों और उससे निष्पन्न शब्दों के माध्यम से सारे ऋग्वेद में फैला हुआ पाया जा सकता है। इसी योग की परिणति ऋग्वेदीय उपसंहार के 'सु-सह-अस्तित्व' में होती है।

६८ अहोरात्रे वा अस्य हरी। जै २.७९
६९ ऋक्सामे वै हरी। माश ४.४.३.६
७० एतौ वै देवानां हरी यद् दर्शपूर्णमासौ। तैसं २.५.६.२-३
७१ इमे वै हरी विपक्षसा। तै ३.९.४.२
७२ प्राणो वै हरिः। कौ १७.१

देव (ब्रह्म) का देवत्व और देवता

त्रिविध प्राण-दृष्टि का विवेचन करते हुए, देवों और देवताओं के विषय में सामान्य संकेत दिए जा चुके हैं। उस प्रसंग में ब्रह्म को प्राण कहा गया है। पर क्या यह वही ब्रह्म है जिसका वाक्य वा निःश्वसित वेद कहा जाता है? और क्या यह वही देवाधिदेव है जिसकी अन्य देव उपासना करते हैं? देवी-देवताओं का ब्रह्म के साथ वेद में क्या सम्बन्ध है और वेदार्थ करने में उस सम्बन्ध को किस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है? इन प्रश्नों के उत्तर बिना वैदिक एकेश्वरवाद की घोषणा थोथी रह जाती है।

आत्मन्वी ब्रह्म और त्रिवृत् रेतस्

इस प्रसंग में, सर्वप्रथम, ब्रह्म की कल्पना पर विचार कर लेना आवश्यक है। ब्रह्म शब्द के मूल में **बृह** वा **बृंह्** धातु है जो वृद्ध्यर्थक है। **ब्रह्मन्** का अर्थ है निरन्तर वर्धनशील। एक अन्य **बृह्** धातु भी है जिसका अर्थ उद्यमन होता है। सूक्ष्म से स्थूल होना भी वृद्धि है, और एक से अनेक होना भी जिसमें एकदेशीय से बहुदेशीय अथ वा सर्वदेशीय होना भी सम्मिलित है। वट वृक्ष के बीज को ले लीजिए। कितना नन्हां सा बीज! पर महावृक्ष होने की कैसी संभावना से युक्त!! एक से अनेक बीज होने की कैसी अनन्त चाह!!! जब वैज्ञानिक[1] ने निरंतर वर्धनशील विश्व की कल्पना प्रस्तुत की, तो इसी लिए उसे इस वर्धनशीलता के मूल में एक तत्त्व की कल्पना करनी पड़ी। वर्धनशीलता एक संभावना ही रह जाती है, यदि उससे उद्यमन जुड़ा हुआ न हो। अतः **ऐक्सपैंडिंग यूनिवर्स** के लेखक-वैज्ञानिक को विश्व की वर्धनशीलता के पीछे ईश्वर जैसे किसी उद्यमी सत्ता के अस्तित्व को भी स्वीकार करना पड़ा। वेद के **ब्रह्म** शब्द में वर्धनशीलता और उद्यमन, दोनों का समावेश है। जगत् की वर्धनशीलता एक यांत्रिक क्रिया भी हो सकती थी। पर उसमें जो नियम, नियंत्रण और व्यवस्था दिखाई पड़ती है उसके कारण यांत्रिक क्रिया के साथ उद्यमन नामक संज्ञान (नियामक तत्त्व) को भी स्वीकार किया गया। और एक ब्रह्म नामक ऐसे परम तत्त्व की कल्पना की गई जिसमें वर्धन और उद्यमन, दोनों का समावेश है।

१ जेम्स जीन्स, **एक्सपैंडिंग यूनिवर्स**

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

इस ब्रह्म को समझने के लिए मानव-व्यक्तित्व एक सर्वोत्तम नमूना (मॉडल) है। जगत् के समान मानव-पिण्ड (देह) में भी वर्धनशीलता है—सूक्ष्म बिन्दु से स्थूल देह का उद्भव, एक से अनेक होने की प्रवृत्ति तथा एकदेशीय से सर्वदेशीय विस्तार के लिए गतिशीलता के साथ साथ एक सुनियोजित व्यवस्था। **जायते, गम्यते और तायते**, अर्थात्, जन्मना, गति करना और विस्तार पाना,—यही तो जगत् है। यही एक बीज से होनेवाली सृष्टि, बृंहण वा वर्धन है। इसी लिए जगत् को ब्रह्माण्ड, अर्थात्, वर्धनशील अण्डा कहा जाता है। **यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे** का अर्थ यही है कि जिस प्रकार बीज से फलदार वृक्ष बनानेवाली वर्धनशीलता जगत् में है वैसी ही मानव-व्यक्तित्व में है। इसी बृंहण वा वर्धन का नाम सृष्टि है—बीज के भीतर बन्द अनेकता की मुक्ति, अर्थात्, वर्धनशीलता को अवसर प्राप्त होना। इसी सृष्टि वा बृंहण के स्रष्टा तत्त्व का नाम ही तो ब्रह्म है।

इस ब्रह्म के उपदेश से वैदिक साहित्य भरा पड़ा है। फिर भी इसके समझने में भूल होती है। गार्ग्य ने जब अजातशत्रु से ब्रह्मविषयक उपदेश सुना तो वह बोला, 'अच्छा तो मेरे भीतर जो पुरुष है उसी को मैं ब्रह्म जानूं?' यह सुनते ही अजातशत्रु ने कहा, 'नहीं, ऐसा मत कहो। भीतर जो आत्मन्वी ब्रह्म है वह मैं हूँ, ऐसा जानो।' **आत्मन्वी ब्रह्म**, अर्थात्, आत्मा से संयुक्त ब्रह्म। इस ब्रह्म को जानकर ही कोई ब्रह्मवेत्ता होता है। आठ चक्रों और नौ द्वारों वाली शरीर-रूप पुरी के हिरण्मय कोश में विराजमान यही **आत्मन्वत् यक्ष** है जिसे, अथर्ववेद (१०.२.३१-३२) के अनुसार, ब्रह्मवेत्ता जानते हैं। यही आत्मन्वी ब्रह्म प्रत्येक सांख्य पुरुष से जुड़ा हुआ है। यही ब्रह्मविदों का वेद्य वह 'आत्मन्वत् यक्ष' है जो गुणत्रय-मण्डित नवद्वार पुण्डरीक (मानवदेह) में विराजमान (अथर्ववेद १०.८.४३) है। गोपथ-ब्राह्मण (१.१) के सृष्टि वर्णन में, इसी को वह **महद् यक्ष** समझना चाहिए जिसे ब्रह्म ने अपनी प्रतिकृति-स्वरूप दूसरा देव बनाया। यही वह अन्तर्यामी है जो प्रत्येक नर (जीव) के नाराः (आपः, प्राणाः) में अपना 'अयन' (घर) बनाए हुए है और **नारायण** (मनु० १.१०) कहलाता है।

आत्मन्वी ब्रह्म की इस कल्पना के आधार पर, मानव-व्यक्तित्व के कई चित्र वेदों में प्रस्तुत किए गए हैं। एक के अनुसार, देह-रूप वृक्ष पर **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया** बैठे हैं जिनमें से एक (आत्मा) उसके फल खाता है, तो दूसरा (ब्रह्म) केवल साक्षी है (ऋ १.१६४.१०; ९.९.२०)। इसी वृक्ष पर, मन, चक्षु, आदि प्राणों की अनेक मधुवद् सुपर्णों के रूप में कल्पना की गई है (अ ९.९.२१)। पर इन सबमें एक ही सुपर्ण (आत्मा) ऐसा है जो ब्रह्म का पक्षक होकर देशकालातीत अग्र भूमि पर स्थित हो सकता है, अन्य कोई नहीं। ब्रह्म-रूप असीम (वि-मिते) स्कंभ में, आत्मा केवल एक ससीम (मितं) स्कंभ है और अन्य देव (मन, श्रोत्र, आदि) वृक्ष-स्कंध से चारों ओर फैली हुई शाखाओं के समान हैं। पर वे सब उसी महद् यक्ष (ब्रह्म) पर आश्रित हैं जो संपूर्ण भुवन (सृष्टि) के मध्य, **सलिल** के पृष्ठ पर तप में संलग्न (वही, १०.७.२८-२९) है। मानवदेह-रूप रथ पर बैठे हुए, ये ही गीता के सारथी कृष्ण और रथी अर्जुन हैं जिन्हें क्रमशः नारायण और नर भी कहते हैं। नारायण का अयन भी मनुस्मृति में आपः (सलिल) में कल्पित किया गया है।

लौकिक साहित्य में, **आपः और सलिल** पर्यायवाची हैं। पर वेदों में वे दो भिन्न अर्थ रखते हैं। प्रसिद्ध नासदीय सूक्त में, **सलिल**,[2] निस्संदेह, सांख्य की मूल प्रकृति का वाचक है। अतः 'अप्रकेतं सलिलं सर्वम् आ इदम्' कहकर उसका वर्णन किया गया है। जैमिनीय-ब्राह्मण के अनुसार, यहां प्रयुक्त 'आः' उस तत्त्व का बोधक है जहां से सब आते हैं और फिर जहां सब जाते हैं (जै १.१८०)। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि सलिल को ब्रह्मजाया का ऐसा रूप माना गया हो[3] जिसमें वह ब्रह्म से अभिन्न कल्पित की जाती हो। अस्तु। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि सलिल को आपः (ऋ ७.४९.१) का उद्गम-स्थान माना गया है, और सब देव सलिल में जन्म से पूर्व 'सुसंरब्ध' रूप में (ऋ १०.७२.६) स्थित बताए गए हैं। साथ ही आपः देवों की पत्नियां हैं (जै १.१४०) और वे ही देवों की प्रिय धाम (मै ४.१.४; काठ ३१.३) भी हैं।

---

२ तु० सलिलम्, पल गतौ। औणादिक इलच्। इदं दृश्यमानं सर्वं जगत् **सलिलं**, कारणेन संगतम् अविभागापन्नम्। सायण, ऋ १०.१२९.३

३ ऋ १०.१०९.१

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

इसी प्रकार क्या सलिल वा मूल प्रकृति को ब्रह्मजाया और ब्रह्मधाम कहा जा सकता है ?

वास्तव में नपुंसक (अज) ब्रह्म तो कुछ भी प्रजनन नहीं करता है। पर जायमान (वाग्द्वितीय) होने पर वह अपनी वाक् द्वारा विविध होता (काठ ४३.४; जै १.३१४) है। ब्रह्म की शक्ति वाक् का ब्रह्म से अ-विनाभाव संबन्ध[4] है। अतः वाक् को भी ब्रह्म कहा जाता[5] है और इसलिए ब्रह्म से जब भूतों के जन्मने[6], आदि की बात कही जाती है तो वहाँ अभिप्राय वाग्-ब्रह्म से होता है। वही देवों, आदि के रूप में होती है और प्रजापति में पुनः प्रविष्ट हो जाती (माश १४.४.३.१३; काठ १२.५, २७) है; ब्रह्म वाक् का परम व्योम है। इसी लिए जब नपुंसक ब्रह्म की जाया (वाक्) को प्रजा पैदा करनेवाली कहा गया तो, स्वभावतः, विनोद के लिए, उसके पाप वा किल्बिष[7] की भी कल्पना की गई।

वस्तुतः वाक् ही पूर्वोक्त सलिल है जिससे सलिलानि* (आपः) की अनेकता उपजती है।[8] वाक् ब्रह्म की रेतस्[9] (वीर्य) है और वह त्रिवृत है,[10] अर्थात्, रेतोधा, रेतस् और जनयिता। यह वाक्-रूप रेतस् आपः (काश ४.८.४.६; तै ३.३.१०.३) हैं जो धारण करने से **धाराः**, आप्त (व्याप्त) होने से **आपः** तथा जनने से **जायाः** (गो १.१) कहलाती हैं। यदि रेतस् और आपः के प्रतीकवादी आवरण को छोड़ दिया जाए तो इन्हीं तीन तत्त्वों को वाक् का धीत्व (धीति), चित्त्व (चिति) एवं जूत्व (जूति) कहा जाता (मैसं ३.७.५) है। जब ब्रह्मवीर्य को वेद (१९.७२.१) का और वेद को वाक् (ब्रह्मशक्ति) का पर्याय बनाया गया तो इन्हीं को क्रमशः साम, ऋक् और यजुः (जै ३.३८०) कहा गया। आगमों में इन्हीं को इच्छा-शक्ति, ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति कहा जाता है। गीता में इन्हीं के लिए भावना, बुद्धि और कर्म कहकर, क्रमशः भक्तियोग, ज्ञानयोग एवं कर्मयोग का प्रतिपादन किया गया। ये सब त्रिवृत् रेतस् के भिन्न भिन्न वर्णन हैं।

वाक् और आपः वेद में, जैसा पहले कहा जा चुका है, वस्तुतः, प्राण नामक शक्ति ही हैं। अत एव, वाक् और आपः के समान, प्राण भी, रेतस् (ऐआ ३.१.४; २.१), रेतस् का विकर्ता (माश १३.३.८.१) तथा रेतःसेचन का हेतु (ऐआ ३.२.२) होने से, त्रिवृत् (जै १.३४६; तां २.१५; ३.६.३) कहा जाता है। यों तो कोई नहीं कह सकता कि मनुष्य के भीतर कुल कितने[11] प्राण हैं। पर सब प्राणों में उत्तमा ज्योति वाक् (तैसं ५.२.८.४; ५.१.९.१; ६.६.११.६) है। वाक् से, इस प्रसंग में, अभिप्राय उसी मूल ब्रह्मवीर्य (शक्ति) वा रेतस् से है जो मानव के अनेक प्राणों के रूप में बिखरी हुई है। वेद में जहां जहां वीर्य वा रेतस्[12] की बात होती है वहां मूलतः उसी वाक् वा उत्तमा प्राण की बात है जो एक से लेकर सहस्र तक कही जाती (वा कहा जाता) है। इस रेतस् का आश्रय अन्तस्तम हृदय (शांआ ११.६; तै ३.१०.८.७) में है। इसके सेचन करने का अभिप्राय है ध्यान करके (माश ९.५.१.५६; १२.१०.११; ९.३.१.२; ऐ. २.३८) व्यक्तित्व की उस गहराई तक उपांशु भाव से पहुंचना।

इस ध्यान अथ वा रेतःसेचन का अभ्यास दो स्तरों पर होता है—एक स्तर पर **प्राणापानौ** नाम से द्विविध गति होती है, तो दूसरे स्तर पर **प्राणोदानौ** नाम से। पर वास्तविक सेचन की स्थिति दूसरे (सूक्ष्म) स्तर पर ही आती है क्यों कि तभी रेतस् का विकरण आरंभ होता है।[13] **अभ्यास** का अर्थ है चेतना द्वारा अन्तिम कोश (हिरण्यय) से ब्रह्मवीर्य को लाने, और उसी में उसे

४ ऋ १०.११५.८; ऐआ १.३.८
५ ऐ ६.३; जै १.१०२; ११५
६ तैब्रा ४.८.१
७ ऋ १०.१०९.१
* 'सलिल' शब्द एकवचन में मूल प्रकृति का वाचक है, तो बहुवचन में (**सलिलानि**) वह प्राकृत विकारों का वाचक है और इसलिए आपः का पर्याययाची हो जाता है।
८ ऋ १.१६४.४१; तैआ १.९.४
९ वाग् उ हि रेतः। माश १.५.२.७; तुलनीय, माश १.७.२.२१
१० त्रिवृद्धि रेतः। तां ८.७.१४
११ कस् तद् वेद यावन्त इमेन्तरात्मन् प्राणाः। माश ७.२ २.१०
१२ प्राणाः खलु वै पुरुषे वीर्यम्। मै २.५.१०
१३ प्राणोदाना उ वै रेतः सिक्तं विकुरुतः। माश

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

पुनः अन्तर्हित करने का प्रयास।[14] इसी को ध्यानयोग द्वारा होनेवाला **शक्तिपात** कह सकते हैं। इसका आरंभ प्राणापान-पूर्वक अश्वीमुद्रा और शक्तिचालन से होता है जिसमें प्राणशक्ति की भूमिका रहती है। संकोचन-प्रसारण का जो भाग है वह प्राण[15] है, और उसके द्वारा जो अनुभूति होती है वह वाक् है जो अन्ततोगत्वा ब्रह्म से अभिन्न है। इस तरह, ध्यानयोग में वाक् (ब्रह्मशक्ति) और प्राण का दिव्य मिथुन[16] है जो यम-नियमपूर्वक प्राणायाम से आरंभ होता है। हिरण्मय कोश में ब्रह्म से अभिन्न होकर जो वाक् वसिष्ठा (अर्थात्, अत्यधिक स्थिर) है वह वस्तुतः सञ्चरणशील प्राणों का रूपांतर है। अतः वाक् प्राण से कहती है कि मैं जो यह वसिष्ठ हूँ सो तो तुम ही वसिष्ठ हो।[17] पराक् (वाक्) और पूर्वाक् (प्राण) का यह दिव्य मिथुन, विभिन्न स्तरों की दृष्टि से, अलग अलग नामों से इस प्रकार जाना जाता[18] है, १ प्राणापानौ, २ अहोरात्रे, ३ पूर्वापक्षापरपक्षौ, ४ द्यावापृथिवी, ५ इन्द्राग्नी, ६ मित्रावरुणौ, ७ अश्विनौ।

स्तोम

इन दिव्य मिथुनों की वेद में **स्तोम**[18] संज्ञा है। ये ही प्रसिद्ध सात स्तोम हैं।[19] हर स्तोम वीरजनन[20] की प्रक्रिया का अंग है। हमारे अंग अंग से निकलनेवाला एक **रस** (शक्ति-सार) है जिसे 'अंगिरस वीर'[21] कहते हैं। ये वीर प्रकाश की खोज और अंधकार के विनाश में अत्यधिक उपयोगी हैं। पर इनकी उत्पत्ति ब्रह्म के वीर्य वा रेतस्[22] के बिना नहीं हो सकती। इन स्तोमों के द्वारा उसी के सेचन, रक्षण, आदि के लिए यत्न है। वास्तविक सेचन इंद्राग्नी स्तोम द्वारा होता है। इन्द्र और अग्नि, दोनों, रेतस् की वर्षा के करने के कारण, **वृषा** (काठ ३४.१; माश १.४.१.२९) कहे जाते हैं। ये ही दो वृषा हैं जो ब्रह्मरेतस् का सेचन करते हैं (मै ३.८.२.४)। इन्द्र के वीर्य से स्तोता की कामपूर्ति होती है और चतुर्थ स्तोम, द्यावापृथिवी द्वारा उसी का 'अनुमान' (ऋ १.५७.५) होता है। यह 'वीर्य' और कुछ नहीं, **सांख्य** का 'महत्' है जिसे इन्द्र देश-कालातीत स्तर पर ब्रह्म से प्राप्त करके प्रथम बार अधोगामी (२.१७.३) करता है। अमूढ़ जन इसी रेतस् को अपने शरीरों में सेचन कराने के लिए अग्नि से (१.६८.७-८) प्रार्थना करते हैं क्यों कि वह सिंचित रेतस् को एक युवा वीर के रूप में (१.७१.८) पैदा कर सकता है। मित्रावरुणौ (छठा स्तोम) इस प्रिय अमृत की रक्षा (१.७२.९) का भार उठाते हैं। अश्विनौ (सप्तम स्तोम) हमारी बुद्धियों (धीषु) में स्थापित 'प्रजावत् रेतस्' (७.६७-९) की रक्षा करते हैं और उससे उत्पन्न प्रजा को बल प्रदान करते हैं।

अवशिष्ट तीन स्तोम अन्यों तक पहुँचने के लिए तीन सोपान कहे जा सकते हैं। इनमें से प्राणापानौ तो सबका मूलाधार है। यही विकसित होकर अन्य सब स्तोमों का रूप धारण करता है। प्राणायाम की यह प्रथम और स्वाभाविक सीढ़ी ध्यानयोग की भी **ओनामासी** है जो समाधि के आदि और अन्त में भी विद्यमान है। हर ध्यान का आरोहावरोह प्राणापानौ है। प्रत्येक अवरोह में एक नया 'अहः' (प्रकाश वा दिन) होता है, तो प्रत्येक आरोह म एक विश्राम की स्थिति होती है जिसे 'रात्रि' कहा जाता है। ये दिन-रात अहोरात्रे नामक दो महिमा हैं। इनके साथ आत्मा-रूप अश्व का शनैः शनैः आविर्भाव (तैसं ७.५.२५.२) होता है। प्राणापानौ के विधिवत् अभ्यास से व्यान नामक प्राण समृद्ध होता है। इससे

---

१४ अ १९.७२.१ ९.५.१.५६

१५ प्राणो वै समञ्चनप्रसारणम्। माश ८.१.४.१०

१६ वाक् च वै प्राणश्च मिथुनम्। माश १.४.१.२

१७ सा ह वाग् उवाच (हे प्राण!) यद् वाहं वसिष्ठास्मि त्वं तद् वसिष्ठोसि। माश १४.९.२.१४

१८ ताः एवैतौ स्तोमाः अभवतां पराक् च पूर्वाक् च। तौ प्राणापानौ, ते अहोरात्रे, तौ पूर्वापक्षापरपक्षौ, ताः इमौ लोकौ (द्यावापृथिव्यौ), ताः इन्द्राग्नी, तौ मित्रावरुणौ, ताः अश्विनौ, तद् दैव्यं मिथुनं यद् इदं किं च द्वद्वं तद् अभवताम्। जै ३.३३४

१९ सप्त स्तोमाः। माश ९.५.२.८

२० वीरजननं वै स्तोमाः। काठ २५.१५

२१ वीरा वै तद् अजायन्त यद् अङ्गिरसः। जै ३.२६४; येऽङ्गिरसः स रसः। गो १.३.४

२२ गो १.७-८

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

'त्रिवृत्' स्तोम पैदा होता है जो 'पूर्वपक्ष' कहा जाता है। हाथ की दश अंगुलियों और चार हाथ-पैरों समेत नाभि से ऊपर समस्त शरीर में प्राणों की पूर्ण समृद्धि 'पञ्चदश' स्तोम है (जै ३.३१९)। उसे 'अपरपक्ष' कहते हैं। त्रिवृत् और पञ्चदश स्तोमों से आत्मा के ब्रह्म और क्षत्र, दोनों बढ़ते (जै २.१३२) हैं। यहां वर्धनशीलता (वाग् ब्रह्म) का नाम मित्र है और सुरक्षा-सामर्थ्य (क्षत्र) वरुण है (तैसं ५.१.९.३; मै ४.५.८; काठ १९.७; २४.४)। इस प्रकार, मित्रावरुणौ स्तोम के स्तर पर विद्वान् लोग त्रिवृत् और पञ्चदश स्तोमों के रूप में दो पक्षों वाले पक्षी होकर स्वर्ग लोक के अधिकारी (तां १४.१.१३) होते हैं।

अश्विनौ स्तर का स्तोम, प्राणापानौ के समान, अन्य सब स्तोमों के लिए उपयोगी है। अश्विनौ ही ब्रह्म के वीर्य को प्राप्त करके उसे उस इन्द्र में स्थापित (मै २.४.१) करते हैं जो मन सहित सब इंद्रियों को शक्ति प्रदान करता है। अश्विनौ दो बाहु अथ वा अरणि हैं जिनके द्वारा अग्नि-मन्थन (ऐ ३.४) होता है। ये ही दो हिरण्ययी अरणि हैं जिनके मन्थन द्वारा अग्नि-गर्भ अन्ततोगत्वा दशमस्थानीय प्रकाश में (**दशमे मासि**) व्यक्त (ऋ १०.१८५.३) होता है। सोम तो उस अश्व का वह रेतस् (तै ३.९.५.५) ही है जिसके संदर्भ से अश्विनौ अश्वयुजौ (तैसं ४.४.१०.३; मै २.१३.२०) कहलाते हैं।

अश्विनौ का यह अश्व स्वयं इंद्र अथ वा अग्नि ही है।[23] पर उस वज्री (अग्नि-इन्द्र) को ही अश्व कहते हैं[24] जो वृत्रवध में सक्षम माहेन्द्र (ऐ ३.२१) है, न कि मन सहित इंद्रियों में उलझे हुए इन्द्र को। इस अश्व का उद्भव स्तोमों से होता है (काठ ५)। प्रत्येक स्तोम उसकी उत्थापना को एक उच्चतर स्तर पर ले जाता है। ऐसे प्रत्येक स्तर का नाम उक्थ[25] है। उक्थों की सफलता उनकी 'अनुसंतति' (शृंखला वा पंक्तिबद्धता) में निहित (तां १८.८.६) है। इन उक्थों द्वारा सोम (ब्रह्मवीर्य) की ही उत्तरोत्तर उत्थापना (तै २.२.८.७) होती है। इसी कारण उनका 'उक्थ' नाम है। अतः सब उक्थ, वस्तुतः, ओज वा वीर्य (काठ ३७ ८) का उत्तरोत्तर पुट देते हैं। इसके फलस्वरूप वे इन्द्र वा अग्नि अश्व की उत्थापना करके 'ऐन्द्राग्नानि उक्थानि' (मै ३.९.५; काठ १४.९) कहलाते हैं। अग्नि एवं इंद्र नामक द्विविध रूपों में, अश्व, वस्तुतः, प्रजापति का प्रवर्धमान 'चक्षु' (ज्ञानस्वरूप) है।[26] इसी दृष्टि से अग्नि और इन्द्र, दोनों 'प्रमति' कहलाते हैं; एक क्रियात्मक प्रमति है, दूसरा ज्ञानात्मक। इन दोनों प्रमति पक्षों वाला आत्मा 'उक्थ्य' कहलाता है। इसका 'उक्थ' (उत्थापन) अन्नमय से लेकर हिरण्मय कोश तक क्रमशः पृथिवी,[27] वायु, आकाश, आपः और ज्योतींषि नामक उक्थों द्वारा होता है। एक अन्य दृष्टि से, ब्रह्मवीर्य-रूप पवमान सोम की आहुतियों से संपाद्यमान यज्ञ का आत्मा ही इन पांचों उक्थों में उक्त अश्व अथ वा षोडशीमान् (तां १९ ६.३) है। इस दृष्टि से, स्तोमों द्वारा उठाई गई दुःखी जीव की करुण पुकार पर प्रवाहित होनेवाला अश्रु-रूप ब्रह्मवीर्य (सोम) ही अश्व[28] (विकसित जीवात्मा) है।

जीव की यह पुकार ही आग्नेय-आत्मा-रूप स्तोम अथ वा अग्निष्टोम (मै ३.९.५; तां १९.५ ११) है जिसके उत्तर में सोम पवमान इन्द्र (जीव) के लिए प्रवाहित होता है। इस प्रकार अग्नीषोमौ इन्द्र (जीव) में ब्रह्मवर्चस् नामक इन्द्रिय तेज का आधान[29] करते हैं। पूर्वोक्त पृथिवी, वायु,

---

२३ इन्द्रो वा अश्वः। कौ १५.४ अग्निर् अश्वो भूत्वा प्रथमं प्रजिगाय। गो २.४ ११

२४ वज्री वा एष यद् अश्वः। मै ३.१.३; तै १.१.५.५; तैसं ५.१.२.३; काठ १९.२

२५ उक्थम् इति बह्वृचा (उपासते)। एष हीदं सर्वम् उत्थापयति। माश १०.५.२.२०

२६ प्रजापतेः चक्षुर् अश्वयत्, तस्य यः श्वयथा आसीत् सोश्वोभवत्। मै १.६.४

२७ पृथिवी वायुर् आकाश आपो ज्योतींषीत्य् एष वा आत्मोक्थं पञ्चविधम्। ऐआ २.१.४ तुलनीय, उक्थैर् उदस्थापयन् (देवाः सोमम्), तद् उक्थानाम् नक्थत्वम्। तै २.२.८.७

२८ यद् वै तद् अश्रु संक्षरितम् **आसीद् एष** सोश्वः। माश ६.३.१.२८

२९ **तयैव (इष्ट्या)** अस्मिन् (इन्द्रे) तेज इंद्रियं ब्रह्मवर्चसम् **अधत्ताम् (अग्निषोमौ)**। तैसं २.३.३.१-२

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

आकाश, आपः और ज्योति नामक स्तोमों में अन्नमय से लेकर हिरण्मय कोश तक वर्धमान, यह ब्रह्मवर्चस् ही वह ज्योति है जो अन्ततोगत्वा समान रूप से अग्नि, इन्द्र वा सूर्य (काठ ४०६) कही जाती है। फलतः अग्निष्टोम ज्योतिष्टोम में परिणत हो जाता[30] है। इस त्रिक् में सूर्य शब्द वस्तुतः सोम के लिए प्रयुक्त[31] है। इसलिए उक्त ज्योति वा ज्योतिष्टोम आग्नेय-आत्मा-रूप स्तोम (अग्नि-स्तोम) का वह हिरण्मय रूप है जिसमें अग्नि, इन्द्र और सोम सुविकसित एवं एकीभूत होते हैं। हिरण्मय कोश के प्रतीक-भूत उत्तरवेदि का यही वह जातवेदाः अग्नि है जिसमें, सोम को उदरस्थ किए हुए, इन्द्र स्थित होता[32] है। हिरण्मय कोश के आत्मन्वी ब्रह्म (आत्म-युक्त ब्रह्म) के साथ इस प्रकार सायुज्य होने से, इन्द्र, अग्नि और सोम में से प्रत्येक को 'ब्रह्मन्' कहकर संबोधित किया जा सकता[33] है क्यों कि इस स्तर पर वे ब्रह्मसायुज्य के कारण ब्रह्मभूत हैं।

हिरण्मय कोश का यह ब्रह्मभूत जीवात्मा वह अश्व-रूप अग्नि है जिसके अश्विनौ दो 'हिरण्मयी अरणी' हैं। यह अश्व वह इन्द्र है जिसकी दो बाहु (तैसं १.१.२.२; काठ १.२; मै २.१.२; ४.१.२) संभवतः अश्विनौ (तुलनीय, शुभस्पती इन्द्र कर्मस्वावतम्[34] य १०.३३) हैं। इसलिए अश्विनौ इंद्र में 'इंद्रियाणि वीर्य्याणि' का आधान करनेवाले (मै २.४.१) कहे जाते हैं। दुर्ब्राह्मण (जीव) भी जब सोम का पिपासु होता है तो उसके देवता अश्विनौ (तैसं २.१.१०.१) होते हैं। जब अश्विनौ इंद्र (जीव) को ब्रह्मवर्चस् से अभिषिक्त करते हैं (मै ३.११.८) तो भी सोम द्वारा अभिषेक ही अभिप्रेत है क्यों कि सोम ही तो अश्व का वह ब्रह्मवीर्य वा ब्रह्मवर्चस् है जिसके प्रसंग से अश्विनौ को 'अश्वयुजौ' कहा जाता है।

आत्मा-रूप अश्व के अंगभूत इंद्र, अग्नि एवं सोम में से प्रत्येक से इस प्रकार जुड़े हुए अश्विनौ, निस्संदेह, मानव-व्यक्तित्व में आन्तर-बाह्य अथ वा ऊर्ध्व-अधः भेद से द्विविध गति अथ वा वृत्ति के द्योतक हैं। इसी लिए अश्विनौ की संगति प्राणापानौ से (तैसं १.७.११-१ मै १.११.१०; जै ३.३३४) बिठाई जाती है। अश्विनौ, मानो, अंतर्मुखी, बहिर्मुखी भेद से दो श्रोत्र (माश १२.१.१.१३), दो अक्षि-पुरुष (माश १२.९.१.१२), दो नासिकाएं (काठ १३.५) तथा अहोरात्र की जोड़ी (मै ३.४-४) हैं। सविता देव के प्रसव के प्रसंग में जिन दो बाहुओं का उल्लेख (तै २.६.५.२) मिलता है वे भी स्वयं अश्विनौ ही प्रतीत होते हैं। सविता का यह प्रसव वही भर्ग, ब्रह्म वर्चस् अथ वा वेद-रूप ब्रह्मवीर्य है जिसके संदर्भ में 'उद्भरण' और 'अन्तर्धान' नाम से क्रमशः बहिर्मुखी एवं अंतर्मुखी गति वा प्रवृत्ति (अ १९.७२.१) का स्पष्ट संकेत मिलता है। इन्हीं दो प्रवृत्तियों के संयोग से वह ज्ञानयोग संभव है जिससे अहंकार-रूप वृत्र के बन्धन से जीव अपनी दिव्य शक्तियों सहित मुक्त होता है। इसी लिए अश्विनौ देवों में 'बद्धमुचौ' (बद्ध हुए को मुक्त करनेवाले) कहे गए हैं (जै ३.७२)। उनकी इस विशेषता के प्रमाणस्वरूप, च्यवन की जर्जर शरीर से, भुज्यु की समुद्री संकट से, वन्दन की अंधकार वा वार्धक्य से, अत्रि सप्तवध्रि की ताप, तमस् अथ वा गड्ढे से तथा एक कोयल की भेड़िए के भय से मुक्त करने के प्रसंग सुप्रसिद्ध हैं।

एक दृष्टि से, उपर्युक्त अन्य सब स्तोम अश्विनौ के ही रूपांतर हैं। उदाहरण के लिए अश्विनौ को 'पूर्वपादौ' और मित्रावरुणौ को 'अपरपादौ' (तैआ २.१९.२) कहा जाता है। द्यावापृथिवी (तैसं ५.६.४.१; काठ २२.६), अहोरात्रे (मै ३.४.४.; माश ४.१.५.१९), एवं प्राणापानौ को या तो अश्विनौ कहा जाता है अथ वा किसी प्रकार उनकी अश्विनौ से संगति बिठाई जाती है। कारण स्पष्ट है। महत्, अहंबुद्धि और पंच ज्ञानेंद्रियों वाला अष्टशफा पशु

---

३० ऐ ३.४३; तां १६.१.११ जै १.६६

३१ स यद् आह स्वरोसीति सोमं वा एतद् आहैष ह वै सूर्य्यो भूत्वामुष्मिल्लोके स्वरति। गो १.५.१४ तुलनीय, य आदित्यः स्वर एव सः। जैउ ३.६.५.५

३२ अयं सोग्निर् यस्मिन् सोमम् इन्द्रः सुतं दधे जठरे वावशानः। सहस्रिणं वाजम् अत्यं न सप्तिं ससवान् सन् स्तूयसे जातवेदः। ऋ ३.३२.१

३३ ऋ ३.१३.६; ७.२९.२; ७.३३.११

३४ तुलनीय, अथ यद् एनं द्वाभ्यां बाहुभ्याम् अरणीभ्यां मन्थन्ति। द्वौ वा अश्विनौ तद् अस्याश्विनं रूपम्। ऐ ३.४

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

होने से पहले, हिरण्यय कोश के आत्मा-रूप बलिष्ठ अश्व का जो एकीभूत खुर है उसमें से अश्विनौ द्वारा प्रवाहित किया गया मधु वा सुरा (ऋ १.११६.७; १.११७.९) ही नीचे के विभिन्न स्तोमों को महत्त्व देनेवाला है। यह मधु वह वेद वा ब्रह्मवीर्य ही है जिसके द्वारा सब इष्ट कर्म (अ १९.७२.१; ६८.१) किए जाते हैं। यही वह मधुविद्या है जो अश्व का शिर (हिरण्यय कोश) मिलने पर ही बताई जा सकती है, अन्यथा नहीं। यही वह सोम है जो उन सब ओषधियों का संगमस्थल तथा सर्वोत्तमा ओषधि (ऋ १०.९७.२२-२३) है जिनकी सहायता से सर्व किल्विष (वही, १६) से मुक्ति संभव है।

त्रिवृत् आत्मा तथा वसिष्ठ अर्क

अत एव अश्विनौ के 'बद्धमुचौ' अथ वा 'भिषजौ' (तैसं २.३.११.२-३; तैआ ५.७.३) होने का आधार, वस्तुतः, ब्रह्मवीर्य, ब्रह्मवर्चस्, सोम अथ वा वेद ही है। इसी भेषज् के आधार पर अश्विनौ के 'भिषज्या तनू' की कल्पना की गई है (काठ २७.४) जो मुख्यतः ज्ञानशक्ति-प्रधान 'अग्नि', इच्छाशक्ति-प्रधान 'ब्राह्मण' तथा क्रियाशक्ति-प्रधान 'आपः' नामक मानवीय आयामों में विभक्त होती है। ज्ञानशक्तियों रूप गायों, इच्छाशक्तियों रूप अर्वाओं तथा क्रियाशक्तियों रूप वीरों के वर्धन करनेवाले त्रिबन्धुर, त्रिवृत् एवं त्रिचक्र आश्विन रथ (काठ १७.१८) की कल्पना का आधार भी यही है। ब्रह्मवीर्य-वा वेद-मूलक यह भिषज्या तनू ही वह जातवेदस्या ऋक्—'स्वत्ययनं (ऐ ४.३२; ५.२; ८; १५; १७; १९; २१; ऐआ १.५.३) कही जाती है क्यों कि, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, जो हिरण्यय कोश ब्रह्मवीर्य (वेद) का स्रोत है उसी में आत्मा वह जातवेदाः रूप धारण करता है जिसमें इंद्र, अग्नि और सोम एकीभूत होते हैं।

इसलिए सायण[35] का यह कथन पूर्णतया उचित है कि ऋ ३.२६.७ का अपने को 'जन्मना जातवेदाः' कहनेवाला अग्नि, वस्तुतः, वह आत्मा है जिसने परम तत्त्व (ब्रह्म) का स्वयं साक्षात्कार कर लिया है और अब वह अपने ब्रह्मतादात्म्य अनुभव को अभिव्यक्त करता है। यह हिरण्यय कोश की अनुभूति है जो 'अहं ब्रह्मास्मि' की उक्ति द्वारा सुविख्यात हो चुकी है। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि प्रस्तुत मंत्र (ऋ ३.२६.७) की देवता आत्मा मानी जाती है। अन्नमय कोश के संदर्भ से जिस जीव को अधोरेताः कहना उपयुक्त होता वह अब (हिरण्यय कोश में) ऊर्ध्वरेताः ब्रह्मचारी है क्यों कि अब वह ब्रह्म के ऊर्ध्वरेतस् से युक्त हो चुका है। इस ऊर्ध्वरेतःसिक्ति का पारिभाषिक नाम[36] 'घृत' है। इसका दोहन पर ब्रह्म की अदिति नामक अखण्ड वाक्[37] से होता है। यह घृत आत्मा-रूप अग्नि के ईडन (ideation)से प्राप्त होनेवाला वह चरम ज्ञान है जिसे इडा[38] भी कहा जाता है। ऋग्वेद 'अग्निम् ईडे' कहकर इसी घृतपदी इडा की खोज आरंभ करता है। इस चरम ज्ञान का भावात्मक पक्ष अमृत[39] कहलाता है। हिरण्ययकोश-स्थ यह अमृत ही वह सोम है जिसे आपः को मथकर अन्तिम रत्न के रूप में देवासुर प्राप्त[40] करते हैं। अदिति से प्राप्त होने के कारण यह अमृत आदित्य भी (माश ४.२.६.१६) कहलाता है।

घृत को अपने चक्षु एवं अमृत को अपने मुख रूप में स्वीकार करते हुए, आत्मा-रूप उक्त जातवेदाः अग्नि स्वयं को 'अजस्र घर्म' नामक 'हविः' तथा 'अर्कस् त्रिधातुः' भी कहती है,

अग्निर् अस्मि जन्मना जातवेदा
घृतं मे चक्षुर् अमृतं म आसन्।
अर्कस् त्रिधातू रजसो विमानो-
अजस्रो घर्मो हविर् अस्मि नाम॥ ऋ ३.२६.७

आत्मा-रूप अग्नि के इस 'अजस्र घर्म' रूप को ब्रह्मवर्चस् (तैसं २.२.७.२), अर्थात्, ब्रह्म का, अदिति से प्राप्त, ब्राह्म अथ वा आदित्य तेज (काठ ३१.६; माश ९.४.२.१९) भी कहा जाता है। आत्मा के इसी आदित्य रूप (काठ १०.८; माश १०.६.२.६) को अर्क वा सूर्य, चक्षु,

३५ तुलनीय, साक्षात्कृतपरतत्त्वरूपोऽग्निः स्वात्मनः सर्वात्मकत्वानुभवम् आविष्करोति।

३६ रेतःसिक्तिर् वै घृतम्। कौ १६.५

३७ तुलनीय, घृतं दुहानादितिर् जनाय। काठ ३१.१४

३८ यद् वै तद् आत्मानम् ऐट्ट सेडाभवत् तद् इडाया इडात्वम्। मै ४.२.३ तुलनीय, सजूर् वैश्वानर इडया घृतेन। मै २.१२.३; ३ ४ ४; काठ २२.४

३९ स एतेन प्रज्ञेनात्मनोत्क्रम्य स्वर्गे लोके सर्वान् कामान् आप्त्वामृतोऽभवत्। ऐआ २.५.६

४० काठ २२.१-२

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

अजस्र ज्योति, आदि भी कहा जाता है (काठ ७.१४; तै १.१.७.२)। यह अर्क अथ वा अग्नि ही 'पुरुष' है (माश १०.३.४.५) जो अपने स्थूलतम रूप में अन्नमय पुरुष (माश १०.३.४.५) से लेकर प्राणमय (माश १०.४.१.२३; ६.२.७), आदि सूक्ष्म स्तरों को दृष्टि से, घर्म, शुक्र, ज्योतिः, सूर्य नामक अग्नि-नामों द्वारा भी (माश ९.४.२.२५) जाना जाता है। अर्क त्रिधातु है (ऋ ३.२६.७) क्यों कि, जैसा कि ऊपर देख चुके हैं, अन्नमय से लेकर मनोमय तक इसमें इंद्र, अग्नि एवं सोम पृथक् पृथक् हैं, जब कि विज्ञानमय में वे परस्पर संयुक्त इकाई बनकर हिरण्यय कोश में पूर्णतया ऐसे एकीभूत होते हैं कि उन्हें किसी भी एक नाम से पुकारा जा सकता है। वहां वे रजस् की एक ऐसी अद्भुत निर्मिति (रजसः विमानः) बन जाते हैं जिसमें ब्रह्मवर्चस् (घर्म) अथ वा अमृत (हवि) का एक अजस्र प्रवाह होता है। यही आनन्द रस अथ वा अजस्र ज्योतिर्मय सोम (ऋ ९.११३.७) है जिसको वास्तविक[41] एवं पक्व (श्रृतं) हवि (ऋ ९.११४.४; मै ५.३) माना जाता है। स्तर-भेद अथ वा आयाम-भेद से, सोम नामक हवि के पाँच मुख माने गए हैं। इनके पारिभाषिक नाम 'ब्राह्मण, राजा, श्येन, अग्नि तथा सोम'[42] हैं। इससे स्पष्ट है कि मानव-व्यक्तित्व में हिरण्यय कोश से प्राप्त आनन्दानुभूति अथ वा ब्रह्मबल किस प्रकार विविध रूप ग्रहण करता हुआ माना गया है। सोम नामक संपन्नतम यज्ञ की भी जो पांच विधाएं मानी गई हैं उनमें तीन सवनों के अतिरिक्त, एक 'प्राक्सवन' तथा पंचमी 'ऊर्ध्वा विधा' (ऐआ २.३.३) कही जाती है। ऊर्ध्व सोम के ही 'विश्वा रूपा' अन्य स्तरों पर (ऋ ९.८५.१२) देदीप्यमान होते हैं।

आत्मा का अर्क रूप 'वर्षिष्ठ रत्न' 'शतधार उत्स' (ऋ ३.२६.८-९) है। यह अन्यत्र 'वर्षिष्ठ ऋत' (ऋ ३.५६.२), अग्नि का 'वर्षिष्ठ वसु' (ऋ १.८.१; १.१७.७) इंद्र वा सूर्य का 'वर्षिष्ठ द्यौ' (ऋ ४.३१.१५-१६), वरुण, मित्र, अर्यमा का 'वर्षिष्ठ क्षत्रम्' (ऋ ५.६७.१) तथा हिरण्यय रथ का 'वर्षिष्ठ श्रव' (ऋ ८.४६.२४) भी कहलाता है। यह, निस्संदेह, एक बेतुकी बात लगती है कि अभी अभी जिसको जातवेदाः अग्नि कहा गया वही अब अन्यान्य देव-नामों से जुड़ा हुआ प्रतीत होता है। पर, वास्तव में, यह आत्मा-रूप जातवेदाः अग्नि हमारे शरीर में अन्य अनेक देवों (शक्तियों) का रूप (ऐ १.२८) धारण करता है और उसी के उच्चतम रूप में आकर वे अन्य सब शान्त (मै १ ८.६) हो जाते हैं। अतः उसको अग्नि कहना उतना ही ठीक है जितना सोम, सूर्य, इन्द्र, आदि कहना। अतः कभी उसे अग्नि, सोम, सूर्य (तैसं ४.४.११.२; काठ २२.५), तीन नामों से एक साथ पुकारा जाता है, तो कभी (ऋ १.२) उसको ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, वरुण, मित्र, अर्यमा, अदिति इडा, आदि भी कहा जाता है।

इंद्राग्नी, सूर्य और विष्णु का परम पद

हिरण्ययय कोश से अवतीर्ण होकर आत्मा ने जो अनेक रूप धारण कर रक्खे हैं उन सबमें उसके पूर्वोक्त 'त्रिधातु अर्क'-रूप के इंद्राग्नी तो रहते ही हैं। पर तृतीय धातु (सोम) के इंदु भी अपने पूर्व्य वा उपर्य रूपों (ऋ ९.७७.३) में मिश्रित रहते हैं। इंद्र और अग्नि, दोनों क्रमशः क्रियात्मक एवं ज्ञानात्मक दृष्टि से प्रमति पिता[43] कहलाते हैं, जब कि सोम अदिति का दूध है जो इन प्रमतियों की मतियों से छनता हुआ (पुनानः) एक सुनियंत्रित वाजी की (अश्व) की तरह अरातियों (ऋ ९.९६.१५) को पार करता है। वास्तव में आत्मा-रूप जातवेदाः अग्नि की यह तृतीय धातु (सोम) सब मतियों का तथा इंद्र, अग्नि और विष्णु का भी जनक (ऋ ९.९६.५) है क्यों कि वह आत्मा की उस इच्छाशक्ति का द्योतक है जो उक्त दोनों प्रमतियों (इन्द्राग्नी) की प्रेरक है। सोम से युक्त

---

४१ एतत् खलु वा एतर्हि हविर् यत् सोमः। मै ४.५.३, हविर् वै देवानां सोमः। माश ३.५.३.२; हविः पर्यग्निकृतः सोमः। काठ ३४.१५

४२ पञ्चमुखोसि। (१) ब्राह्मणस् त एकं मुखं, (२) राजा त एकं मुखं, (३) श्येनस् त एकं मुखं, (४) अग्निष् ट एकं मुखं, (५) त्वयि पञ्चमं मुखं, तेन मुखेन सर्वाणि भूतान्य् अत्सि। कौउ २.९; शांआ ४.९

४३ ऋ १०.१००.५; ७.२९.४; ६.४५.८; १.१०९.१; १.३१.९; १०; १४; १६

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

होने के कारण ही इन्द्र और अग्नि मानव-व्यक्तित्व (ऋ ४.२८.१) के शत्रुओं के हनन वा दग्ध करने में (ऋ ४.२८.३) सफल होते हैं।

अतः जिस नरश्रेष्ठ ने अपने भीतर सोम का अभिषवण इन्द्रार्थ कर लिया, 'भारत' अग्नि उसी को शर्म प्रदान करता है और वही उदय होते हुए सूर्य (आत्मा-रूप जातवेदा:) को सदा देखता है (४.२५.४) क्यों कि, जैसा कि इसी सिलसिले में ऋग्वेद अगले दो सूक्तों में (४.२६-२७) बतलाता है, वह वस्तुतः एक आत्मतत्त्व है जो मनु, सूर्य, कक्षीवान् ऋषि, कुत्स आर्जुनेय होता है, श्येन बनकर सोम लाता है, इन्द्र रूप में सोम को पीता है, और सोम रूप में सहस्रों सवनों में प्रकट होता है। मनु और सूर्य होने का तात्पर्य है मानव-व्यक्तित्व के हिरण्मय कोश में स्थित आत्मा-रूप जातवेदा: अग्नि, जिसे ऊपर अर्क, घर्म, सूर्य, आदित्य, आदि कहा गया है। यही अंधकार से परे वह आदित्यवर्ण पुरुष है जिसको जानकर मृत्यु के उस पार पहुँचा (य ३१.१८) जा सकता है। हिरण्मय कोश की यह ज्योति 'उत्तम' है। पर विज्ञानमय कोश में, वह इससे कम, पर मनोमय की अपेक्षा उच्चतर ('उत्तर') होती (ऋ १.५०.१०) है। हिरण्मय कोश में वह सविता देव है जिसके 'तत् वरेण्यं भर्ग:' (ऋ ३.६२.१०) का हम ध्यान करते हैं। पर विज्ञानमय कोश में वह हिरण्यपाणि (हिरण्मयपाणि नहीं) सविता देवता (देव नहीं) है जो 'पद' को जानने वाला (ऋ १.२२.५) अवश्य है पर स्वयं वह 'पद' नहीं जिसे, इसी प्रसंग में, आगे विष्णु का 'परम पद' (वही, २०) कहा गया है। निस्संदेह, यह सविता देवता मनोमय से लेकर अन्नमय तक के नर (व्यक्ति) को देखनेवाला है और उसी के हितसंपादन के लिए अपने धन को विभक्त करनेवाला भी (वही, ७) है। इसका अर्थ है एक देवता का अनेक देवी-देवताओं में हो जाना। अत एव, तुरंत देवपत्नियों (वही, ९) तथा इन्द्राणी, वरुणानी, अग्नायी, द्यौ, पृथिवी (वही, १२-१५) के आगमन की बात होती है। यह भी स्पष्ट कर दिया जाता है कि ये देवियाँ व्यष्टिगत आत्मा की ही पत्नियाँ वा शक्तियाँ (वही, ११) हैं।

शक्तियों से शक्तिमान् अभिन्न होते हैं। अतः इन देवियों के आते ही सब देव (शक्तिमात्) भी आ जाते हैं और सातों धामों द्वारा उस पद की रक्षा करने लगते हैं जहाँ से विष्णु ने (वही, १६) तीन क़दम रक्खे थे। वह परम पद छिपा हुआ है (वही, १७)। उसको विष्णु ने त्रेधा स्थापित किया। अपने तीनों कदमों द्वारा विष्णु ने धर्मों (धर्माणि) को धारण (वही, १८) किया और वे कर्म किए जिनमें विष्णु इन्द्र का 'युज्यः सखा' (वही, १९) रहा। और अग्नि तो देवपत्नियों (देवियों) को बुलाने के लिए उत्तरदायी (वही, ९) था ही। इस प्रकार इन्द्र और अग्नि के विशेष सहयोग से, और सभी देवों और देवियों की सहायता से विष्णु के परम पद की स्थापना और रक्षा संभव होती है।

अदिति देवता, आपः, अन्य देवता और देव

यहाँ विशेष रूप से स्मरणीय यह है कि सविता 'देव' का एक 'देवता' रूप भी है और उसी का विभाजन अन्य देवताओं और (देवियों) के रूप में होता है। देव का देवत्व ही देवता है। ऋग्वेद के अनुसार, अग्नि सब देवों का पिता होते हुए भी (१.६९.१), पुत्र होकर, उषा के प्रेमी के समान प्रकट होकर (वही, २), अपने देवत्व द्वारा अनेक रूपों में (वही, ६) हो जाता है। यह देवत्व ही उस देव का वह महित्व (१.६८.१) है जिसके द्वारा वह सब देवों में रूपांतरित होता है। यही वह देवत्व है जो ऋत और अमृत (वही, २), सूर्य का देवत्व-महित्व (१.११५.४), मित्रावरुण का 'क्षत्रं न देवत्व' (१ १३६ १) वा देवत्व (१.१५१ ६) है जिसकी रक्षा, आदित्यों और मरुतों को साथ में लेकर, इन्द्र असुरों के वध (१०.१५७ ४) द्वारा करता है। यह देवत्व वही देवता है जिसके प्रति बृहस्पति, मित्र और वरुण, आदि को आकर्षित किया जाता है और जो आदित्यों, वसुओं एवं मरुतों से युक्त अनेकता-वृष्टि करनेवाला पर्जन्य भी (१०.६८.१) कहलाती है। अपने परायणम् और आयनम् द्वारा मथकर इसी देवत्व द्वारा अश्विनौ हमको मधुमत् (१०.२४.६) बनाते हैं।

इसका निष्कर्ष यह हुआ कि सविता देव के समान अन्य देवों का भी देवत्व वा देवता-रूप होता है। तदनुसार यजुर्वेद (१४.२०) में अग्नि, वात, सूर्य, इन्द्र, वरुण, बृहस्पति और चन्द्रमा के अतिरिक्त वसुओं, रुद्रों, आदित्यों, मरुतों एवं विश्वे देवों को भी 'देवता' कहा

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

गया है जब कि अन्यत्र वे सब देव हैं। वास्तव में देवत्व वा देवता किसी देव का गुण वा शक्ति है जो सक्रिय होती है तो उसके कारण संबंधित देव भी सक्रिय प्रतीत होता है। इसी दृष्टि से पूर्वोक्त सविता देवता के विभाजन के फलस्वरूप जो अन्य देवता वा देवियाँ आई उनके पश्चात् ही देवों का आना कहा गया है। अतः सबका प्रसविता होने के कारण, सविता को ब्रह्म, तो उसके देवत्व वा देवता पक्ष को पूर्वोक्त वाक् अथ वा उभयतः शीर्ष्णी अदिति वाक्, कह सकते हैं। वह पर को अपर में, तो अपर को पर में परिणत करती रहती है, समान को विपर्यास में, तो विपर्यास को समान में बदलती रहती है (माश ३.२.४.१६); इसी उभय गति के कारण, वह प्रायणीय एवं उदयनीय (तैसं ६ १७.५), सुप्रतीची एवं सुप्राची (काठ २.५२; तैसं १.२.४.२), दोनों कही जाती है। पर यहाँ सविता की देवता-रूप अदिति वाक् केवल उस अपर, विपर्यास, उदयनीय तथा सुप्राची रूप की द्योतक है जहाँ एकता अनेकता में परिणत होती है। उसका दूसरा रूप, जैसा कि आगे बताया गया है, विष्णु का परम पद है।

प्रथम रूप ही आपः है। ये आपः यद्यपि पूर्वोक्त सूर्य वा जातवेदाः अग्नि में समाहित (तैआ १.८.१) होते हैं, अविनाशी सत्य वा ओम् में प्रतिष्ठित (जै और वृत्र-रूप गिरि में आबद्ध (मै ४.५.१; माश ७.५.२.५४) होते हैं, पर वे वस्तुतः प्राणों और आत्मा, दोनों में (माश ७ २.४.१०) विद्यमान हैं। आपः अपने परम स्थान, सलिल, में प्रजापति हैं (माश ८.२.३.१३; तैआ १.२३.१), प्रजापति—जो एक से अनेक होने का इच्छुक है पर जो अपने 'सलिलानि' रूप में प्राणाः(तैआ १.२६.५; जैउ ३.१०.९)-रूप विश्वे देवाः (मै ४.५.१; ३), सर्वा देवताः (काठ २५.३; ३४ १८; ऐ २.१६), मरुतः (ऐ ६.३०; कौ १२.८; माश ६.४ १.९), वरुणानीः वा वारुणीः (मै ४.३.१०; काठ ८.५.; क ७.१), ओषधयः अथ वा रेवत्यः (मै ४.२.१०), आदि कहे जाते हैं। हिरण्यवर्णा आपः में कश्यप और इन्द्र विचरते हैं, और आपः अग्नि (मै २.१३.१) को गर्भ रूप में धारण करते हैं। आपः में राजा वरुण जनों के सत्यानृत का विवेचन करता हुआ (मै २.१३.१) विचरता है।

पूर्वलेखानुसार, ये आपः मूलतः वही वाग्-रूप रेतस् हैं जो 'सलिलं' से 'सलिलानि' होने में एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी और नवपदी होकर परम व्योम में सहस्राक्षरा (ऋ १.१६४.४१) होती कही जाती है। मानव-व्यक्तित्व की चेतना जिन ९ आयामों में व्यक्त होकर दशम पद में पहुँचती है उसी ओर यहां संकेत है। सांख्य दर्शन में अव्यक्त प्रकृति, महत्, अहंकार, मन के साथ, पञ्च ज्ञानेंद्रियों का योग नव पदों का एक समुच्चय है, तो पञ्च प्राणों का योग दूसरा उदाहरण है, और पञ्च भूतों का योग तीसरा उदाहरण। ये ही आपः की त्रिविध सृष्टियां (दिव्य, पार्थिव और समुद्रिय) (मै ३ ६.३) कहलाती हैं। एक दूसरी दृष्टि से इन नौ पदों को क्रमशः (१) एकाक्षर ऋक् ओम्, (२) सब कामों, (३) सब लोकों, (४) सभी देवों, (५) सभी वेदों, (६) सभी यज्ञों, (७) सभी व्युष्टियों, (८) सभी भूतों तथा (९) सभी स्थावर-जंगमों के रूप में प्रस्तुत किया गया[44] है। इनमें मानव-व्यक्तित्व की वह सब सृष्टि आ जाती है जो वैदिक शब्दावली में 'यातयामन्'[45] कहलाती है। पर, इन सबमें निहित और सबसे भिन्न एक 'अयातयाम'[46] तत्व है जो इन नव पदों से संबद्ध होने के कारण 'नवनीत' (तैसं २.३.१०.१; मै २.३.४) तथा इन नव से प्रकृष्ट होने के कारण 'प्रणव' कहा जाता है। यही अदिति का पर पक्ष ओमा (जै १.१.१.६) से अभिन्न है।

उभयतःशीर्ष्णी अदिति वाक् का यह पक्ष पर, समान, प्रायणीय तथा सुप्रतीची कहा जाता है जो, दूसरे से विपरीत, एकत्व, समत्व (साम, शांति, आदि का द्योतक है। अतः इसकी तुलना विष्णु के परम पद से की जा

४४ गो १.१६

४५ तुलनीय सर्वा वा अन्या देवता यातयाम्नीः प्रजापतिर् एवायातयामा। मै ४.८.९ लौकिक संस्कृत में 'यातायाम' का अर्थ बासी होता है। पर वेद में यातयाम वह है जो यामन् (मार्ग) पर चला गया (यात), जब कि अयातयाम उसके विपरीत गतिहीन है।

४६ स ओम् इत्य् एतद् अक्षरम् अपश्यद् द्विवर्णं चतुर्मात्रं सर्वव्यापि सर्वविभु अयातयाम। ब्रह्म ब्राह्मीं व्याहृतिं ब्रह्मदैवतम्। गो १.१६

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

सकती है जहां भूरिशृंगा गौएं (समस्त अनेकता) एकीभूत होती (ऋ १.१५४ ६) कही जाती हैं। यह परम पद विष्णु के उन तीन उरु विक्रमणों (लंबे डगों) के बाद आता है जिनमें सब भुवन (अनेकता) निवास करते हैं (वही, २)। अतः अपने परम पद के स्तर पर विष्णु एकीभूत देवताओं का 'उत्तम' मुख है, जब कि पूर्वोक्त जातवेदाः अग्नि के रूप में, वह उन देवताओं का प्रथम' मुख (काठ ४.१६) है। इसका अर्थ यह हुआ कि अनेकता को एकता में परिणत करने की दृष्टि से दोनों एक से हैं पर फिर भी दोनों में कुछ अंतर है। देवताओं के समान देवों का भी मुख अग्नि है, जब कि विष्णु उनका 'पर अन्त' (काठ १९.८) है।

शिपिविष्ट एवं परम पद

अग्नि और विष्णु का अन्तर एक अर्थवादी आख्यान[47] द्वारा बतलाया गया है। वरुण सो रहा था। तब उसका इन्द्रिय वीर्य दशधा विभक्त होकर निकल पड़ा। उसका प्रयोग विभिन्न देवों ने अपने अपने देवता के द्वारा इस प्रकार किया, अग्नि ने देव द्वारा प्रथम दिन। सरस्वती ने वाक् द्वारा दूसरे दिन। सविता ने प्रसव द्वारा तीसरे दिन। पूषा ने पशुओं द्वारा चौथे दिन। बृहस्पति ने ब्रह्म द्वारा पांचवें दिन। इन्द्र ने देव द्वारा छठे दिन। वरुण ने अपनी देवता द्वारा सातवें दिन। सोम ने राजा द्वारा आठवें दिन। त्वष्टा ने रूप द्वारा नवें दिन। विष्णु ने यज्ञ द्वारा दशवें दिन। और वह अन्ततः यज्ञ मे रहा।

इसका तात्पर्य क्या है? अभिप्राय यह है कि ब्रह्मवीर्य को ग्रहण करने की जो साधना हमारे भीतर जातवेदाः अग्नि से आरम्भ होती है उसे, नौ तक गिनती गिनने के बाद, कहीं दशवें स्थान पर विष्णु—यज्ञ में प्रतिष्ठित होने का अवसर मिलता है। तो विष्णु[48] भी तत्त्वतः वही वीर्य है जो अग्नि, सोम से लेकर त्वष्टा तक में है पर यहां वह दशम स्तर पर है। नवम स्तर पर त्वष्टा है जो रूपों का पेषण (ऋ १०.१८४.१) करता है। उसका सम्बन्ध 'पिंश्' (रूप-निर्माण) और 'पेश' (रूप) से है, जब कि विष्णु, उससे विपरीत, किसी 'अन्य रूप' से सम्बन्धित है। पिंश् के वर्णविपर्यय द्वारा उस अन्य रूप को 'शिप्' नाम दिया गया, और विष्णु को शिपिविष्ट, अर्थात्, अन्य रूप शिप् में व्याप्त (ऋ ७.१००.७) कहा गया।

शिपिविष्ट रूप, त्वष्टा के पिंश् वा पेश से भिन्न होने के कारण, 'अन्यरूप' (ऋ ७.१००.६) कहलाता है। विष्णु से प्रश्न किया गया, 'हे विष्णु! सर्वतः दर्शनीय तुम्हारा क्या है जो तुम अपने को शिपिविष्ट कहते हो? और साथ ही प्रार्थना की गई कि समिथ (समष्टि) में जो तुम्हारा यह अन्यरूप हो गया, उसे हमसे मत छिपाओ।' (ऋ ७.१००.६) इसका स्पष्ट अर्थ है कि पूर्वोक्त जातवेदाः अग्नि जहां व्यष्टिगत चेतना है, वहां विष्णु समष्टिगत चेतना का द्योतक है। इसी लिए उसको सभी दिशाओं द्वारा ईड्य (काठ ३५.२; क ४८.३) कहा जाता है। जब तक वह चेतना व्यष्टि के अंतस् में सीमित है तब तक वह 'वामन' है। पर ज्यों ही वह व्यक्ति, परिवार और समाज के जीवन में तीन क़दम बढ़ाती है त्यों ही वह विष्णु (व्यापक) हो जाती है (मै ३ ८.३)। अत एव प्रत्येक शिशु के प्राण-रूप देव आरम्भ से ही प्रार्थना करते रहते हैं, 'हे विष्णु (व्यापनशील)! तुम खूब विस्तृत (उरु) कदम बढ़ाओ और हमको विस्तीर्ण निवास-स्थान के योग्य बनाओ, **उरु विष्णो! वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस कृधि।** तैसं १ ३.४१ इन तीन लोकों के साथ साथ ही उसके तीन क़दमों में वेदत्रयी और समस्त वाक् (ऐ ६.१५), अर्थात्, पूर्वोक्त नौ पद भी आ जाते हैं।

इन नौ के अतिरिक्त जो दशम है वही विष्णु का परम पद है जिसको विष्णु देवता द्वारा दशमी अवस्था में पाया जाता है।[49] इसके निर्माण का एक सारगर्भित वर्णन ऋ १०.१८४ में प्राप्त है। यहाँ इसको ऐसा गर्भ कहा गया है जो दशवें प्रकाश (मासि)[50] में पैदा होता है (वही, ३)। यह दशम प्रकाश परम पद का है। यह वह अग्नि है जिसे अश्विनौ-रूप दो हिरण्मयी अरणियों ने

४७ तै १.८.१.१-२

४८ वीर्यं विष्णुः। तै १.७.२.२; यो वै विष्णुः सोमः सः। माश ३.३.४.२१; ६.३.१९

४९ यद् अनु समसर्पत तत संसृपां संसृपत्वम्। तद् विष्णुनैव देवतया दशम्याम् अन्वविन्दन्। जै २.२०१

५० माः शब्द का सप्तम्यन्त रूप। भाष्यकारों ने इसे प्रायः महीना अर्थ में ग्रहण करके भूल की है।

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

मथकर निकाला है (वही, ३)। उससे पूर्व दोनों पुष्कर-स्रजौ अश्विनौ और दो देवियों (सिनीवाली-सरस्वती) को इस गर्भ के धारण और आधान करनेवाले (वही, २), प्रजापति को सेचन करनेवाले, धाता को धारक, त्वष्टा को रूप-पेषक, तथा विष्णु को योनिनिर्माता (वही, १) कहा गया है। अभिप्राय यह है कि विष्णु के परम पद तक पहुँचाने में मानव-व्यक्तित्व के सामाजिक पक्ष का भी बहुत बड़ा हाथ है। यह पक्ष भी व्यक्ति की प्रायः उन्हीं शक्तियों से काम लेता है जिनका उपयोग पूर्वोक्त 'अर्क' के निर्माण में हुआ था। पर, जैसा कि उक्त दश पदों के प्रसंग में कहा गया, यहाँ वरुण के वीर्य से कार्य आरंभ होता है। अशान्त आपः जब भगवान् को राजा रूप में वरण करते हैं तभी आपः को आवृत करनेवाला, 'वरुण' के आधार पर, 'वरुण' नामधारी हो जाता है और अंगिरा बनकर अंगिरस वीरों को जन्म देता है।[51] इसका परिणाम होता है ब्रह्मज्ञों के हृदय में श्रेष्ठ वेद का उद्भव।[52] उससे पूर्व पूर्वोक्त बृधत्, करत्, रुहत्, महत्, तत् नामक महाव्याहृतियों का जन्म[53], प्राणों रूपी आपः द्वारा इन्द्र के लिए एक 'पुष्कर' नामक ऊर्ध्व पुर[54] का निर्माण (माश ७.४.१.१३) और पुष्कर में ब्रह्म द्वारा नव-सृष्टिकर्ता ब्रह्मा की सृष्टि (गो १.१.१६)। इसी पुष्कर के सम्बन्ध से अश्विनौ को 'पुष्करस्रजौ' कहा जाता है। यह पुष्कर ही पूर्वोक्त 'अक्षरम् ऊर्ध्वं मनः' है और उसकी 'आवत्' और 'परावत्' नामक दो गतियाँ ही पुष्करस्रजौ अश्विनौ हैं जो अन्ततोगत्वा हिरण्मय कोश के संबन्ध से हिरण्मयी अरणि बनकर दशम प्रकाश में विष्णु पद को उद्घाटित करते हैं।

इस सृष्टि में, सरस्वती और सिनीवाली का विशेष योग है। इनमें सिनीवाली को हाड़-मांस के शरीर से संबन्धित (काठ ३८.१४) जगती (मै ४.३.५; ३.४७) शक्ति वा गौ (ऐ ३.४८) कहा जाता है जो हाथों, अंगुलियों, आदि के माध्यम से सुन्दर कलाकृतियों, वस्त्रों, प्रभृति के रूप में प्रजासृष्टि करती है। इसी लिए उसको 'सुपाणिः' (तैसं ३.३.११.५) 'स्वङ्गुरिः सुषूमा' (तैसं ३.१.११.४) तथा 'सुकपर्दा, सुकुरीरा, स्वौपशा युवती' (माश ६.५.१०) के रूप में चित्रित किया जाता है। इस श्रमशक्ति के विपरीत, 'धीनाम् अवित्री' (तैसं १.८.२२.१) और सत्यवाक् (मै २.६.१३) सरस्वती सूक्ष्म आंतरिक चेतना की नदी (मै ४.१४.७) है। ये दोनों एक दूसरे से भिन्न इसलिए कही जाती हैं कि सरस्वती का क्षेत्र मुख्यतः 'अर्क' (आंतरिक साधना) है, जब कि सिनीवाली का प्रमुख क्षेत्र सामाजिक वा बाह्य है जिसको 'राष्ट्रम् अश्वमेधः' कहा जाता है।[55] पर जिस प्रकार अर्क और अश्वमेध को एक ही महायज्ञ के दो तनू[56] कहा जाता है उसी प्रकार सरस्वती एवं सिनीवाली को एक स्तर पर 'अमावास्या' नाम से एक ही माना जाता है।[57] मानव की इन द्विविध साधनाओं के सम्मिलित एवं समन्वित प्रयास से ही उस 'विष्णु – यज्ञ' का आविर्भाव होता है जो विष्णु के परम पद को ले जा सकता है।

मैथुनी और अमैथुनी सृष्टि

मानव-व्यक्तित्व का जो विकास विष्णु—यज्ञ से होता है वह अमैथुनी सृष्टि है, जब कि इससे पूर्व उसका व्यक्तित्व पूर्वोक्त दिव्य मिथुन से निरंतर विकसित होता है। इस प्रकार, मानवात्मा-रूप यजमान (कौ १७.७; तैआ १०.६४.१) द्विजन्मा होने से 'द्विज' है—प्रथम जन्म, मैथुनी सृष्टि तो इस लोक, अर्थात्, व्यक्तिगत भौतिक जीवन के लिए है, और द्वितीय पर लोक, गन्धर्वलोक, देवलोक एवं स्वर्ग लोक के लिए है।[58] दोनों जन्मों की साधना

५१ गो १.७-८; पूर्व लेख में सृष्टि-प्रकरण भी देखें। ५२ वही, ९ ५३ वही, १०

५४ इन्द्रो वृत्रं हत्वा नास्तृपीति मन्यमानोपः प्राविशत् ता अब्रवीद् बिभेमि वै, पुरं मे कुरुतेति स योपां रस आसीत् तम् ऊर्ध्वं समुदौहंस् ताम् अस्मै पुरम् अकुर्वत तस्मात् पुष्करम् माश ७.४.१.१३

५५ माश १३.२.२.१६; तै ३.८.९.४

५६ तैसं २.२.७.५

५७ तैसं ३.५.१.४; मै १.४.१५; गो २.१.१२; तैसं ३.४.९.६

५८ द्विर् ह वै यजमानो जायते मिथुनाद् अन्यज् जायते यज्ञाद् अन्यत्। तद् यन् मिथुनाज् जायते तद् अस्मै लोकाय जायते। अथ यद् यज्ञाज् जायते तद् अमुष्मै लोकाय जायते गंधर्वलोकाय, देवलोकाय स्वर्गलोकाय जायते। जै १.२५९

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

साथ साथ चलनी है। एक में अग्नि की अर्चि हमें पवित्र करे, तो दूसरे में ब्रह्मरेतस् सोम (ऋ ९.६७.२४)। इन्हीं दोनों उपायों से सविता हमें विश्वतः पावन (वही, २५) करता है। इस पवित्रीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप द्विज आत्माओं के प्राणों की 'पावमानीः' (जै १.२७५) संज्ञा होती है। मानव के भीतर एक ब्रह्मगिरि है जिसके शिखर चक्षुः, श्रोत्र, मन, वाक् और प्राण हैं। इनकी संयुक्त अभिव्यक्ति की गिरा आत्मा के द्वेषी पापी का नाश (ऐआ २.१.८) करती है। गिरि पर स्थित सोम और अग्नि-प्रेरित उभयात्मक गिरा पवित्रीकरण करती हैं (मै २.१.४)। और इस प्रकार अग्नि एवं सोम के तेज को ग्रहण करके आत्मा समर्थ इंद्र (मै २.१.४) बनता है। इन दोनों के रूप में इन्द्र को जो वीर्य प्राप्त होता है उसी से वह वृत्रवध (मै २.१.३.; ४.३.१; काठ २४.७; ३२.१; क ३७.८) करता है। अग्नीषोमौ उस तेज वा ब्रह्मवर्चस् के दाता (मै २.१.४; काठ १०.२) हैं जो वस्तुतः वेदमाता गायत्री (जै १.२३२; ऐआ १.१.३) है। गायत्री की सहायता से ही हमारे प्राण-रूप देवगण उक्त पावमानी प्राणों को प्रेरित तथा एकीभूत करके आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण और ब्रह्मवर्चस् को देखकर ब्रह्मलोक में समाहित होते (अ १९.७१.१) हैं। इसी एकीकरण-प्रक्रिया का अंतिम परिणाम है परम पद।

फिर भी अभी परम पद दूर है। ये सात वस्तुएं तो सप्त शीर्ष्णी वृहती धी (ऋ १०.६७.२) की उक्थ (उपज) हैं और अहम्[59] से ऊपर नहीं जातीं, अहम्, अर्थात्, पञ्च ज्ञानेंद्रियों समेत मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कोश की अष्टपदी वाक्। परमपदी होने के लिए इस सप्तशीर्ष्णी वृहती को नवस्रक्ति[60] होना पड़ेगा। तब कहीं मानव-व्यक्तित्व वृहस्पति (वृहती का स्वामी) बनकर अवशिष्ट तीन तामस पुरों का भेदन[61] करके उषा, सूर्य गौ और अर्क को जानेगा, तथा ब्रह्मणस्पति होकर घर्मस्वेदों द्वारा द्रविण को व्याप्त करेगा।[62] इस सबका अर्थ है मानव-व्यक्तित्व के सभी देवों (प्राणों) का क्रमशः एकीभूत होते हुए अन्ततोगत्वा विष्णु-क्रम द्वारा दशम स्तर पर परम पद की प्राप्ति (माश ६.७.२.१०) अथ वा 'इदं कृतं कर्म' के पश्चात् पुरुष (मानव-व्यक्तित्व) का ही ब्रह्मलोक हो जाना।[63] 'इदं कृतं कर्म' का अर्थ है विष्णु का व्यक्त यज्ञ रूप, और 'परम पद' का तात्पर्य है विष्णु का वह रूप जो इस यज्ञ से अनिरुक्त (अव्यक्त) रह जाता है।[64] आत्मगत विकास (ओदनपचन), परिवार के संदर्भ में होनेवाला विकास (गार्हपत्य) और समाज-सापेक्ष विकास (आहवनीय) ही त्रिविक्रमण है। इनमें विष्णु का व्यक्त रूप सीमित[65] है। पर उसका अव्यक्त रूप असीम, अनन्त तथा अव्यक्त है।

५९ तुलनीय, आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्। अ १९.७१.१

६० नवस्रक्ति इति वृहती सम्पद्यमाना। ऐआ २.३.६; तुलनीय, जै ३.८९

६१ ऋ १०.६७.५

६२ वही, ७

६३ तदिदं कर्म कृतम् अयं पुरुषो ब्रह्मणो लोकः। ऐआ २.१.३

६४ विष्णुर् ह्य् एतर्हि यज्ञो यर्ह्य् अनिरुक्तः। क ३८.१

६५ दै ४.१.१२

मंत्रों के देवता, ऋषि और छन्द

सृष्टि और आत्मन्वी ब्रह्म के प्रसंग में प्राणों के विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है। आत्मन्वी ब्रह्म की मूल शक्ति मानव-व्यक्तित्व के प्राण का एक मात्र स्रोत है। यह प्राण आत्मा की वह शक्ति है जिसके द्वारा वह अपने को व्यक्त करता है। मनुष्य अपने को जिस शक्ति के द्वारा व्यक्त करता है उसे **बोली, वाणी** अथ वा **वाक्** कहते हैं। अतः आत्मा की उस प्राण नामक शक्ति को भी **वाक्** कहा गया। यह 'वाक्'-प्राण एक से अनेक होता है, और पुनः

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

अनेक से एक होता है। पहली को वाक् की 'अर्वाक् गति' अथ वा अवरोहण कहते हैं, तो दूसरी को 'पराक् गति' वा आरोहण कहते हैं।

'वाक्'-प्राण के जिस स्तर पर दोनों गतियों का मेल होता है वह उभयतःशीर्ष्णी अदिति वाक् (माश ३.२.४.१६) है। सांख्य में इसी की 'महत्' संज्ञा है जो, प्रकृति-विकृति होने से, इसी प्रकार उभयतःशीर्ष्णी है। इसी दृष्टि से, वेद में सृष्टि-वर्णन दो प्रकार का है। एक में दैवी और आसुरी भेद से नानारूपात्मक सृष्टि आती है, तो दूसरे में आसुरी सृष्टि पर दैवी शक्तियों की विजय के निमित्त आवश्यक शक्ति के प्रादुर्भाव का समावेश रहता है। पहली सृष्टि की उपज को 'पत्' अथ वा 'पतयत्'[1] कहते हैं, और दूसरी की उपज को 'तप' वा 'तपोजा'[2]।

तपोजन्य वाक् का ही एक नाम **मंत्र**[3] है। अपने परम रूप में वही 'एक' है और 'महद् उक्थं, गुरु' और 'गर्भ' भी कहलाता[4] है, पर व्याकृत होकर वह पंचविध रूपों में अनेकता ग्रहण करता[5] है। उक्थ्य मंत्र (महदुक्थं) में इंद्र, वरुण, मित्र और अर्यमा देवों ने अपने अपने घर बनाए हुए होते हैं (ऋ १.४०.५)। उसी को अन्यत्र (ऋ ७.३२.१३) 'अखर्व, सुधित' एवं 'सुपेशस' मंत्र कहा गया है। वह ज्येष्ठ मंत्र स्वयं इंद्र है जो यज्ञ, मंत्र, एवं वर्धमान अभिव्यक्ति (ब्रह्मोद्यतं वचः) बनता है (ऋ १०.५०.४-६) और जिसका निर्माण मानसिक हृद् नामक गहराई द्वारा (ऋ २.३५.२; १.६७.२; १.३१.१३) शनैः शनैः किया जाता है। पर जो व्यक्ति अपने कर्म द्वारा इंद्र में समाहित होता है उसमें इसी मन्त्र की अनेक 'प्रसितयः' (ऋ ७.३२.१३) फैल जाती हैं और, इस प्रकार, वह अपने ही मंत्रों द्वारा क्षण-भर में समस्त द्युलोक में त्रिवृत् होकर (ऋ ३.५३.८) उसके प्रत्येक स्तर पर विविधरूपेण फैलकर आसुरी माया को आत्मसात् कर लेता है। यह सब उसी मंत्र का प्रभाव है।

ब्रह्मगिरि की त्रिवृत् शक्तियां

इसके परिणामस्वरूप, मानव-व्यक्तित्व एक ब्रह्मगिरि बन जाता है जिसमें पूर्वोक्त पंचविध मंत्र चक्षु, श्रोत्र मन, वाक् और प्राण नामक शक्तियों का एक सुदृढ़ गढ़ स्थापित (ऐआ ३.१.८) हो जाता है। प्राणों को दृष्टिभेद से 'त्रिवृत्' (जै १.३४६; तां २.१५.३; ३.६.३) कहा जाता है। अतः एक दृष्टि से, उक्त पाँचों प्राण 'देवता, ऋषि' और 'छन्द' कहे जाते हैं।

तदनुसार, बृहदारण्यक उपनिषद् (१.३) की आख्यायिका में इन पाँचों प्राण देवताओं के 'देव' हो जाने की कथा कही गई है। देवासुर-संग्राम में, असुरों को अतिक्रान्त करने की दृष्टि से, इन पाँचों में से प्रत्येक को बारी बारी से उद्गान करने को कहा गया। पर उद्गान करने से पूर्व ही, असुर प्रत्येक प्राण देवता को पापविद्ध करके प्रभावहीन कर देते थे। अतः अन्त में अपास्य प्राण से उद्गान करवाया गया। असुरों ने उसे भी पापविद्ध करने का यत्न किया। पर उनकी एक न चली। अतः देव विजयी हुए। अपास्य प्राण ने एक एक करके उन पाँचों को भी मृत्यु से पार पहुँचा दिया। इससे वे सब देव हो गए, वाक्=अग्नि देव, प्राण=वायु देव, चक्षु=आदित्य देव, श्रोत्र=दिशाएं, मन=चन्द्रमा।

ऐतरेय आरण्यक[6] की एक आख्यायिका प्राण को वसिष्ठ ऋषि घोषित करती है। कहते हैं कि वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन एवं प्राण में विवाद हुआ। प्रत्येक अपने को श्रेष्ठ मानता था। सबने अपने अपने दावे को सिद्ध करने का प्रयास किया। अन्त में प्राण ही ऐसा प्रमाणित हुआ जिसके चले जाने से अन्य सब निष्क्रिय होते हैं और जिसके रहने से सब सक्रिय हैं। अतः प्राण को 'वसिष्ठ' वा 'वस्तृतम'[7] (सर्वाधिक वसने वा वसानेवाला) ऋषि माना गया।

इसी प्रकार, अन्यत्र (माश ८.१.१.९; ऐआ २.२.२) मन नामक प्राण देवता को 'भरद्वाज' ऋषि कहा गया

---

१ ऋ ४.१.१२; १४; ३८ २; ५.६४.७; १०.७९.२; ९९.७२

२ ऋ १०.१८९.१; १०.१५४.५; ४.४.२; ६ ५२.२

३ वाग् घि मंत्रः। माश १.४.४.११; ६.४ १.७

४ ऐआ २.३.६; ऋ १. १४७.४; मै ४.४.८

५ ऐआ २.३.६

६ ऐआ २.२.२ ७ माश ८.१.१.६

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

क्यों कि वह अन्न- अथ वा प्रजा-रूप वाज का भरण-पोषण करता है। चक्षु 'जमदग्नि' (मै २.७.१६) है क्यों कि इसी से जगत् को देखते और मनन (**मनुते**) करते हैं। श्रोत्र विश्वामित्र है (माश ८.१.२.६) क्यों कि वह सर्वतः सुनता है और विश्वतः मित्र है। श्रोत्र रूप में, विश्वामित्र बाह्य शब्दों को अन्तर्मुखी करके विश्वतः मित्र बनता है, तो वही वाक् रूप में आन्तरिक मन्त्र (ब्रह्मोद्यतं वचः) को बहिर्मुखी अभिव्यक्ति करके सबका मित्र होता है। अत एव वाक् को भी (कौ १०.५; १५.१; २९.३; तां ७.७ ६) विश्वामित्र ऋषि कहा जाता है।

एक अन्य दृष्टि से, इन्हीं पांचों को **छन्द** भी कहा जाता है। 'वाक्'-प्राण 'गायत्री छन्द (मै २.४.४; ३.४.४; ४ ६.६), और अ-वाक् प्राण 'जगती' (माश १०.३ ३.१.१) कहलाता है। चक्षु प्राण को 'उष्णिक्' छन्द (जै१.३.६; माश १०.३.१.१) कहा गया, तो श्रोत्र को 'पंक्ति' छन्द (माश १०.३.१.१), तथा मन को 'बृहती' छन्द (जै २.५८; माश १०.३.१.१) घोषित किया गया।

अन्यत्र, इन पाँच सहित सब प्राणों को देवता, ऋषि अथ वा छन्द बताया गया है। **प्राणा वै 'देवताः'**। मै २.३.५; काठ ११.८; **प्राणा 'ऋषयः'**। माश ८.४.१.५; ७.२.३.५; ८.४.१.५; ऐ २.२७; **प्राणा वा इतराणि 'छन्दांसि'**। मै ३.१.६

एक दृष्टि से, छन्द, ऋषि और देवता में से प्रत्येक का समान रूप से एक सप्तक है। सप्त वै छन्दांसि। मै १.११.८; ३.१.७; ३.५.६; ३; काठ ८; क ३५.७; प्राणा वै सप्त ऋषयः। मै १.५.११; अथ यत्रैते सप्त ऋषयस् ते दिवो मध्यम्। जैउ ४.११.५.१२ तीन लोक, अन्न और प्राण का युगल, छठा पवमान तथा सातवाँ प्राण, ये सप्त देवता (माश ११.६.३.१०; तुलनीय, जै २.७७) माने गए हैं।

ऋषि, देवता, छन्द, और प्रजापति का त्रिवृत् आयतन : इससे स्पष्ट है कि ऋषि, देवता और छन्दों में, वस्तुतः, प्राणों का ही त्रिवृत्[8] रूप है जो, मूलतः, प्रजापति के त्रिवृत् आयतन[9] की देन है। मानव-व्यक्तित्व (पुरुष, जै-१.२५०) त्रिवृत् स्तोम से अन्वायत्त है। उसी के द्वारा प्रजापति ने इसमें प्रजाओं की सृष्टि की है (मै ३.६.७; काठ २३.४)। त्रिवृत् ब्रह्मवर्चस् द्वारा (जै१.६६) ही देवों ने इसमें ज्योति वितरित की है और त्रिवृत् ज्योति का स्तोम ही शिर से लेकर मूलाधार तक तेतीस-गुणा (जै १.२४८) हो जाता है। स्तोमों के इस त्रिवृतीकरण में, वस्तुतः, आत्मन्वी ब्रह्म की शक्ति (वाग्ब्रह्म) का ही का ही त्रिवृत् (ऐ ८.४) होना है। यही वह वसिष्ठ प्राण है जो त्रिवृत् स्तोम द्वारा मुख्या प्रजा (जै २.२१७) की सृष्टि करता है। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि इन त्रिवृत् स्तोमों की प्रतिष्ठास्वरूप में प्राणों[10] को स्वीकार किया जाए और उन्हें, जैसा कि ऊपर देख चुके हैं, देवता, ऋषि और छन्द कहा जाए। पर प्रश्न होता है कि ये तीनों वस्तुतः क्या हैं ?

मंत्रों की देवताएं

निस्संदेह, इनके स्वरूप को उसी मानव-व्यक्तित्व (पुरुष) के संदर्भ में समझा जाना चाहिए जिसे ब्रह्मगिरि, प्रजापति का आयतन, आदि कहा गया है। इस संदर्भ में, पिछले लेख के आत्मन्वी ब्रह्म की चर्चा का पुनः स्मरण करना आवश्यक है। उस प्रसंग में, मानव-व्यक्तित्व के एक ऐसे हरियोग की चर्चा हुई थी जहाँ अग्नि, इंद्र और सोम, तीनों एकीभूत होते हैं। उस इकाई को तीनों में से किसी भी नाम से पुकारा जाता है। यहाँ आत्मा अपनी वाक् वा प्रकृति से भी अभिन्न होता है। इस स्तर पर, वाक् को परमा' अथ वा 'अयातयाम्नी' (माश ४.५.८.३) कहते हैं। दूसरे स्तर पर, वह (प्रकृति वाक्) आत्मा (पुरुष) से पृथक् मानी गई है– प्रकृति सांख्य की महत्, वा वेद की उभयतःशीर्ष्णी वाक् होकर निम्नलिखित तीनों सप्तकों में व्याकृत होती है,

१ अहंबुद्धि, मन, पञ्च प्राण।
२ अहंबुद्धि, मन, पञ्च ज्ञानेंद्रियां।

---

८ प्राणा वै त्रिवृत् (त्रिवृतः)। जै १.३४६; तां २.१५.३; ३.६.३; तुलनीय जै १.२३०; २.१६७; तां ६.२.२; ६.३.४; ८.१५

९ स (प्रजापतिः) त्रिवृतम् एवायतनम् अयाचत प्राणान्। ततः प्रजा असृजत। काठ ९.११

१० प्राणा वै त्रिवृत्स्तोमानां प्रतिष्ठा। तां ९.३.४

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

३ अहंबुद्धि, मन, पञ्च कर्मेन्द्रियां ।

इन तीनों सप्तकों में, वस्तुतः, वाक् के क्रमशः पूर्वोल्लिखित धीत्व (धीति), चित्त्व (चिति) एवं जूत्व (जूति) का ही विभाजन होता है ।

मानव-व्यक्तित्व के इस त्रिविध व्याकरण के साथ ही उसके पूर्वोक्त अव्याकृत रूप को भी लेकर, एक चित्र निम्नलिखित ऋक् में प्रस्तुत किया गया है,

पृक्षो वपुः पितुमान् नित्य आ शये,
द्वितीयम् आ सप्त शिवासु मातृषु ।
तृतीयम् अस्य वृषभस्य दोहसे
दशप्रमतिं जनयन्त योषणः ।।

ऋ १.१४१.२

यहाँ 'नित्य पितुमान् वपु' से अभिप्राय उस पुरुष (आत्मा) से है जो अपनी नित्य प्रकृति वा वाक् के साथ अभिन्न हो रहा है । 'सप्त शिवासु मातृषु' में स्थित द्वितीय रूप से अभिप्राय प्रथम सप्तक के स्तर से है । तृतीय रूप में, उक्त तीन सप्तकों में से द्वितीय और तृतीय की क्रमशः ज्ञानेंद्रियों और कर्मेंद्रियों में व्यक्त होनेवाली अग्निप्रमति एवं इंद्रप्रमति के संयुक्त रूप को लेकर, एक ऐसी 'दशप्रमति' की कल्पना की गई है जो जीव-रूप वृषभ के दुग्धपानार्थ (**दोहसे**) जनी जाती है ।

इस प्रकार, आत्मा-रूप देव का देवत्व वाक् वा मंत्र (माश १.४.४.११) रूप में स्वभावतः त्रिवृत् हो जाता है । एक रूप में वह **प्रेरक** प्राण-'देवता' है, दूसरे में वह **द्रष्टा** 'ऋषि'-प्राण है, और तीसरे में वही मंत्र की अभिव्यक्ति को नामरूप देनेवाला 'छन्द' है ।

इनमें से प्रत्येक, जैसा कि पिछले लेख में कहा गया, पराक् और अर्वाक् गति के भेद से द्विविध हो जाता है । पराक् गति का एक उदाहरण पूर्वोक्त पाँच प्राणों के मृत्यु के पार जाने और देवता से देव होने में पहले ही प्रस्तुत किया जा चुका है । अर्वाक् गति उससे विपरीत होती है । अवरोहण द्वारा अभिव्यक्ति का नाम अर्वाक् गति है, तो आरोहण द्वारा एकत्व की ओर गति पराक् गति होती है । प्रत्येक मंत्र में, अवरोह वा आरोह क्रम में देव की जो अभिव्यक्ति होती है उसमें देव के देवत्व वा देवता का वर्णन ही होता है । अतः मंत्र का संबन्ध देवता से ही होता है, देव से नहीं । अतः कोई मंत्र जिस देवत्व के विषय में चर्चा करता है वह उस मंत्र की देवता कही जाती है[11], देव नहीं, यद्यपि उसमें देवों का उल्लेख होता है क्यों कि प्रत्येक देवता में देव प्रतिबिंबित रहता है, शक्तिमान् और शक्ति का अविनाभाव संबन्ध होता है ।

अक्षरपरिमाण पर आधारित जिन मंत्र नामक रचनाओं से वेद नामक ग्रंथ बने हैं वे, निस्संदेह, उन आध्यात्मिक वा मनोवैज्ञानिक तत्त्वों के प्रतीक-मात्र हैं जिनको पहले 'मंत्रः ब्रह्मोद्यतं वचः, वाक्, गर्भ', आदि कहा जा चुका है । इस प्रतीकवाद के कारण, कुछ मंत्रों की देवता नदी, पर्वत, मुसल, उलूखल, वर्म, धनुष, आदि प्राकृतिक वा मनुष्यनिर्मित पदार्थ भी बताए जाते हैं क्यों कि वहाँ वे वस्तुएं देवों की प्रतीक होकर प्रयुक्त हैं । उदाहरण के लिए, जब किसी मंत्र-विशेष की देवता को 'वर्म' कहा जाता है तो उसको समझने के लिए 'ब्रह्म वर्म ममान्तरं' जैसी वैदिक उक्ति का सहारा लेना पड़ेगा । 'सूर्य', आदि के विषय में तो सर्वानुक्रमणी'-कार ने ही कह दिया है कि **एकैव देवता महान् आत्मा तत् सूर्यम् इत्य आचक्षते ।**

सुनियोजित अर्थवाद के अंतर्गत वेदमंत्रों में कुछ स्थायी रूपकों का प्रयोग होता है । उनके परिप्रेक्ष्य में कुछ व्यापार अथ वा कार्यकलाप भी मंत्रों की देवता कहलाते हैं । गर्भस्राविणी उपनिषत् (१.१०१.१; ५.७८.५-८), गर्भसंस्रावे प्रायश्चित्तम् (१०.१६२) अथ वा प्रस्वापिनी उपनिषत् (७ ५५.२-८) और दुःष्वप्ननाशनम् (१.१२०. १२; १०.१६४), यक्ष्मनाशनम्, सपत्नीबाधनम्, पुंसवनम्; आदि को इसी दृष्टि से मंत्रों की देवता कहा गया है । कभी कभी सूक्ष्म विषय को मूर्त रूप देने के लिए अथ वा अर्थ को स्पष्ट करने के लिए प्रश्नोत्तरी का प्रयोग किया गया है । ऐसे मंत्रों वा सूक्तों में प्रश्नकर्ता वा उत्तरदाता ही देवता माना जाता है क्यों कि उसी से संबंधित चर्चा वहां रहती है । यम-यमी, पुरूरवोर्वशी, इंद्रादितिवामदेव,

११ या तेनोच्यते सा देवता । ऋक्सर्वानुक्रमणी

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

आदि के संवाद-सूक्तों में यही बात है। कुछ रूपक और प्रतीक ऐसे भी हैं जिनमें ऐतिहासिक घटनाओं की भ्रांति होती है। देवासुर-संग्राम और उससे संबंधित दास, दस्यु, वृत्र, शंबर, अरातियों का विनाश, आदि प्रसंग इसी प्रकार के है। कुछ ऐसे वैदिक प्रतीक भी हैं जो आगे चलकर ऐतिहासिक व्यक्तियों वा भौगोलिक वस्तुओं के नाम हो गए। पर वेद-भाष्य करते समय उन्हें उस रूप में ग्रहण करने पर हास्यास्पद अर्थ के अतिरिक्त और कुछ भी हाथ नहीं लगता। अश्वमेध, गोमेध, नरमेधादि के प्रसंग में कुछ भाष्यकारों ने यही भूल करके भ्रम उत्पन्न कर दिया है। राम, कृष्ण, ब्रह्मपुत्र, यमुना, हिमवान्, आदि को भी, इसी प्रकार, इतिहास वा भूगोल से जोड़ना वा उनके आधार पर इतिहास वा भूगोल की रचना करना सर्वथा भ्रामक सिद्ध हुआ है। उन्हें प्राणों के रूपांतरों से संबद्ध करके ही कुछ हाथ लग सकता है।

मंत्रों के ऋषि

मंत्रों के ऋषियों के विषय में भी यही बात है। आज प्रायः ऋषियों को मंत्रद्रष्टा अथ वा मंत्रकर्ता माना जाता है। वैदिक परंपरा में भी मंत्रकृत् ब्राह्मण (जै २.२६६) को, ब्रह्म-सायुज्य-प्राप्त (तैआ २.९.२) को तथा 'विप्र' पदवी से ऊपर स्थित (तैसं ३.४.११.१; काठ २३.१२; तैआ १०.१०.१) व्यक्ति को ऋषि माना जाता था। पर एक प्रकार का ऐसा ऋषि भी है (तैआ १.११.७) जिसको जान लेने पर प्रव्रज्या निश्चित हो जाती है और फिर नगर-प्रवेश की आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसा ऋषि, निस्संदेह, परमात्म-रूप सावित्र अग्नि (मै १.६.१) है। इसके जानकार लोग ही 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयः' कहे जा सकते हैं।

फिर भी, पीछे मंत्र के स्वरूप का जो संक्षिप्त विवेचन हुआ है उसको देखते हुए, साक्षात्कृतधर्मा ऋषि घट घट में विराजमान आत्मा ही होगा क्यों कि वही उक्त सावित्र अग्नि का द्रष्टा अथ वा आत्मविद् (तै ३.१०.११.१) कहा जाता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मूल 'मंत्र' एक है और उसी की नानारूपात्मक अभिव्यक्ति होती है। विभिन्न वेद-मंत्रों में यही अभिव्यक्ति हो रही है। इस अभिव्यक्ति को रूप देनेवाली और उस रूप में मंत्रार्थ के दर्शन करनेवाली तत्त्वतः, निस्संदेह, आत्मा की वे शक्तियाँ ही होती हैं जिन्हें 'ब्राह्मण'-ग्रन्थों ने 'प्राण' कहा है। इस लिए शतपथादि में निर्भ्रान्त रूप से **प्राणा 'ऋषयः'** घोषणा[12] की गई है। ऐसी दृष्टि रखने पर, यह निश्चित है कि वैदिक मंत्रों के ऋषियों को शरीरधारी हाड़-मांस के व्यक्ति नहीं कहा जा सकता।

यह बात सुनकर उन लोगों को अवश्य आघात पहुँचेगा जो मंत्रों के ऋषियों को उनके रचयिता अथ वा द्रष्टा मानते हैं और उन्हें ऐतिहासिक पुरुष समझते हैं। पर संतोष की बात यह है कि जिन विद्वानों ने इन ऋषियों को ऐतिहासिक पुरुष कहा है उन्होंने कभी कभी 'प्राणाः ऋषयः' को उक्ति को भी स्वीकार किया है। उदाहरण के लिए, दयानन्द ने जहां ऋषियों को ऐतिहासिक मंत्र-द्रष्टा कहा है वहाँ उन्होंने ऐत्रा के 'प्राणा वा ऋषयो दैव्यासः' (२.४) को उद्धृत करके कारणस्थ और कार्यस्थ प्राणों को क्रमशः 'पूर्व' एवं 'नूतन' ऋषि[13] माना है। निरुक्त (१३ १२) द्वारा उद्धृत एक मत का भाष्य करते हुए,[14] उन्होंने 'सत्यासत्यविज्ञानेन वेदार्थबोधार्थं 'तर्कं ऋषिं' को भी स्वीकार किया है। इस प्रकार, ऋषियों की कल्पना के मूल में प्राणों के प्रतीकवाद के के साथ साथ इतिहास को मानने का अर्थ, वैदिक विद्वान् सातवलेकर[15] के शब्दों में, यही हो सकता है कि हम उन्हें 'वैदिक सनातन इतिहास' से संबन्धित समझें। कुछ ऐसी ही बात पुराणों के प्रसंग में ऐय्यर की 'पर्मानेण्ट-हिस्ट्री ऑव् भारतवर्ष' में भी कही गई है। आध्यात्मिक वा मनोवैज्ञानिक तत्त्वों के प्रतीक होने के कारण, वे निस्संदेह उसी प्रकार 'सनातन इतिहास' के व्यक्ति हैं जिस प्रकार देव और असुर, इंद्र एवं वृत्र तथा उनके युद्ध में भाग लेनेवाले व्यक्ति। सातवलेकर[15] कहते हैं, 'जो तत्त्व प्रकाश और अंधेरे के युद्ध में हैं वे ही तत्त्व मानवी उन्नति के प्रतिबंधकों और सहायकों के युद्ध में हैं। यह विश्व-

---

१२ माश ८.४.१.५; ७.२.३.५; ६.१.१.१ ; ८.६.१.५; १४.५.२.५; ऐ २.२७

१३ ऋ.भा.भू., पृ ५८ १४ वही, पृ ५७

१५ सातवलेकर, 'वैदिक राज्यपद्धति' में अत्रि ऋषि विषयक टिप्पणी, पृ ४५-४६

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

व्यापक एक ही नियम वेद के सामने है। इसलिए वेद के कथन सदा प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। यही उनका सनातनत्व है।'

इस मत को स्वीकार करने का सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि ऋषि-नाम के शब्दार्थ को ध्यान में रखकर मंत्र का अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है और 'बृहद्देवता' में उल्लिखित इस परंपरा की पुष्टि भी होती है कि वेदाध्यापनादि में ऋषिज्ञान भी अनिवार्य है। इसके विपरीत, यदि मंत्रों के ऋषियों को हाड़-मांस के शरीर-धारी ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं तो अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। सर्वप्रथम तो यह समझ पाना संभव नहीं कि एक ही सूक्त के एक से अधिक ऋषि कैसे हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, ऋ ९.१०७ और १०.१३७ में से प्रत्येक के सात ऋषि हैं। इन दो सूक्तों में से, पहले में छब्बीस और दूसरे में केवल सात मंत्र हैं। यदि ऋषि मंत्रों के कर्ता अथ वा द्रष्टा हैं तो क्या इससे यह समझा जाए कि इन सूक्तों के प्रत्येक मंत्र को सात ऋषियों ने एक साथ बैठकर रचा वा देखा है? इसी प्रकार, जब ऋ १०.५१ तथा १०.५३ में सभी देवों (देवाः) और अग्नि को ऋषि माना गया तो क्या यह अभिप्राय है कि किन्हीं शरीरधारी देवों के साथ अग्नि ने इन सूक्तों के एक एक मंत्र मंत्र को रचा अथ वा देखा? फिर जब अकृष्टाः माषाः (बिना कृषि के उड़द) को ऋ ९.८६ तथा ३१-४० का, का तथा अक्ष मौजवान् को ऋ १०.३४ का ऋषि कहा जाता है तो क्या अन्न के दानों एवं पाँसे को मंत्रों का कर्ता वा द्रष्टा मान लिया जाए? इसी प्रकार, पृश्नयः अजाः (चितकबरी बकरियों) के ऋषित्व (ऋ ९.८६) को उसी तरह संदेह की दृष्टि से देखा जाएगा, जिस प्रकार किसी यूप (१०.११६) के ऋषित्व को। इसी प्रकार, संवनन (ऋ १०.१९१), शतप्रभेदन (ऋ १०.११३), जय (१०.१८०) जैसी भाववाचक संज्ञाओं को कैसे ऋषि स्वीकार किया जा सकता है?

इनमें से अनेक नाम मंत्रों के रचयिता अथ वा द्रष्टा के रूप में सहज ही में अस्वीकार्य हो जाते हैं क्यों कि इन नामों के शाब्दिक अर्थ की छाया संबद्ध सूक्त वा मंत्र में अनायास उपलब्ध हो जाती है। उदाहरण के लिए, ऋ ५.८७ के मरुत्-सूक्त होने से, 'एवयामरुत्' नामक ऋषि की कल्पना स्पष्टतः मरुतों पर आधारित प्रतीत होती है। प्रथम मंत्र में ही 'विष्णवे मरुद्वते' के उल्लेख से स्पष्ट संकेत मिलता है कि मंत्र ४ का **'स उरुक्रम एवयामरुत्'** विष्णु एवं मरुद्गण का समन्वित रूप है।

मधुच्छन्दा वैश्वामित्र : एक अन्य उदाहरण मधुच्छन्दा ऋषि का ले सकते हैं। ऋग्वेद में इस ऋषि के कुल ११ सूक्त (१.१-१०; ९.१) हैं और दो माधुच्छन्दसों (त्रेता और अघमर्षण) के क्रमशः १.११ तथा १०.१९० सूक्त हैं। 'मधुच्छन्दाः' का शाब्दिक अर्थ १) मधु का छादन करनेवाला, २) मधु को चाहनेवाला, तथा ३) मधु से आह्लादित होनेवाला है। मधुच्छन्दा 'वैश्वामित्र' है। अतः विश्वमैत्री वा विश्वप्रेम के संदर्भ से मधु के माधुर्य की संगति बैठ जाती है। साथ ही, 'मधु' सोम का पर्यायवाची होने से, इस ऋषि के सूक्तों में सोम के अभिषवण अथ वा सोमपान से संबन्धित निम्नलिखित पद विशेष सार्थकता रखते हैं,

१.२ : सोमा अरंकृताः (१), सुतसोमाः (२), सोम-पीतये (३), सुताः (४), सुतानाम् (५), सुन्वतः (६)

१.३ : सुताः (३,४), सुतावतः (५), सुते (६), सुतम् (७, ८)

१.४ : सवना, सोमस्य सोमपाः पिब (२), नृमादनम्, मन्दयत्सखं (७), अस्य पीत्वा (८), सुन्वतः सखा (१०)

१.५ : सोमे सचा सुते (२), सुतपाव्ने सुताः सोमासः दध्याशिरः (५), सुतस्य पीतये (६), आशवः सोमासः (७)

१.८ : सोमपातमः (७), सोमपीतये (१०)

१.९ : मत्सि अन्धसः विश्वेभिः सोमपर्वभिः (१), सुते इन्द्राय मन्दिने (२), एषु सवनेषु (३), सुते-सुते (१०)

१.१० : इन्द्र सोमपा (३), सुतं पिब (११)

सोम अथ वा मधु के इन प्रत्यक्ष संकेतों के अतिरिक्त, कुछ ऐसे प्रतीकों का भी प्रयोग किया गया है जिनमें

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

प्रकारान्तर से आनन्दमय अथ वा हिरण्यय कोश के आनन्द तत्त्व की ओर ही इंगित किया गया है। इस प्रकार के प्रतीकों में निम्नलिखित विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं, भद्रम्, तत् सत्यम् (१.१.६), सूपायनो भव, स्वस्तये (१.१.७), सरस्-वती धिया-वसुः (१.३.१०), सु-दुघाम्-इव गो-दुहे (१.४.१), अन्तमानां विद्याम सु-मतीनाम् (१.४.३), कृष्टयः स्याम इन्द्रस्य शर्मणि (१.४.६), स धा नो योग आ भुवत् (१.५.३), शं ते सन्तु प्र-चेतसे (१.५.७), युञ्जन्ति ब्रध्नम् अरुषम् चरन्तम् (१.६.१), युञ्जन्त्य अस्य काम्या हरी (१.६.२), अविन्द उस्रिया अनु (१.६.५), इन्द्रो वज्री हिरण्ययः (१७.२), महा-धन इन्द्रम् हवामहे (१.७५), अस्माकम् अस्तु केवलः (१.७.१०), सानसिं रयिं वर्षिष्ठम् (१.८.१), महान् इन्द्रः परः (१.८.५), राधो वरेण्यम् (१.९.५), विश्वायुः अ+क्षितम् (१.९.७), तत् अर्थम् (१.१०.२), जेषः स्वर्-वतीर् अपः (१.१०.८), कृण्व युजः चिद् अन्तरम् (१.१०.९), नव्यम् आयुः प्र सु तिर (१.१०.११), कृधि सहस्रसाम् ऋषिम् (वही)।

सक्षिप्त स्पष्टीकरण : इन संकेतों और प्रतीकों के संक्षिप्त स्पष्टीकरण के लिए, ऋ १.१ से आरंभ करना होगा जहाँ पुरोहित अग्नि का ईडन किया गया है और 'भद्रं, तत् सत्यम्' अथ वा 'स्वस्ति' की कामना की गई है। स्वस्ति, अर्थात्, अस्ति एवं भवति के द्वंद्व से परे की स्थिति ही 'तत् सत्यम्' और 'भद्र' है, और वही है मधु का उत्स जिसे जन जन का पूः अपने भीतर छिपाए हुए मधुच्छन्दा बना हुआ है। उसकी वैश्वामित्र पदवी तभी सार्थक होगी जब वह इस 'महाधन' (मधु का उत्स) को प्राप्त करके सबको अपने व्यवहार द्वारा माधुर्य का वितरण कर सके। इसी महाधन को 'वरेण्यम् राधः, स्वर्वतीः अपः, शं, तत् अर्थम्, रयिं वर्षिष्ठम्, विश्वायुः अक्षितम्', आदि कहा गया है। इसकी प्राप्ति सुगम नहीं है। 'आपः, गावः, उस्रियाः', आदि प्रतीकों द्वारा इंगित इस महाधन को पाने के लिए योगरूप मुष्टि[16] अथ वा वज्र के प्रहार से वृत्र का वध करके (१.८.२-३) शत्रुओं को जीतना होगा। इसी लिए, १.८.३ में 'जयेम सं युधि स्पृधः', तथा १.१०.८ में 'जेषः स्वर्वतीर् अपः' का उद्घोष है। इस विजय के द्वारा उक्त मधु-रूप महाधन अथ वा 'नव्य आयु' की उपलब्धि द्वारा 'सहस्रसा ऋषि' (१.१०.११) बना जा सकता है।

इसी विजय की दृष्टि से, 'जेता माधुच्छन्दाः' अपराजित जेता इन्द्र के सख्य द्वारा अभय[17] की आकांक्षा करके अपना 'जेता' नाम सार्थक करना चाहता है क्यों कि इन्द्र वल १.११.५) और शुष्ण (१.११.६) वृत्रों को पछाड़नेवाला, अनेक पुरों का भेदन करनेवाला एवं सब कर्मों का कर्ता पुरुष्टुत् वज्री (१.११.४) है। इसका अभिप्राय है पूर्वप्राप्त, पर अब अप्राप्त रातियों को इन्द्र से पुनः पाना और तदर्थ नानारूपात्मक वृत्तियों रूप नदी-नालों को समेटकर सब ओर से योग-रूप 'सिधु' को अभिव्यक्ति देना।[18] दूसरे शब्दों में, वृत्र के आधिपत्य से पूर्व की स्थिति को प्राप्त करने का ही यह प्रयास है।

इस यथापूर्व स्थिति का नाम ही 'अघमर्षण' है जो संक्षेप में, अघमर्षण माधुच्छन्दाः के सूक्त, ऋ १०.१९० में इस प्रकार वर्णित है,

सूर्याचन्द्रमसौ धाता, यथापूर्वम् अकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षम् अथो स्वः॥ १.१९०.३

सूर्य और चन्द्र को विधाता ने पहले की तरह ही कर दिया और उस दिव्, पृथिवी, अंतरिक्ष तथा परोक्ष स्वः को भी पुनः प्रकट कर दिया जिन्हें अहंकार-रूप वृत्र ने सर्वथा आवृत कर लिया था।

इस स्थिति को लाने के लिए जो प्रक्रिया होती है उसका संश्लिष्ट वर्णन उपर्युक्त मंत्र से पूर्व इस प्रकार मिलता है,

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्, तपसोऽध्य अजायत।
ततो रात्र्य अजायत, ततः समुद्रो अर्णवः॥ १
समुद्राद् अर्णवाद् अधि, संवत्सरो अजायत।
अहो-रात्राणि विदधद्, विश्वस्य मिषतो वशी॥ २

१६ तुलनीय, ऋ १.५.३; १.६.१-२; १.७.२

१७ सख्ये त इन्द्र ! वाजिनो, मा भेम शवसस्पते !
त्वाम् अभि प्र णोनुमो जेतारम् अपराजितम्॥
ऋ १.११.२

१८ तवाहं शूर रातिभिः, प्रत्यायं सिन्धुम् अवदत्।
१.११.६

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

स्थिति को बदलने के लिए, सर्वप्रथम अभीद्ध तप चाहिए। तप के द्वारा ही उस ऋतं और सत्यं का प्रादुर्भाव संभव है जो अनृत-रूप वृत्र वा अघ से मुक्त होने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। तप के द्वारा होनेवाले परिवर्तन का पारिभाषिक नाम **भाववृत्त** है जो इस सूक्त की देवता (चर्चा का विषय) है।

इस परिवर्तन (भाववृत्त) का क्षेत्र मानव का 'अहम्' नामक अष्टापदी वाक् का क्षेत्र है जिसमें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय कोशों एवं पञ्च ज्ञानेंद्रियों का सम-1 वेश होता है। वांछित परिवर्तन के द्वारा इस अष्टापदी वाक् को 'ऋत-स्पृश नव-स्रक्तिम्'[19] बनाने की आवश्यकता है। अष्टापदी क्षेत्र के उक्त आठ पदों से संबंधित चर्चा वेद में जहां भी होती है वहां अष्टाक्षरीय अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग होता है। इसी लिए, इस सूक्त का छन्द अनुष्टुप् है।

अहंकार-रूप अहि (वृत्र) ने उक्त अष्टापदी क्षेत्र को अंधकार से ढक रक्खा है। इन्द्र का वह शत्रु वस्तुतः **दीर्घं तमः** (ऋ १.३२.१०) कहा जाता है जो २१ प्रकार (सप्त त्रेधा) के आपः-रूप[20] काष्ठाओं में अपने शरीर को प्रविष्ट कर देता है। अतः अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोश-रूप क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष और दिव् अंधकार से ढक जाते हैं क्यों कि उन्हें आलोकित करनेवाले भीतरी चन्द्र-सूर्य तथा उनसे प्राप्त स्वर् ज्योति पर पर्दा पड़ जाता है। उस पर्दे के हटने में जो भाववृत्त होता है वह यह है,

१ ऋतं और सत्यं का प्रादुर्भाव : तप के अदृश्य प्रभाव के फलस्वरूप अन्ततोगत्वा नवस्रक्ति वा नवगज्जन्त्री कहलानेवाली प्रकृति की साम्यावस्था में, सांख्य दर्शन की शब्दावली के अनुसार, क्षोभ होता है। इसका परिणाम ही ऋतं और सत्यं की उत्पत्ति है।

२ रात्री और समुद्रो अर्णवः की उत्पत्ति : उक्त परिवर्तन के कारण ही, सांख्य की, 'महत्' नामक बुद्धि पैदा होती है। वह प्रकृति-विकृतिरूपा है; प्रकृति-रूप में ऊर्ध्वगामी शांतिदायिनी शक्ति है जिसकी वेद में 'रात्रि' संज्ञा है, तो विकृति-रूप में वही क्षुब्ध 'समुद्रो अर्णवः' कहलाती है। इन्हीं दोनों रूपों को कभी कभी क्रमशः शान्त और अशांत रेतस्-युक्त आपः कहा जाता है।[21] अशांत आपः अथ वा विकृति-रूपा महत् विज्ञानमय और मनोमय को जोड़ती है।

३ संवत्सर और अहो-रात्र का उद्भव : विज्ञानमय कोश के मनोमय से जुड़ने का अर्थ है पिता का अपने वत्स से मिलकर संवत्सर (सं+वत्स+र) होना। इस संवत्सर का प्रभावक्षेत्र मनोमय से लेकर अन्नमय तक की वह परिवर्तन-शृंखला है जिसे सामान्यतः **काल** नाम से जाना जाता है। विज्ञानमय की विकृति-रूपा महत् चेतना की यह आँख-मिचौनी अथ वा उन्मेष-निमेष है। इसी की 'अहो-रात्राणि' संज्ञा है। इसके कारण भूः स्तर का 'विश्व' नामक जीव उन्मेष-निमेषवाला (**मिषत्**) होता है।

४ सूर्य-चंद्र का यथापूर्व कल्प : भूः व्याहृति के स्तर पर विश्व (जीव) का अहोरात्र-रूप निमेषोन्मेष उस भावी परिवर्तन का पूर्वाभास था जिसे सूर्य-चन्द्र का उदय कहा गया है। सूर्य का अभिप्राय है विज्ञानमय में आनन्दमय (हिरण्मय) का उदय। इसी सूर्य का प्रकाश लेकर मनोमय 'चंद्र' बन जाता है। पुरुष-सूक्त में, जब सूर्य-चन्द्र को क्रमशः चक्षु एवं मन से उत्पन्न बताया जाता है तो उसका भी यही तात्पर्य होता है।

५ दिव्, अन्तरिक्ष, पृथिवी और स्वः की उत्पत्ति : सूर्य-चंद्र के प्रकाश के कारण, मनोमय-रूप दिव्, प्राणमय-रूप अंतरिक्ष और अन्नमय-रूप पृथिवी प्रत्यक्षतः आलोकित हो जाती हैं क्यों कि परोक्ष (**अथो**) विज्ञानमय का स्वः-रूप सूर्य प्रकट होने से मन 'चन्द्र' बन गया था। इसके कारण, अंधकार में से, उक्त तीनों प्रकट हो गए। इस प्रकटीकरण का नाम ही उद्भव, उत्पत्ति, आदि है।

---

१९ वाचम् अष्टापदीम् अहं नवस्रक्तिम् ऋतस्पृशम्। इन्द्रात् परि तन्वं ममे। ऋ ८.७६.१२ व्याख्या के लिए देखिए ऐआ २.३.६; जै ३.८९

२० ऋ १०.७५; ये आपः सात सात के वर्गों में चेतना की निम्नलिखित धाराएं हैं, (क) अहंबुद्धि, मन+५ ज्ञानेंद्रियाँ। (ख) अहंबुद्धि, मन+५ कर्मेन्द्रियाँ। (ग) अहंबुद्धि, मन+५ प्राण।

२१ गो १.३

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

निस्संदेह, यह सृष्टिक्रम उन शक्तियों का विकास बतलाता है जो अहंकार-रूप अहि के 'अघ' (तमस्) को दूर करनेवाली हैं, अन्यथा अहोरात्राणि की उत्पत्ति सूर्य के उद्भव के बाद होना, और अहोरात्रों के पूर्व किसी रात्री का प्रादुर्भाव वैसा ही निरर्थक होता जैसा कि इस प्रसंग में किसी समुद्र अर्णव का होना असंगत है।

इस प्रकार, कई अन्य वैदिक ऋषियों का विवेचन डॉ लक्ष्मीनारायण शर्मा ने अपने शोध-प्रबन्ध 'ऋग्वेद के ऋषि' में किया है। वे भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वैदिक मंत्रों के ऋषि कोई शरीरधारी व्यक्ति नहीं हो सकते। उपर्युक्त कई हेतुओं के अतिरिक्त, प्रथम मण्डल के 'शतर्चिनः' एवं दशम मण्डल के 'क्षुद्रसूक्ताः महासूक्ताः' ऋषिगणों का उल्लेख करने के पश्चात्, उन्होंने 'सर्वानुक्रमणी' की परंपरा में प्रत्येक मंत्र का अलग ऋषि माना जाने की, बालखिल्य ऋषियों को 'बालमात्राद् असंभिन्नाः प्राणाः' (माश ८.३.४.१) कहने की, अत्रि, भृगु, वसिष्ठ, अगस्त्यादि की वेदोक्त उत्पत्ति की, वामदेव के अनेक देवों, आदि के रूप में प्रादुर्भाव होने, आदि की किसी भी तर्कसंगत व्याख्या को शरीरधारी ऋषियों के संदर्भ में असंभव पाया है। इन सबका स्पष्टीकरण एकमात्र प्रतीकवादी शैली से ही संभव है। इसी शैली के आधार पर वे आख्यान भी बोधगम्य हो जाते हैं जो वैदिक ऋषियों के संबन्ध में पुराणों से एकत्र किए गए हैं।

वैदिक ऋषि-परिवारों की प्राणरूपता

यह प्रतीकवाद, निस्संदेह, बालखिल्य ऋषियों के समान, प्राणों पर ही आधारित है। ब्रह्मगिरि के अंगभूत पाँच प्राणों के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि वैदिक परंपरा निश्चित रूप से उक्त प्राणों को ऋषि-रूप में स्वीकार करती है। इसके अतिरिक्त, जिन सप्त शीर्षण्य प्राणों को ऋषि माना गया वे संभवतः वे ही सप्तर्षि हैं जो मानवदेह में प्रतिहित माने गए हैं,

सप्त ऋषयः प्रति-हिताः शरीरे,
सप्त रक्षन्ति सदम् अ+प्र-मादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकम् ईयुस्,
तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्र-सदौ च देवौ ॥ य ३४.३५

इस मंत्र के तीन सप्तकों की तुलना पूर्वोक्त उन तीन सप्तकों से की जा सकती है जिनमें क्रमशः ५ ज्ञानेंद्रियों, ५ कर्मेन्द्रियों तथा ५ प्राणों के साथ अहंबुद्धि एवं मन की जोड़ी का अलग अलग योग होता है। तदनुसार ज्ञानेंद्रियों वाला सप्तक, द्रष्टा होने से, 'सप्त ऋषि', कर्मेन्द्रियों वाला सप्तक 'रक्षकगण', तथा सप्त प्राणों वाला सप्तक 'आपः' माना जा सकता है, और पूर्वोक्त 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' कहे जानेवाले 'ब्रह्म-जीव' इस मंत्र के दो 'देव' कहे जा सकते हैं।

सप्तर्षियों के सूक्त ऋ ९.१०७ तथा १०.१३७ माने जाते हैं। परंपरा से, इन सात ऋषियों के नाम १) भरद्वाजो बार्हस्पत्यः, २) कश्यपो मारीचः, ३) गोतमो राहूगणः, ४) भौमो अत्रिः, ५) विश्वामित्रो गाथिनः, ६) जमदग्निर् भार्गवः तथा ७) मैत्रावरुणिर् वसिष्ठः बताए जाते हैं। इनमें से भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि तथा वसिष्ठ का उल्लेख पूर्वोक्त ब्रह्मगिरि की पंच प्राण-शक्तियों के प्रसंग में किया जा चुका है। इन चार के अतिरिक्त, गोतम, अत्रि तथा कश्यप और हैं।

बहुविध आंगिरस परिवार : इनमें से गोतम राहूगण, वस्तुतः, रहूगण (ऋ ९.३७-३८) नामक आंगिरस का पुत्र है। अंगिरा तथा आंगिरसों को निश्चित रूप से प्राण माना गया है (प्राणो वा अगिराः। माश ६.१.२.२८; सोयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां रसः प्राणो वाङ्गानां रसः। माश १४.४.१.२१)। इसलिए, न केवल गोतम अपि तु गोतमवंशी नोधा गौतम, एवं वामदेव गौतम भी प्राण सिद्ध होते हैं। इनमें से नोधा गौतम के ऋग्वेद में ११ सूक्त हैं और वामदेव का तो पूरा चतुर्थ मण्डल है। वामदेव-वंशी अन्य तीन ऋषियों के सूक्त अन्यत्र इस प्रकार हैं,

अंहोमुक् वामदेव्यः १०.१२६
बृहदुक्थो वामदेव्यः १०.५४-५६
मूर्धन्वान् वामदेव्यः आङ्गिरसो वा १०.८८

इसी प्रकार, द्वितीय मण्डल के ऋषि गृत्समद आङ्गिरस एवं कूर्म गार्त्समद (२.२७.२९) भी आङ्गिरस परिवार के होने से तो प्राण सिद्ध होते ही हैं पर इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि गृत्स 'प्राण' है और मद 'अपान' है। अतः दोनों के संयुक्त प्राण-रूप को 'गृत्स-मद' (ऐआ २.२.१) कहा जाता है। इसी तरह, कूर्म भी प्राण ही का नाम है, क्यों कि

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

प्राण ही 'सर्वा : प्रजाः' को 'करनेवाला' (माश ७.५.१.७) है। प्रजा को करने के कारण ही कूर्म प्राण को 'कश्यप प्रजापति' तथा समस्त प्रजा को काश्यप्य माना गया (माश ७.५.१.५)। इसकी उत्पत्ति की चर्चा में घोर आंगिरस के परिवार का महत्त्व है। कण्व घौर (१.३६-४३; ९.९४) भी एक महत्त्वपूर्ण ऋषि है जिसको आंगिरस परिवार का होने के कारण प्राण का प्रतीक माना जाएगा। कण्व घौर के निम्नलिखित पुत्रों के सूक्त ऋग्वेद के आठवें मण्डल में पाए जाते हैं, आयुः, इरिम्बिठिः, कुरुसुतिः, कुसीदी, कृशः, त्रिणोकः, देवातिथिः, नाभाकः, नारदः, नीपातिथिः, पर्वतः, पुनर्वत्सः, पुष्टिगुः, पृषध्रः, प्रगाथः, प्रस्कण्वः, ब्रह्मातिथिः, मातरिश्वा, मेधातिथिः, मेध्यः, मेध्यातिथिः, वत्सः, शशकर्णः, श्रुष्टिगुः, सध्वंसः, सुपर्णः, सौभरिः।

द्विविध अत्रि : ऐतरेय आरण्यक (२.२.१) के अनुसार, अत्रि भी प्राण है। उसके नामकरण का कारण यह है कि प्राण (अत्रयः) सबका पाप से त्राण करते हैं। मा.-शतपथ (१४.५.२.६) ने वाक् को अत्रि कहा है। पर, जैसा पहले कहा जा चुका है, वाक् भी प्राण का ही एक रूप है। इस प्रसंग में अत्रि को ऐसी वाक् कहा गया है जो सबका अदन करती है। पहले में, 'वाक्'-प्राण का अनेकमुखी रूप है, तो दूसरा एकीभूत (त्रैतरहित) रूप है। इन्हीं दो रूपों को बताने के लिए एक 'अत्रि' शब्द की दो व्युत्पत्तियां गढ़ी गईं। इस दृष्टि से अनेकमुखी अत्रि को 'सांख्य' (ऋ १०.१३८) तथा एकीभूत अत्रि को भौम (ऋ ५.२७; ३७-४३; ७६-७७; ८३-८६; ९.६७.१०-१२; ९.८६; ४१-४५; १०.-१३७.४) कहा गया। इस प्रकार प्राण-समष्टि द्विविध मानी गई।

कश्यप-पश्यक (मारीच) : प्राण-समष्टि की इस कल्पना के आधार पर, मानव-व्यक्तित्व की कल्पना भी द्विविध हो गई—एक सूक्ष्म, और दूसरी स्थूल। सूक्ष्म व्यक्तित्व में प्राणों का एकत्व जीव को सूक्ष्म दृष्टि देकर पश्यक[22] (ब्रह्म को देखनेवाला) बना देता है, जब कि स्थूल व्यक्तित्व में, प्राणों का अनेकविध बिखरा हुआ जाल होने से, जीव अन्तर्मुखी पश्यक से विपरीत, कश्यप हो जाता है और ब्रह्मज्ञान से वञ्चित हो जाता है। कश्यप-व्यक्तित्व तमस् के आधिक्य के कारण 'भस्त्राकर्मकृत्इव'[23] (पतित और निकम्मा सा) कहा जाता है। पर उसकी एक विशेषता यह है कि वह उस महामेरु (महत्) का परित्याग नहीं करता जिसमें सप्त सूर्य (अहंबुद्धि, मन, ५ ज्ञानेंद्रिय) एक साथ अर्पित हो जाते हैं। अतः सोम कश्यप से ही उन सबका पुनर्निर्माण[24] कर लेता है। इस पुनर्निर्माण का अर्थ है आत्मा-रूप सूर्य की मरीचि (ज्योति) की पुनः प्राप्ति. कश्यप से 'कश्यप मारीच' अथ वा पश्यक हो जाना। अतः 'कश्यप मारीच' और 'पश्यक' का एक ही तात्पर्य है। वही कश्यपो मारीचः ऋ १.९९; ८.२१; ९.६४; ६७.४-६; ९१-९२; ११३-११४; १० १३७.२ का ऋषि है। इस प्रसंग में, यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि कश्यप मारीच के, एक दो को छोड़कर, सब मंत्र उसी सोम से संबंधित हैं जो कश्यप का पुनर्निर्माण करनेवाला कहा गया है।

कश्यप मारीच यद्यपि सप्तम ऋषि है पर मात्र कश्यप रूप में वह अष्टम[25] कहा जाता है। संभवतः कश्यप के इस प्रकार आठ रूप माने गए। इनके संदर्भ से निम्नलिखित आठ प्रकार के काश्यपों की भी कल्पना हुई है, अ-वत्सारः (ऋ ५.४४; ९.५३-६०), असितः (ऋ ९.५-२४), देवलः (ऋ ९.५-२४), निध्रुविः (ऋ ९.६३), भूतांशः (ऋ १०.१०६), रेभः (ऋ ८.९७), रेभसूनु-द्वय (ऋ ९.९; ९.१००), विवृहा (ऋ १०.१६३)।

काश्यप्य प्रजा की प्राणरूपता : जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कश्यप प्रजापति कूर्म नामक प्राण है। इसलिए काश्यप्य प्रजाएं भी प्राण पवमान (जै २.२२९), सोमरस-रूप (तैसं २.१.७.४), ब्रह्मरेतस् से उत्पन्न (ऐआ २.१.३; काठ १५.१०), सौमी प्रजाएं (मै २.१.६; १.१०.९) हैं जो मूल प्रकृति की साम्यावस्था में **अ-त्रोः**[26] प्रजाएं (त्रैत-रहित) होती हैं। ये ही पहले आंगिरसों और आदित्यों के रूप में द्विविध (माश ३.५.१.१३) हो जाती हैं। पञ्च कोशों के उत्तर एवं दक्षिण पक्ष के भेद से जो दस

२२ कश्यपः पश्यको भवति। यत् सर्वं परिपश्यतीति सौक्ष्म्यात्। तैआ १.८.८

२३ तैआ १.७.१-२

२४ वही

२५ कश्यपोष्टमः। वही

२६ तैसं ६.४.१०.५

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

मास (प्रकाश) बनते हैं वे ही दशमास का गर्भधारण (तां. ६.१.३) हैं। प्राणापान द्वारा शक्तिचालन करके इस प्रकार सभी पुरों का 'दाशन' वा दृढ़ीकरण (माश १.६.२.५; काठ २९.१) भी यही है जिसके कारण प्राण की 'पुरोडाश' संज्ञा होती है। निरंतर अभ्यास से जब सभी पुर दृढ़ हो जाते हैं तो सौमी प्रजाओं की वृष्टि होने लगती है और यही पुरोडाश 'कूर्म' (कछुआ) या पराक् रस-रूप 'कश्यप' प्रजापति (माश ७.५.१.१) हो जाता है। इस प्रकार जो पहले 'अ-वत्सार' (वत्सहीन) था वह 'वि-बृहा' (विविध प्रकार से वृंहणशील) हो जाता है। स्थूल स्तर पर होनेवाले प्राणापान में जो सोम-बर्हिष्पवमान (जै १.३१२)-रूप प्रजा है वही अभ्यास दृढ़ होने पर अन्तःपवमान में परिणत होती है और पुरों में 'दाशन' किया गया पुरोडाश (प्राण) वा पराक् रस प्रबुद्ध आपः में 'कूर्म' (माश ७.५.१.१) हो जाता है। अत एव पुरोडाश-रूपी प्राण यज्ञ का अर्ध (माश २.२.१.४) माना जाता है। अंगिरस (अंगों के रस) प्राण जब स्वर्ग जाने का प्रयास करते हैं तो पुरोडाश कूर्म बनकर स्वर्गार्थ प्रसर्पण करता (तैसं ५.२.८.४-५) है। अर्थवाद की भाषा में, इसी को कूर्मभूत पुरोडाश का दर्शन (तैसं २.६.३.२-३) अश्व वा 'पशूनां मेधः' (तैसं ५.२.८.५; काठ २०.७) कहते हैं। इसी दृष्टि से पुरोडाश को पशु (माश १.२.३.५; तैसं ७.१.९.१) अश्व वा पशु की प्रतिमा (तै ३.२.८.८) कहते हैं।

प्रथम और अंतिम मण्डल के ऋषिगण और एकर्षि : अस्तु। इन सब ऋषियों में द्वितीय मण्डल से लेकर नवम मण्डल तक के ऋषिगण आ जाते हैं। पुरोडाश-स्थापना से, कूर्म होकर स्वर्गारोहण तक की प्रजासृष्टि अश्व वा यज्ञ के विकास की कथा इन्हीं मण्डलों में है। इस विकास-प्रयास में मानव-व्यक्तित्व के स्थूल (पृथिवी) और सूक्ष्म (द्यौ) स्तरों पर समान रूप से जो परिवर्तन होते हैं उनका चित्र क्रमशः प्रथम एवं अन्तिम मण्डलों में है। कूर्म वा कश्यप प्रजापति का विकास इन्हीं दोनों के बीच होता है। इसी लिए, कूर्म को द्यावापृथिवीयः (मै ३.१४.१५; माश ७.५.१.१०) कहा जाता है। जब संक्लिष्ट पृथिवी (स्थूल स्तर) को आपः (प्राणाः) में प्रबुद्ध कर दिया जाता है तो जो पराक् रस बरसता है वह कूर्म होता है (माश ६.१.१.१२)। यह कूर्म स्वर्ग को (तैसं २.६.३.२-३) सरपट दौड़ लगाता है, अर्थात्, कश्यप पश्यक हो जाता है।

अतः प्रथम और अंतिम मण्डल के ऋषिनामों में इसके क्रमिक विकास का संकेत मिलता है। यों तो दोनों मण्डलों के ऋषि बहुत से हैं पर सबकी चर्चा यहां संभव न होने के कारण, कुछेक मोटी मोटी बातों का ही उल्लेख किया जा रहा है। प्रथम मंडल आरंभ होता है मधुच्छन्दाः वैश्वामित्र से, और दशम का पहला ऋषि त्रित आप्त्य है। दोनों अग्नि पुरोहित की बात करते हैं। पर पहले का अग्नि पूर्व और नूतन ऋषियों द्वारा ईड्य देव है जिसे देवों के साथ आने को आहूत किया जा रहा है, तो दूसरे के अग्नि के 'परमं तृतीयम्' का ज्ञाता और रक्षक 'विष्णुर् इत्था' है और इडा के पद में उत्पन्न और जन जन का अतिथि हुआ अग्नि दोनों द्यावापृथिवी को विस्तार देने के लिए देवों सहित बुलाया जा रहा है। जैसा कि नाम से प्रकट है, मधुच्छन्दा मानव-व्यक्तित्व का वह रूप है जिसके भीतर मधु छिपा हुआ है पर त्रित आप्त्य उस व्यक्तित्व का द्योतक है जो त्रिविध आपः (प्राण) के संदर्भ से 'त्रित' है। मधुच्छन्दा की साधना प्रथम मण्डल में पुरोहिताग्नि के ईडन से आरंभ होकर उसी मण्डल के १९१वें सूक्त में अगस्त्य की विषघ्नोपनिषद् द्वारा मधुला के मधु पर समाप्त होती है, तो दशम मण्डल में त्रित आप्त्य की 'विष्णुर् इत्था' को स्मरण करते हुए जो प्रवृत्ति चलती है वह उसी मण्डल के १९१वें सूक्त के संज्ञान के संवनन द्वारा 'सु-सहास्तित्व' पर पहुंचती है। एक स्तर का पुरोहित अग्नि ९९ पुरों की 'रोपुपीणां' विष के शमन करनेवाले विश्वद्रष्टा अदृष्टहा आदित्य के रूप में प्रकट होता है, तो दूसरे स्तर का पुरोहित अग्नि वृषन् अग्नि होकर 'समानो मंत्रः समितिः समानी,' आदि द्वारा जन जन में 'समानं मनः' लानेवाली सद्भाव-वृष्टि करता है। एक 'ईडन' वा ध्यानयोग द्वारा अर्क-यज्ञ नामक व्यष्टिसाधना है, तो दूसरी 'विष्णुर् इत्था' के स्मरण एवं सहयोग द्वारा 'राष्ट्रं वै अश्वमेधः' कहनेवाली समष्टिसाधना का यज्ञ है।

इस प्रकार स्थूल, और सूक्ष्म, पृथिवी और द्यौ स्तरों पर दो भिन्न भिन्न साधनाएं एक दूसरे की पूरक

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

होने के लिए किन दृष्टियों का विकास करें जिससे 'योगेयोगे तवस्तर' देव का साक्षात् होता रहे, इसी बात का संकेत प्रथम और दशम मण्डलों के १६१ सूक्तों के ऋषि-नाम कर रहे हैं। इन्हीं दोनों स्तरों के परिप्रेक्ष्य में पूर्वोक्त अवाक् तथा पराक् गतियों की कल्पना हुई। तदनुसार सब ऋषियों का विभाजन 'अर्वाञ्चः' तथा 'पराञ्चः' ऋषियों में हुआ। पर उन दोनों का समावेश अन्ततोगत्वा एकर्षि गौतम[27] में हुआ। इसी प्रकार, प्रत्येक मंत्र की ऋषि-दृष्टि से संबन्धित देवता की कल्पना में जो उत्तरोत्तर विकास होता है उसकी झाँकी भी देवता-नामों का विश्लेषण करके प्राप्त की जाती है। ऋषि-दृष्टि और देवता के साथ साथ मानव-व्यक्तित्व में में जो समानान्तर नाम-रूप प्रादुर्भूत होते हैं उसकी कहानी कहने के लिए छन्दों का प्रतीकवाद खड़ा किया गया है।

५ वैदिक मंत्रों के छन्द

सामान्यतः 'छन्द' से किसी न किसी अक्षरपरिमाण का बोध होता है। 'गायत्री' कहने से आठ अक्षरों के तीन पादों वाले छन्द का चित्र सुननेवालों के मन में आता है। पर जब बोले जानेवाले वा लिखे जानेवाले अक्षर और मंत्र किसी सूक्ष्म तत्त्व के प्रतीक समझे गए हों तो उनके छन्द भी, स्वभावतः, किसी तात्त्विक भूमिका को निभाने वाले सिद्ध होंगे। इसी लिए छन्दों को कभी देवों के गृह (जै १.२८०) अथ वा स्वयं देव (जै ३.३१३) और देवता (जै १.१६८) कहा जाता है। इनके पुरुष में प्रवेश करने पर असुरों को नष्ट किया जा सकता है। देवों के साथ, छन्दों की 'यातयाम' संज्ञा होती है। इनके द्वारा देव स्वर्गगमन (माश ३.६.३.१०) एवं आत्म-छादन करके मृत्युभय (जै १.१२०) से मुक्त होते हैं। जिस प्रकार पशु मनुष्यों का वहन करते हैं उस प्रकार छन्द, जब युक्त हो जाते हैं तो, देवों के लिए यज्ञ का वहन करते (माश १.८.२.८; ४.४.३.१) हैं। छन्द समिद्ध होने पर भी यज्ञ को देवों के लिए वहन (माश १.३.४.६) करते हैं। इसका अर्थ है कि छन्दों का युक्त होना और समिद्ध होना एक ही बात है।

छन्दों की प्राणरूपता

अस्तु। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मन्त्रों के सब छन्द तत्त्वतः प्राण हैं। 'वाक्'-प्राण अनुष्टुप् छन्द है, और इतर छन्द अन्य (अ-वाक्) प्राण (मै ३.१.९) हैं। सब छन्द बृहती में अभिसंपन्न (जै १ ३१६) होते हैं। अतः बृहती छन्दों का स्वाराज्य (तां २४.६.३) है। विराट् सब छन्दों की ज्योति (तैसं ५.३ २ ३; काठ २०.२१) है। अनुष्टुप् सब छन्दों में परमा (तैसं ५.४.१२.१) है। वाक् सुपर्णी है, और गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती सौपर्ण (मै ३ ७ ३) हैं। छन्द मीयमान सोम (काठ ३४.१४) है। इसे आपः-रूप छंदों द्वारा आत्मा-रूप 'हंसः शुचि-षद्' पान (मै ३.११.६) करता है, क्यों कि छन्द, वस्तुतः, 'इन्द्रियं वीर्यं' (तां ६ ९.२६) ही तो हैं। इसका तात्पर्य है कि वे प्राण (प्राणा इंद्रियाणि, काठ ८.१; तां २.१४.२; २२.४.३) हैं।

देव-देवताओं और ऋषियों के समान, प्राण-रूप छन्दों के साथ भी सात की संख्या विशेष रूप से जुड़ी हुई है। इस संदर्भ में काठक और कपिष्ठल संहिताओं का यह मंत्र उल्लेखनीय है,

सप्त हस्तास इति सप्त छन्दांसि, तस्मात् सप्तर्चिषः सप्त समिधः।
सप्तेमे लोका येषु चरन्ति प्राणा, गुहाशया निहिता सप्तसप्त॥
(काठसंक २५:२-४)

सप्त छन्द ऐसे सात पात्र कहे जाते (मै ४.८.८) हैं जिनका पुनः प्रयोग हो सकता है। सप्त छन्द सप्त ग्राम्य पशुओं और सप्त आरण्य पशुओं से भी (माश ३ ८.४.१६) जुड़े हुए हैं और पुरुषयज्ञ से भी। ये सात छन्द 'गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती' हैं। इनमें से गायत्री 'अग्रं ज्येष्ठम्' (जै २.२२७), एवं अयातयाम्नी (जै ३ ३०५) है, और सब छन्द वस्तुतः गायत्री ही (तां ८.४.४) हैं। गायत्री ही एकपदा, द्विपदा, अक्षरपंक्ति, विष्टारपंक्ति, विराज्, अतिच्छन्दस् तथा अमितछन्द

---

२७ तदु ये च ह वै गोतमाद् ऋषयः पराञ्चो ये चार्वाञ्चस्ते गोतमम् एवर्षिम् उभय उपासते। जै ३.४४

२८ तुलनीय वार वै गायत्री। मै १.४.१३; काठ २३.५

२९ तुलनीय, गायत्री वै प्राणः। माश १.३.६.१५; गायत्री वै सर्वाणि छन्दांसि। तां ८.४.४

३० पिंगलछन्दःसूत्र, पृ ५६; निरु ७ १-१५

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

नामक मृगच्छन्दों के रूप में जन्मती है और इस प्रकार वह सब स्तोमों एवं छन्दों की प्रजापति (जै ३.३२४) है। गायत्री तेज ब्रह्मवर्चस् (ऐ १.५; २८; कौ १७.२.९; गो २ ५.३) है। इसी को यजुः-रूप में देवों ने ओजः, सहः, बलम्, भ्राजः, तथा देवों का धाम, नाम, विश्व, विश्वायु, सर्वम्, सर्वायु एवं अभिभूः कहकर (काठ १०.७) संबोधित किया, जिससे वे असुरों पर विजयी हुए।

इसका अभिप्राय है कि गायत्री नामक तेज सब तेजों, बलों आदि को जोड़नेवाली 'यजुः' (पुरुषशक्ति[28], माश १०.५.२.२०) है। दूसरे शब्दों में, गायत्री नामक तेज में सब प्राणों का समावेश होता है क्यों कि सब तेज, बल, आदि वस्तुतः प्राण हैं, और वे ही हैं सब छन्द।[29] इसी लिए, गायत्री को प्राणों की त्वचा (ऐआ २.१.६) कहा जाता है। इनमें से सात मुख्य प्राण-देवताओं के नाम अग्नि, सविता, सोम, बृहस्पति, मित्रावरुणौ, इन्द्र और विश्वे देवाः हैं। इनके छन्द क्रमशः गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती माने गए हैं।[30] पर 'ब्राह्मण'-ग्रंथों में इन छन्दों से अन्यान्य देवताओं का भी संबन्ध स्वीकार किया गया है, यथा,

सविता पञ्चाक्षरयाक्षरपङ्क्तिम् उदजयत्। मै १.११.१०; काठ १४.४

पङ्क्ति वै स छन्दसां जयति मरुतो देवान् देवानाम्। जै १.३४

पङ्क्तिर्विष्णोः। मै १.९.२; गो २.२.९

मरुतः पङ्क्तिं समभरन्। जै १.२८३

पूषा पञ्चाक्षरेण पङ्क्तिम् उदजयत्। तैसं १.७.११.१

त्रिष्टुब् रुद्राणाम्। मै १.९.२; काठ ९.१०; गो २.२.९

यदैन्द्रं तत् त्रैष्टुभो रूपम्। जै ३.२०६।

रुद्राः त्रिष्टुभं समभरन्। जैउ १.४.४.५

आदित्या जगतीं समभरन्। जैउ १.४.४.६

विश्वे देवा द्वादशाक्षरया जगतीम् उदजयन्। तैसं १.७.११.२

अत एव विभिन्न छन्द जिस जिस तेज के प्रतीक होकर मंत्रों में प्रयुक्त हुए हैं उस उसका क्षेत्र-निर्धारण एक दूसरे उपाय से करना अधिक समीचीन होगा। ऊपर गायत्री के विषय में जो कुछ कहा गया है उससे प्रतीत होता है कि गायत्र तेज वा बल सूक्ष्मतम प्राण से सम्बन्धित है। अतः यह सब तेजों (छन्दों) का मूलाधार[31] है। यही कारण है कि विभिन्न तेजों के प्रतीक बनाने में जो जो अक्षरपरिमाण विभिन्न छन्दों को दिया गया है वह एक प्रकार से गायत्री के छन्दः-परिमाण पर आधारित नहीं तो उससे जुड़ा हुआ अवश्य रक्खा गया है। यह बात निम्नलिखित अक्षरपरिमाण-तालिका से प्रकट है,

छन्द	पाद-परिमाण	अक्षर-संख्या
गायत्री	तीन, अष्टाक्षर	८+८+८
अनुष्टुप्	चार, गायत्र	८+८+८+८
उष्णिक्	दो गायत्र+एक जागत	८+८+१२
ककुप्	दो गायत्रों के बीच एक जागत	८+१२+८
पुर-उष्णिक्	एक जागत+दो गायत्र	१२+८+८
बृहती	१ जागत+३ गायत्र	१२+८+८+८
पथ्या बृहती	दो गायत्र+१ जागत+१ गायत्र	८+८+१२+८
न्यङ्कुसारणी (उरोबृहती)	गायत्र+जागत+गायत्र+गायत्र	८+१२+८+८
उपरिष्टाद्बृहती	३ गायत्र+१ जागत	८+८+८+१२
पङ्क्ति	२ जागत+२ गायत्र	१२+१२+८+८
सतःपङ्क्तिः	जागत+गायत्र+जागत+गायत्र	१२+८+१२+८
	अथ वा	
	गायत्र+जागत+गायत्र+जागत	८+१२+८+१२
विष्टारपंक्तिः	गायत्र+२ जागत+गायत्र	८+१२+१२+८

३१ गायत्री वाव सर्वाणि छन्दांसि। तां ८.४.४

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

संस्तारपंक्तिः	जागत+२ गायत्र+जागत	१२+८+८+१२
पथ्या पंक्तिः	५ गायत्र	८+८+८+८+८
जगती पंक्तिः	६ गायत्र	८+८+८+८+८+८
ज्योतिष्मती त्रिष्टुप्	एक त्रिष्टुप्-पाद+३ गायत्र	११+८+८+८
ज्योतिष्मती जगती	१ जागत+४ गायत्र	१२+८+८+८+८
पुरस्ताज्ज्योती जगती	१ जागत+३ गायत्र	१२+८+८+८
मध्येज्योति त्रिटुप्	२ गायत्र+१ त्रैष्टुभ+२ गायत्र	८+८+११+८+८
मध्येज्योति जगती	२ गायत्र+१ जागत+२ गायत्र	८+८+१२+८+८
उपरिष्टाज्ज्योति त्रिष्टुप्	४ गायत्र+१ त्रैष्टुभ	८+८+८+८+११
उपरिष्टाज्ज्योति जगती	४ गायत्र+१ त्रैष्टुभ	८+८+८+८+१२

इस तालिका को देखने से स्पष्ट हो जाएगा कि किस प्रकार अष्ठाक्षर गायत्र पाद प्रसिद्ध सातों छंदों से जुड़कर ऋग्वेद में छन्दों की विविधता उपस्थित करता है। इसका एकमात्र लक्ष्य यही है कि जिन सात प्रकार के तेजों के प्रतीक पूर्वोक्त सात छन्द माने गए हैं उन सबके मूल में उस **भर्ग** नामक तेज की उपस्थिति बतलाई जाए जिसका प्रतीक गायत्री छन्द[32] है। ये सातों प्रकार के तेज पावमानियों (पावमानी प्राणों)[33] से सम्बद्ध हैं जो क्रमशः आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण एवं ब्रह्मवर्चस् नामक उन सप्त धनों की देनेवाली हैं जिनका संबन्ध 'वेदमाता' (गायत्री) से (अ १९.७२.१) स्पष्टतः स्वीकार किया गया है। इन मातों से जुड़ी हुई वेदमाता ही वह गायत्री है जो श्येन बनकर स्वर्ग (अ १९.७२.१ का ब्रह्मलोक) से सोम लाकर उसे पवमान-रूप में सात स्तरों पर प्रस्तुत करके, स्वयं सप्त पावमानी प्राण बन जाती है।

त्रिवृत् गायत्र तेज[34] के कारण गायत्री 'व्यवय' (मै ३.१३.१७; काठ १७.२) कही जाती है। अत एव उसके, उक्त पावमानी प्राण के समान, ज्ञानेंद्रियों एवं कर्मेन्द्रियों के स्तर पर भी क्रमशः दो सप्तक तैयार होते हैं। इस तरह, वस्तुतः ये वे ही तीन सप्तक हैं जिनको अहंबुद्धि एवं मन सहित क्रमशः पञ्च प्राण, पञ्च ज्ञानेंद्रियों एवं पञ्च कर्मेन्द्रियों के स्तर पर स्थित बताया जाता है। ये त्रिवृत् गायत्री के सप्त अक्षर हैं जो 'महत्तत्व' में समाविष्ट अष्टम अक्षर बनाते हैं और मूल प्रकृति (आत्मा से अभिन्न) के स्तर पर नवम। अत एव गायत्री को 'नवाक्षरा' कहा जाता है (माश ३.४.१.१५)। यह तत्त्वतः वही वाक् गायत्री (मै १.४.११; काठ २३.५) है जो नवपदी (ऋ १.१६४.४२) होती है। यही ज्योतिष्पक्षा गायत्री 'आत्मा' भी है जिसके पूर्वोक्त अष्टाक्षर आठ आन्तर उक्थ्य (काठ ३४.८) कहलाते हैं। यही गायत्री-रूप आत्मा, आत्मन्वी ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण, ब्रह्म गायत्री (माश १.३.५.५; मै ३.४.४; माश १.३.५.४; ५; ४.४.१.१८) है। ब्रह्माग्नि से समिद्ध होकर यही गायत्री अन्य छन्दों को भी (माश १.३.४.६) समिद्ध करती है।

गायत्री का समिद्ध होकर अन्य छन्दों को समिद्ध करना, सोम पवमान को लाकर पावमानी प्राण होना अथ वा अनेक सोम-सवनों को जन्म देना, वस्तुतः, एक ही बात है। इसी लिए, गायत्री को 'प्रेति च वा एति च' (जै ३.१२)-रूप माना गया है। ऊर्ध्वगमन एवं प्रत्यावर्तन के संदर्भ से ही उसके दो अतिरात्रों, दो अग्निष्टोमों तथा दो ज्योतियों (अग्नि-सोम की कल्पना की गई जिनके कारण गायत्री 'ज्योतिष्पक्षा' (काठ ३४.८) है। मूल कल्पना यह है कि ध्यानयोग-प्रक्रिया में आत्मचेतना (गायत्री) का जो आरोहावरोह होता है उसके द्वारा मानव के प्राणों में अग्नि एवं सोम तत्त्वों की समन्वित वृद्धि होती है। इससे उन प्राणों का विस्तार (माश १४.८.१५.७) होता है जो चन्द्रमा बनकर स्वर्गगमन करने के कारण 'गय' कहलाते हैं तथा जिनसे आत्मचेतना का गायत्री नाम होता है। ध्यानयोग के परिणामस्वरूप, अन्नमय

३२ गायत्र्येव भर्गः। गो २.५.१५
३३ प्राणा उ पावमान्यः। जै १.२७५
३४ त्रिवृद् वै गायत्रास् तेजः। तां १०.५.४

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

से हिरण्मय कोश तक जो पञ्चविध आत्मोक्थ होता है (ऐआ २.३.१) उसके पारिभाषिक नाम क्रमशः पृथिवी. वायु, आकाश, आपः और ज्योतींषि हैं। इसी को प्राणोक्थं (ऐआ २.१.४) अथ वा वागुक्थं (प १.५) कहते हैं क्यों कि तत्त्वतः गायत्री वाक्-प्राण ही है।

गायत्री वाक् के उन चार पदों में से सूक्ष्मतम है जिन्हें मनीषी ही जानते हैं और जिनमें से तीन गुहा में छिपे माने गए हैं,

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि,
तानि विदुर् ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति,
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ ऋ १.१६४.४५

निस्संदेह, गुहाहित पदों में से गायत्री का स्थान अन्तस्तम है। गायत्री के ऊपर रहनेवाला स्तूप ही **त्रिष्टुप्**[35] (त्रि+स्तूप) है। उसको क्षिप्रगति (गततमं) बनानेवाली ज्योति का नाम **जगती** है। इन तीनों के पश्चात् (अनु) रहनेवाला प्राण-'स्तूप' ही 'अनुष्टुप्'[36] (अनु+स्तूप) कहलाता है। इस प्रकार, वाक्-प्राण कही जानेवाली आत्मचेतना के गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती नामक तीन सूक्ष्म स्तर हैं जो गुहाहित माने गए हैं और अनुष्टुभ् स्थूल स्तर है जो मनुष्य की स्थूल अभिव्यक्ति का आधार बनता है। तंत्र में इन्हीं चारों पदों वा छन्दों को क्रमशः परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी वाक् कहा गया है।

अतः आत्मचेतना-रूप 'वाक्'-प्राण के गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती एवं अनुष्टुप् ही वे चार स्तर हैं जिनको वास्तविक छन्द (काठ ३४.४; तैसं ५.१.१.४; २.१.२; ३.४; जै १.३००; २.४३१) तथा वयुन (ज्ञानमात्र) को नद्ध करनेवाला 'वयोनाध' (माश ८.२.२.८) माना गया है। इनमें से चतुर्थ (अनुष्टप्) ही है जो जनसाधारण को सुलभ है। वह हमारी मांस-पेशियों की श्रमशक्ति (muscle power) एवं श्वास-प्रश्वास में उपलब्ध है। इसी का सदुपयोग करके हम क्रमशः जगती, त्रिष्टुप् एवं गायत्री को जागरित कर सकते हैं। अत एव अनुष्टुप् वाक् उन तीनों की माता[38] वा सुपर्णी वाक् है जो अपने तीनों बच्चों को बारी बारी से सोम को लाने के लिए प्रवृत्त करती है। पर सफलता गायत्री को ही मिलती है। गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती का यह प्रयास ही उनके द्वारा यज्ञ का वहन किया[39] जाना है क्यों कि सोमयज्ञ ही वास्तविक यज्ञ है। मनुष्य की दृष्टि से, अनुष्टुप् ही छन्दों में परमा (तैसं ५.४.१२.१) है क्यों कि उसी के साधने से अन्यों की भी सिद्धि हो सकती है। माता और उसकी संतान-त्रय में भेद बताने के लिए अनुष्टुप् को 'वाक्', तथा अन्य छन्दों को 'प्राण' (मै ३.१.९) कहा जाता[40] है क्यों कि तीनों की बात कहनेवाली यह अनुष्टुप् ही है। आंतरिक तैयारी के प्रयास और बाह्य अभिव्यक्ति के प्रसंग में ही यह लागू होता है। जहाँ तक सोमप्राप्ति एवं यज्ञवहन का प्रश्न है, तीनों संतानों का माता की अपेक्षा महत्त्व अधिक है। इसलिए गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती ही ऐसे छन्द हैं जिनकी 'देव' संज्ञा है, कतम एते देवा इति? छन्दांसीति ब्रूयाद् गायत्रीं त्रिष्टुभं जगतीम् इति। तैसं २.६.९.३-४

इस सारी मीमांसा का निचोड़ यह है कि वेदों में 'छन्द' शब्द का प्रयोग अक्षरपरिमाण-वाली स्थूल रचना तक सीमित मानना भारी भूल है।

---

३५ त्रिष्टुप् स्तोम इत्य उत्तरपदा का तु त्रिता स्यात् तीर्णतमं छन्दो भवति। दै ३.१४; १५

३६ जगती गततमं छन्दः। जगज्जगतिर् भवति क्षिप्रगतिः। दै ३.१७

३७ पश्चानमिव वा एतच्च छन्दो यद् अनुष्टुप्। काठ २६.६; क ४१.६

३८ तु. गायत्र्य उदपतत्, तामनुष्टुम्माता प्रत्यन्वैक्षत। जै १.२८८

३९ त्रीणि ह वै यज्ञं वहन्ति, गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती। जै १.१२०

४० तुलनीय, वाक् सुपर्णी, सौपर्णानि छन्दांसि, गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती। मै ३.७.३

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

वैदिक 'पुरुष'-तत्त्व : एक विवेचन

श्रद्धा, चौहान, एम ए, पीएच डी

(१) **समस्या का प्रस्तुतिकरण :** वैदिक परिभाषाओं को निश्चित करने की दृष्टि से जिन उलझनों का सामना करना पड़ेगा उनका एक उदाहरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है। **पुरुष** और **आत्मा**, ये दो ऐसे शब्द हैं जिन पर वेद से लेकर वेदान्त, सांख्य, जैन, बौद्ध और सन्त साहित्य तक का चिन्तन आधारित है पर फिर भी ये दोनों सुनिश्चित रूप से परिभाषित नहीं प्रतीत होते। प्रायः दोनों शब्दों के प्रयोग एक दूसरे से निरन्तर उलझे हुए से मिलते हैं। कभी दोनों पर्यायवाची प्रतीत होते हैं, तो कभी एक दूसरे से भिन्न अर्थ रखनेवाले।

कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। ऋग्वेद* १०.९७ में **पुरुष** शब्द निस्संदेह मानव-व्यक्तित्व के लिए प्रयुक्त हुआ है और साथ में पुरुष के आत्मा का भी उल्लेख[1] है। उधर ऋ ८.३.२४ में **रोहित** (योगारूढ़) जीव की **तुरीय** अवस्था को **आत्मा** कहा गया है और ऋ १.१६४.४ में किसी अज्ञेय, **असृक्** और रहस्यमय **असु** को **आत्मा** बताया गया है। निश्चय ही इस प्रकार के प्रसंगों में, **आत्मा** से अभिप्राय मानव-व्यक्तित्व के उस **अविनाशी**[2] तत्त्व से है जिसकी चर्चा आरण्यकों, उपनिषदों और दर्शन-ग्रन्थों में प्रायः मिलती है। मैत्रायणी[3] संहिता, आदि के अनुसार, यह आत्मा ही एकमात्र देवता है। इस कथन से यह ध्वनित है कि अन्य वैदिक देवता इसके रूपान्तर-मात्र हैं। **ऋग्वेदसर्वानुक्रमणी**-कार ने, मानो, इसी को दोहराते हुए स्पस्ट कहा है कि एक महान् आत्मा ही देवता है जिसको सूर्य भी कहा जाता है, और इसी की विभूतियां अन्य देवताओं के रूप में जानी जाती हैं। पर जब महान् आत्मा और एक अव्यक्त तत्त्व से भिन्न किसी पुरुष को परा गति एवं परा काष्ठा[4] कहा जाता है तो बात बिगड़ जाती है।

जब तैत्तिरीयसंहिता[5] आत्मा को पुरुष कहती है तो उलझन और बढ़ जाती है। आत्मा को पुरुष कहने का कारण यह है कि वह शरीर रूप पुर में रहता है। पर जिस ढंग से इसका उल्लेख किया जाता है उसे देखकर परम्परा से अनभिज्ञ व्यक्ति को भ्रम हो जाता है। उदाहरण के लिए, शतपथब्राह्मण[6] **शारीर आत्मा** को पुरुष तो कहता है पर यह कहने की आवश्यकता नहीं समझता कि शरीर को पुर मानते हुए उसके पुरुष को शारीर आत्मा कहा गया है। इसके विपरीत गोपथब्राह्मण[7] **पुरि शेत इति पुरिशयं सन्तं···· पुरुष इत्य आचक्षते** कहकर मौन धारण कर लेता है। वह यह बताना आवश्यक नहीं समझता कि यहां **पुर** शरीर का नाम है और उसमें शयन करनेवाला आत्मा पुरुष है।

इसी के साथ एक कठिनाई तब पैदा होती है जब आत्मा और पुरुष की चर्चा में **ब्रह्म** शब्द भी आ जाता है। सामान्यतः, ब्रह्म को परमेश्वर का एक नाम समझा जाता है। इसके अधीन ब्रह्मा, विष्णु, आदि अनेक देव माने जाते हैं। पर जब ब्रह्म को **महः, आत्मा,** तथा उसके अंगों को अन्य देवता, कहा जाए[8] और वह भी ऐसे प्रसङ्ग

---

* आगे **ऋग्वेद** के लिए **ऋ** संकेताक्षर प्रयुक्त मिलेगा।

१ आत्मानं तव पूरुष। ऋ १०.९७.४; ८

२ अविनाशी वा अरेयम् आत्मानुच्छित्तिधर्मा। माश १४.७.३.१५

३ मैसं १.१०.८; तैसं ३.३.१.५; निरु ७.४; बृहद् ४.१४८

४ कठोप १.३.१०–११

५ आत्मा वै पुरुषः। तैसं २.३.२.६; कसं. ३१.७

६ यश चायमध्यात्मं शारीरस् तेजोमयोमृतमयः पुरुषोयमेव स योयमात्मा। माश १४.५.५.१

७ गो १.१.३६

८ मह इति। तद् ब्रह्म। स आत्मा। अङ्गान्य अन्या देवताः। तैआ ७.५.१; तैउ १.५.१

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

में जहां **आत्मा** और **पुरुष** शब्दों का प्रयोग परस्पर पर्यायवाची के रूप में हुआ हो[9] तो निःसंदह परिभाषा निश्चित करने में सबसे बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है क्यों कि आत्मा सब ओर शरीरों द्वारा घिरा हुआ (**परिवृतः**)[10] है। सब शरीरों वा अंगों को सक्रिय रखने-वाली शक्तियां आत्मा की विभूतियां अथ वा अंग[11] हैं; इसी लिए सब अंगों की उत्पत्ति[12] आत्मा से मानकर उन्हें आत्मा की अंगभूत देवताएं कहा जाता है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न स्वाभाविक होता है कि कहीं आत्मा वा पुरुष से यहाँ वह परमात्मा तो अभिप्रेत नहीं जो सभी शरीरों का समष्टिगत ब्रह्म वा चैतन्य कहा जाता है।

एक अन्य जटिलता उस समय उत्पन्न होती है जब व्यष्टिगत पुरुष के सारे नानात्व का कर्ता उसमें स्थित एक **देव**[13] कहा जाता है और उसका नाम **ब्रह्म**[14] बताया जाता है तथा साथ ही यह भी उल्लेख है कि वह यहाँ **हिरण्यय कोश** का **महत् यक्ष**[15] है जिसको ही ब्रह्मवेत्ताओं ने ही जाना। उससे सामर्थ्य पाकर आत्मा ब्रह्मरूप में देहगत **अपराजिता हिरण्ययी पुर्** में प्रविष्ट[16] हुआ है। दूसरे शब्दों में, मानव-व्यक्तित्व-रूप पुरुष के भीतर समस्त नानात्व का विधाता वस्तुतः समष्टिगत ब्रह्म है और आत्मा उससे सामर्थ्य पाकर इस अनेक रूपात्मक विधान का ब्रह्मा बनता है। यह ब्रह्म वह **हिरण्यगर्भ** प्रजापति[17] है जो प्रत्येक व्यष्टिगत पुरुष (ब्रह्मा) का **आत्मदा** और **बलदा** कहा जाता है और जिसके रहस्यमय एवं अनिर्वच-नीय स्वरूप को जानने-समझने की इच्छा की जाती है।[18] ब्रह्मा वह आत्मा है जिसमें **आयुष्कृत्** और **आयुष्पत्नी** नामक आत्मस्थ मिथुन (**आत्मसदौ**, अथर्ववेद* ५.९.८) की स्थिति मानी गई है। इन दोनों की तुलना पुरुष-स्त्री के उस जोड़े से की जा सकती है जिनके रूप में द्विधा व्यक्त होकर आत्मा सृष्टिकर्ता (बृ-उ ४.३.१) ब्रह्मा बनता है। इसका अभिप्राय है कि मानव-व्यक्तित्व के 'आयु' नामक जागत स्वरूप के निर्माण में चेतन जीव और जड़ शरीर पति पत्नी के समान परस्पर सहयोगी हो रहे हैं।

दूसरी दृष्टि से मानवदेह-रूप पुर् में वस्तुतः दो पुरुष निवास करते हैं जिनमें एक (जीव) का अस्तित्व एक ही देह तक सीमित है पर दूसरा (ब्रह्म) जिस प्रकार इस देह में है उस प्रकार अन्य देहों में भी विराजमान रहता है। प्रथम **आत्मा** है और दूसरा **परमात्मा वा ब्रह्म**। यक्ष[19] (**ब्रह्म**) आत्मन्वत् (आत्मा से युक्त) प्रत्येक देह के हिरण्यय कोश में स्थित रहता है। इस ब्रह्म से युक्त आत्मा को **हिरण्यय रथ**[20] पर आसीन **आदित्य** वा **सविता** भी कहा जाता है। कठिनाई यह है कि मनो-मय कोश से लेकर अन्नमय कोश तक अनेकविध नानात्व में उलझा हुआ यह आत्मा जीव नाम से विख्यात होकर यह भूल जाता है कि उसमें और पूर्वोक्त आदित्य में एक ही पुरुष है; क्यों कि उसके और हिरण्यय कोश के बीच में एक परदा पड़ा हुआ है।[21] इस परदे को **हिरण्मय पात्र** कहा जाता है। यह पुरुष-रूप प्रजापति का रमणीय तनू माना जाता है।[22] यह वस्तुतः अनेकता की सृष्टि अथ वा

---

९ प्रसङ्ग अन्नमय पुरुष से लेकर आनन्दमय पुरुष तक का है। वही ७.५.१–५; १.५.१–५

१० अयमात्मा सर्वतः शरीरैः परिवृतः। ऐआ २.३.५

११ आत्मन्य अङ्गानि प्रतिहितानि। जै ४०८

१२ आत्मनो वा इमानि सर्वाण्य अङ्गानि प्रभवन्ति। माश ४.२.२.५ आत्मन्य अधि अङ्गानि प्ररोहन्ति। माश ८ ७.२.१५

१३ अथर्ववेद १०.२.८—१४ १४ वही, २५

१५ तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः। वही, ३२

१६ वही, ३३ १७ ऋ १०.१२१.१—२

१८ वही, तथा अथर्ववेद १०.२

* आगे **अथर्ववेद** के लिए अ संकेताक्षर प्रयुक्त मिलेगा।

१९ यह यक्ष ही ब्रह्मविदों का ज्ञेय ब्रह्म है (अ १०.२.२८; ३२; १०.८.४३। तुलनीय, के-उ ३.१२; ४.१

२० ऋ १.३५.२

२१ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। योसाव् आदित्ये पुरुषः सोसाव् अहम्। (माय ४०.१७

२२ तद् यदस्य (प्रजापतेः) एतस्यां रम्यायां तन्वा देवा अरमन्त तस्माद्द् हि रम्यं। रम्यं ह वै तद्द् हिरण्यम् इत्य् आचक्षते परोक्षम्। माश ७.४.१.१६

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

सम्भूति का बीज है। इसमें जब आदित्य-रूप आत्मा की 'अ-विद्यमानता' स्वीकार की जाती है तो इसका नाम **'अ-विद्या'** भी होता है। इसके विपरीत, आदित्य-पुरुष का ज्ञान होने पर सम्भूति अथ वा अविद्या का सम्पूर्ण नानात्व नष्ट होकर एकत्व[23] की प्रतीति होती है। इसी लिए उस अवस्था को **अ-सम्भूति** कहते हैं। उसमें आदित्य-पुरुष की 'विद्यमानता' स्वीकार की जाती है; इसलिए उसका नाम **'विद्या'** भी है। हिरण्मय परदा हट जाने पर असम्भूति और सम्भूति अथ वा विद्या और अविद्या, दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू प्रतीत होते हैं और व्यष्टिगत आत्मा वा पुरुष अपने को उस समष्टिगत पुरुष (ब्रह्म) से अभिन्न पाता है जो उसके व्यष्टिगत पुर् के अतिरिक्त अन्य पुरों में भी उसी प्रकार विद्यमान रहता है। इस प्रकार मानव को अपने आत्मा के भीतर व्यष्टिगत और समष्टिगत पुरुषों के ऐक्य[24] की प्रतीति होने लगती है, नर में नारायण का निवास सिद्ध हो जाता है।

अतः, आत्मा क' सम्बन्ध जिस पुर् से हैं वह व्यष्टिगत और समष्टिगत भेद से दो प्रकार का है। **पुरुष** शब्द एक दृष्टि से व्यष्टिगत चैतन्य के लिए प्रयुक्त होता है, तो दूसरी दृष्टि से समष्टिगत चैतन्य के लिए। प्रथम अर्थ में इसका एक प्राचीनतम प्रयोग अ १०.२ में मिलता है, तो द्वितीय अर्थ में इसका स्पष्टतम प्रयोग अ १९.६.१ (और ऋग्वेद १०.९०.१) में देखा जा सकता है। इसी प्रयोग में **पुरुष** शब्द की व्याख्या करते हुए, प्रश्नोपनिषद्[25] ने उसकी जो व्युत्पत्ति दी है उसके अनुसार जगत् में सब कुछ (**इदं सर्वम्**) जिससे पूर्ण हो रहा है उसका नाम पुरुष है। सब पुरियों में शयन करने के कारण वह पुरुष कहलाता है।[26]

इस प्रकार, व्यष्टिगत एवं समष्टिगत पुर् के सन्दर्भ से, पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति[27] **पॄ, पूर, वस्, उष्, शीङ्,** आदि कई धातुओं से की गई है। ये व्युत्पत्तियां मुख्यतः अर्थ की दृष्टि से की गई हैं। अतः जब एक ऐसे पुरुष की कल्पना की जाती है जो किसी प्रकार के पुर् से सम्बन्ध नहीं रखता तो उसकी व्युत्पत्ति में **पुर्** के स्थान पर **पूर्व** शब्द को भी लिया जा सकता है।[28] यह व्युत्पत्ति **पुरुष** शब्द द्वारा चैतन्य की उस अवस्था की ओर संकेत करती है जो पुर् से सम्बन्धित सब प्रकार के नानात्व से परे वा पूर्व होती है। इस पुरुष की तुलना वेदान्त के निरुपाधिक चैतन्य से की जा सकती है। इसे **असङ्ग**[29] वा अतिरिक्त[30] पुरुष भी कहते हैं। यह कभी कभी **अतिपुरुष** अथवा **अपूरुष** (जैउ १.८.२.२; ऋ १०.१५५.२) कहलाता है। वह अपने सब सम्बन्धों को दग्ध कर चुका है। अतः उस पुरुष का निर्वचन **उष्** (=दाह) से भी सम्भव हो जाता है (माश १४.४.२.२)।

इसके विपरीत, **पुरुष** और **आत्मा** शब्दों का प्रयोग मानवदेह के स्थूलतम रूप के लिए भी होता है। इस दृष्टि से उपनिषदों एवं आरण्यकों में मानवदेह को **अन्नरसमय पुरुष** वा **अन्नमय आत्मा** कहा गया[31] है। ऐतरेयारण्यक[32] के अनुसार मनुष्य-देह में भी, बाह्य जगत् के पंच महाभूतों के समानान्तर, पांच तत्त्वों की कल्पना की जा सकती है। इस प्रसङ्ग में अथर्ववेद १०.२ विशेष रूप से

---

२३ यस्मिन्त् सर्वाणि भूतान्य् आत्मैवाभूद् विजानतः। तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वम् अनुपश्यतः। माय ४०.७

२४ यस् तु सर्वाणि भूतान्य् आत्मन्न् एवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति। माय ४०.६

२५ तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्। प्र-उ ५.५

२६ माश १४.५.५.१८

२७ फतहसिंह, **वैदिक एटिमॉलॉजी** पृ १६०, १६१; **वैदिक दर्शन** पृ २४, ५०

२८ पूर्वमेवाहमिहासमिति तत् पुरुषस्य पुरुषत्वम्। तैआ १.२३.१.१.२

२९ असङ्गो ह्ययं पुरुषः। माश १४.७.१.१७

३० फतहसिंह, **पुरुषसूक्त की व्याख्या** (वेद-सविता; अप्रेल, १९८१)

३१ स वा पुरुषोऽन्नरसमयः। तैउ २.१.३। तुलनीय, अन्नमयम् आत्मानम्। वही, २.८.४

३२ स एष पुरुषः पंचविधस् तस्य यदुष्णं तज् ज्योतिर्, यानि खानि स आकाशो,थ यल् लोहितं श्लेष्मा रेतस् ता आपो, यच् छरीरं सा पृथिवी, यः प्राणः स वायुर् इति। ऐआ २.३.३

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

उल्लेखनीय है। इसमें मानवशरीर के एड़ी से लेकर चोटी तक के प्रायः सब अङ्गों की गणना पुरुष के अन्तर्गत की गई है (१-६)। इन स्थूलांगों के अतिरिक्त, यहां पुरुष के कुछ अर्द्धभौतिक, मानसिक एवं अतिमानसिक तत्त्वों का भी उल्लेख है। उसके प्रिय और अप्रिय, स्वप्न तथा तन्द्रा, प्राण और अपान, सत्य एवं अनृत, मृत्यु तथा अमृत, बल और गति, मेधा तथा वाक्, आदि की चर्चा इसका प्रमाण है (अ १०.६-१८)। पुरुष में मूर्धा और हृदय नामक दो पक्ष हैं जिनका संसेवन करके अथर्वा मस्तिष्क के ऊपर से प्रेरित कर रहा है। इसी को देवकोश अथ वा 'अथर्वा का शिर' भी कहा जाता है जिसकी रक्षा मन, प्राण और अन्न करते हैं।[33]

कुछ विद्वानों की सम्मति[34] में, पूर्वोक्त देवकोश वा 'अथर्वा का शिर' वही है जिसे अन्यत्र[35] विज्ञानमय कोश कहा गया है क्यों कि वहां विज्ञानमय के पश्चात् ही क्रमशः मनोमय, प्राणमय एवं अन्नमय कोश की स्थिति मानी गई है। अतः अथर्ववेद १०.२ के अनुसार इस चतुर्विध शरीर में ऊपर नीचे, इधर उधर, सर्वत्र पुरुष व्याप्त है जिस कारण उस शरीर को पुरुष का पुर् कहा जाता है (वही, २८)। इस पुर् में एक हिरण्मय कोश नामक ज्योतिर्मण्डित स्वर्ग है[36] जिसकी तुलना तैत्तिरीयोपनिषद्[37] के आनन्दमय पुरुष वा आत्मा से की जा सकती है जो कि पूर्वोक्त विज्ञानमय पुरुष का अन्तरात्मा बताया जाता है और पूर्वोक्त चारों स्तरों को **संहितान्तं चतुष्टयं** का रूप देनेवाला है।

इस प्रकार, **पुरुष** शब्द व्यष्टिगत चैतन्य का ही नहीं अपि तु सम्पूर्ण मानव-व्यक्तित्व का द्योतक हो जाता है। इसी को आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय तथा अन्नरसमय नाम से पञ्चविध[38] पुरुष कहा जाता है। इनमें से प्रत्येक पूर्ववर्ती अपने परवर्ती का रस अथ वा अन्तरात्मा माना जाता है और आनन्दमय पुरुष को सबका अन्तरात्मा अथ वा रस[38] कहा जाता है। इस दृष्टि से ऐतरेय तथा शांखायन आरण्यकों में आनन्दमय पुरुष को **आदित्य पुरुष** नाम दिया गया है तथा विज्ञानमय पुरुष को **महापुरुष** एवं **संवत्सर** नाम से पुकारा गया है।[39] मनोमय, प्राणमय तथा अन्नरसमय पुरुष को क्रमशः वेदपुरुष,[40] छन्दःपुरुष[41] और शरीरपुरुष[42] कहा गया है।

मानव-व्यक्तित्व में आत्मा वा पुरुष के, इस प्रकार, जिन पाँच स्तरों की कल्पना की गई है उनमें से अन्तिम चार में उसे, सामान्यतः पुरुष प्रजापति[43] माना जाता है। यह प्रजापति शरीर[44] में स्थत है। इसी लिए प्रजापति के मर्त्य और अमृत रूप में दो भाग माने जाते हैं। प्रथम, मर्त्य भाग में लोम, त्वक्, मांस, अस्थि और मज्जा की गणना होती है, तो द्वितीय, अमृत भाग में मन, वाक्, प्राण, चक्षु एवं श्रोत्र माने जाते हैं।[45] अतः इस प्रजापति की प्रजाओं को मानव-व्यक्तित्व के अन्तर्गत **मतयः** (तैआ ५.६.८), **रसः** (तैसं २.१.७.४), **सुम्नम्** (जैउ २.१०.३; तैसं ५.४.६.६), **वर्चस्** (तैआ २.२.२; जैब्रा १.१७४), आदि कहा जाता है। वास्तव में, प्रजापति की ये सब

---

३३ अ १०.२.२६-२७

३४ फतहसिंह, **वैदिक दर्शन**, पृ. १-११

३५ तैउ २.१-५ ३६ अ १०.२.३१

३७ तैउ २.५ ३८ तैउ २.१-५

३९ महापुरुष इति यमवोचाम संवत्सर एव प्रध्वंसयन्न् अन्यानि भूतान्य ऐक्या भूतान्य अन्यानि तस्यैतस्यासाव् आदित्यो रस इति। ऐआ २.३.२

४० वेदपुरुष इति यमवोचाम येन वेदान् वेद ऋग्वेदं यजुर्वेदं सामवेदं तस्यैतस्य ब्रह्म रस इति। वही

४१ छन्दःपुरुष इति यमवोचामाक्षरसमाम्नाय एव तस्यैतस्याकारो रस इति। वही

४२ शरीरपुरुष इति यमवोचाम स य एवायं दैहिक आत्मा तस्य योयमशरीरः प्रज्ञात्मा स रसः। वही

४३ आत्मा वै प्रजापतिः। माश ४.५.६.२; ६.१.१.१; ११.५.९.१; स एव पुरुषः प्रजापतिर् अभवत्। माश ६.१.१.५; यः प्रजापतिः स तन् मनः। जैउ १.११.१२; प्रजापतिः प्राणः। माश ७.५.१.२१

४४ शरीरे प्रजापतिः। शांआ ६.२.; कौ-उ ४.२

४५ तदेता वास्य (प्रजापतेः) ताः पंच मर्त्याः स्तन्व आसन्। लोम त्वङ् मांसमस्थि मज्जा। अथैता अमृता मनो वाक् प्राणश् चक्षुः श्रोत्रम्। माश १०.१.३.४

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

प्रजाएँ **सोमी** वा **सोम्या** (मैसं २.१.६; तैसं ६.४ १.३) कहलाती हैं और आनन्दप्रतीक सोम को इन प्रजाओं का अधिपति माना जाता है (कासं ११.५)। अत एव प्रजापति की प्रजाओं के अन्तर्गत मानव-व्यक्तित्व की सब भावात्मक वा रसात्मक सृष्टि का समावेश होता है। ये ही सब प्रजाएँ **मानवी** (तैसं १.५.१.३; ३.४.३.७) कहलाती हैं जिनके सन्दर्भ में पुरुष प्रजापति को **मनु** कहा जाता है (माश ६.६.१.१९)।

इन प्रजाओं की सृष्टि के लिए प्रजापति को पूर्वोक्त मर्त्य और अमर्त्य, दोनों भागों का प्रयोग करना पड़ता है। इन्हीं दो रूपों में वह क्रमशः स्त्री और पुरुष (जैब्रा २.९; वृउ ४.१.३) अथ वा आयुष्कृत् तथा आयुष्पत्नी कहा जा चुका है। जब ये दोनों यम, नियम और संयम की यमुना में स्नान कर लेते हैं तो ये यम यमी नामक भाई बहिन कहे जाते हैं। अमृत और मर्त्य वस्तुतः मानव-व्यक्तित्व के जीव- और शरीर- पक्ष हैं। एक दृष्टि से प्रथम की **अमृतासु**, तो द्वितीय की **असुरात्मा** संज्ञा होती (अ ५.१.७) है। अमृतासु पुनः सोम और अग्नि तत्त्वों की दृष्टि से द्विधा है। प्रजाओं का सृष्टिकर्ता एक रूप में सोमाश्रित प्रजापति है, जब कि इससे भिन्न एक प्रजा पति (मैसं ३.३.१०) अग्नि पर आश्रित होता है और **पशव्या तनू** (काठ ७.४) कहलाता है। अग्नि पर आश्रित प्रजापति पशुओं की सृष्टि करता है। इसी कारण पशुओं को अग्निमुख[46] कहा जाता है। सभी पशु, काठक और कपिष्ठल संहिताओं के अनुसार, आग्नेय सृष्टि (काठ २६.७. क ४१.५) हैं। जिस प्रकार सोम[47] मानव-व्यक्तित्व के रसात्मक, हृदय-पक्ष का प्रतीक है उस प्रकार अग्नि ज्ञानात्मक, मूर्धा-पक्ष का द्योतक है। अत एव जहाँ प्रजा को स्वादु (जै २.१४४; तैआ १.३.४) कहा जाता है वहाँ पशुओं की सृष्टि के सन्दर्भ में अग्नि और पशु, दोनों के साथ दर्शनार्थक अथ वा ज्ञानार्थक **पश्** धातु का प्रयोग[48] होता है। इसी भेद को बतलाने के लिए प्रजाओं को **मानवी विशः**, तो पशुओं को **दैवी विशः** (मै ३.९.६) कहा[49] जाता है। अत एव वैदिक साहित्य में पशु ज्ञान के प्रतीक प्रतीत होते हैं। तभी पशुओं को ब्राह्मण की सभा[50] कहा गया है।

इस दृष्टि से प्रजा, पशु को मानव-व्यक्तित्व की भावपक्षीय और ज्ञानपक्षीय सृष्टि मानना पड़ता है। विज्ञानमय से लेकर अन्नमय स्तरों तक यह समस्त सृष्टि अग्निसोमात्मक है। इन चार स्तरों के संदर्भ से मानव-व्यक्तित्व और पशुओं को **चतुष्पाद्** (मै १.५.१०; ३.२.१; ७.५; गो २.१.४; ३.१६) कहा जाता है। यह मानव-व्यक्तित्व **प्रज्ञात चतुष्पय** (माश २.६.२.७) है जो बाह्य पर्यावरण समेत पञ्चस्तरीय जगत्[51] के पाँच प्रकार के जागत[52] पशुओं से युक्त माना जाता है। इन पाँच प्रकार के पशुओं के पाँच रूपों के नाम स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाते हुए क्रमशः **आयुः, ज्योतिः, इडा, वसु** तथा **गोष्ठ** हैं और इन रूपों को प्रकट करनेवाली देवशक्तियों को तदनुसार **प्रजापति, मरुतः बृहस्पति, इन्द्र** तथा **रयिः, पुष्टि (पूषा)**[53] कहा जाता है (मै ४.२.११)। इसी क्रम में पाँचों पशुओं के नाम **पुरुष, अश्व, गौ, अवि** तथा **अज** हैं (तैसं २.१.१.५; काठ १३.१; मै १.८.३)।

इस प्रकार पुरुष मानव-व्यक्तित्व का वह स्थूल रूप है जो बाह्य जगत् के सम्पर्क से उत्पन्न होनेवाला व्यवहारात्मक मानव है। इसी पुरुष-रूप पशु का रूप **आयु** कहा गया है। **आ-यु** का अर्थ है अपने को चारों

---

४६ अग्निमुखान् वै प्रजापतिः पशून् असृजत्। मै ३.३.१०

४७ फतहसिंह, **वैदिक दर्शन**, पृ. ११५

४८ एतान् पञ्च पशून् अपश्यत् (अग्निः) पुरुषमश्वं गामविमजं यदपश्यत् तस्मादेते पशवः। माश ६.२.१.२

४९ तेष्व (पशुषु) एतं (अग्निं प्रजापतिः) अपश्यत् तस्माद्व एते पशवः। माश ६.२.१.४
दैवीर् वा एता विशो यत् पशवः। काठ. २६.७; क ४१.५; माश ३.७.३.९

५० पशवः खलु वै ब्राह्मणस्य सभा। तैसं १.७.६.७-८

५१ यः पुरुषमात्रस् सः जगच्चित्। काठ २१.४

५२ काठ ३४.९; ऐ १.५; २१; २८; ३.१८; ४.३; ५.६; कौ ३०.२; गो २.४.१६

५३ पुष्टिर् वै पूषा। मै ४.२.१०; ३.८; काठ ३१.१; ऐआ १.१.१

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

ओर से जोड़नेवाला। इस पुरुष में तीन इन्द्रियां[54] **आत्मा, प्रजा** और **पशु** नाम से कही गई हैं। इसका अभिप्राय है कि वैदिक साहित्य में पुरुष और आत्मा का भेद मानव-व्यक्तित्व के व्यावहारिक स्तर पर ही माना गया है। इस स्तर पर सम्पूर्ण मानव-व्यक्तित्व का नाम **पुरुष** है, चैतन्य जीव **आत्मा** है, शरीर उसकी **जाया** वा पत्नी है और उसमें उत्पन्न होनेवाली इच्छाएं, विचार, आदि **पशु** और **प्रजा** हैं।[55] यही पुरुष पूर्वोक्त अन्नमय पुरुष है जिसका अन्तरात्मा प्राणमय पुरुष कहा गया है। इसी प्रकार प्राणमय पुरुष का अन्तरात्मा मनोमय पुरुष, मनोमय पुरुष का अन्तरात्मा विज्ञानमय पुरुष, तथा विज्ञानमय पुरुष का अन्तरात्मा आनन्दमय वा हिरण्यय पुरुष कहलाता है। दूसरे शब्दों में, व्यावहारिक दृष्टि से प्रत्येक स्तर पर मानव-व्यक्तित्व का बाह्य रूप पुरुष कहलाता है, तो आन्तरिक रूप आत्मा। पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा और पुरुष, दोनों उस अविनाशी चैतन्य तत्त्व के वाचक हैं जो शरीर वा पुर् में निवास करनेवाला है। व्यावहारिक स्थूल पुरुष को अनेक दृष्टि से नानारूपात्मक कहा गया है जिसमें मांस, रस और शरीर होते हैं पर उसकी इस अनेकरूपता में जो अखंड (अदिति) तत्त्व है वह एक है और यह स्थूल पुरुष का स्वामी कहलाता है।[56] इस अखण्ड तत्त्व का नाम आनन्दमय आत्मा अथ वा हिरण्मय पुरुष है।[57]

इसी आधार पर समष्टिगत पुरुष को भी, देहसमष्टि-रूप पुर में रहनेवाला पुरुष कहने पर, स्थूल व्यावहारिक दृष्टि से **पुरुष**, तो सूक्ष्म पारमार्थिक दृष्टि से **आत्मा** अथ वा **परमात्मा** समझा जा सकता है। दोनों दृष्टियों से पुरुष वा आत्मा की व्यावहारिक सत्ता के अर्द्ध भाग में अङ्गों का समावेश होता है, तो अर्द्ध भाग **आयु** कहलाता है।[58] इसका अर्थ है कि प्रथमार्द्ध में स्थूल भाग है, तो द्वितीय में चैतन्य भाग। इसलिए आयु को **प्राण** (ऐ २.३८), **अग्नि, ब्रह्म, यज्ञ** और **अमृत** (मै २.३.४) कहा जाता है। यह भी स्पष्ट है कि इस चेतन भाग की **आयु** संज्ञा केवल शरीर के सम्बन्ध से है।[59] पर यहां समष्टि के सन्दर्भ में, 'शरीर' से शरीर-समष्टि ही अभिप्रेत होगी। **आत्मवत् सर्वभूतेषु** की भावना से अन्य शरीरों में भी अपने आत्मा का दर्शन करके मनुष्य अन्य से जुड़कर 'आयु' होता है।

समष्टि की दृष्टि से, आयु के सम्बन्ध में ब्राह्मणादि ग्रन्थों में चर्चा कम हुई प्रतीत होती है पर ऋग्वेद में इसी आधार पर **विश्वायु** की कल्पना हुई है। विश्वायु के लिए ही इन्द्र सर्वत्र प्रदक्षिणारत **शुष्ण** नामक असुर का वध करता है।[60] विश्वायु की प्राप्ति के साथ अग्नि उरुत्व (विशालहृदयता) भी देता है।[61] अग्नि स्वयं विश्वायु है जो विश्वदेववीति का स्वामी है।[62] व्यष्टिगत आयु ही उरुत्व प्राप्त करके विश्वायु बनता है और तव पूषा देव प्रकृष्ट मार्ग पर उसकी रक्षा करता है।[63] विश्वायु की कल्पना वस्तुतः व्यष्टि के व्यक्तित्व का एक विकसित रूप ही है। इसलिए इसको **विश्वायु तनू** भी कहा जाता है जिसके पोषण के लिए वृत्रवध के साथ दिव्य आपः का प्रवाह आवश्यक समझा जाता है।[64] विश्वायु व्यक्तित्व एक दृष्टि से सोम की ही पूर्वोक्त प्रजामयी अभिव्यक्ति, सम्पत्ति अथ वा व्याप्त गृह है।[65] इसी प्रकार विश्वायु अग्नि को पशु-मयी सृष्टि के पदों का रक्षक कहा जाता है।[66] अतः

---

५४ त्रीणि पुरुष इन्द्रियाण्ट आत्मा प्रजाः पशवः। जैब्रा १.१८६; ३.२७७

५५ एतावान् पुरुषो यदात्मा प्रजा जाया। तां ३.४.३; १३.३

५६ अग्निं वै पुरुषस्य प्रमीतस्य मांसानि गच्छन्ति, सोमं रसः, पृथिवीं शरीरमियं (पृथिवी) अदितिर् अस्यां हि शय एता वै देवता पुरुषस्येशते। काठ ११.८

५७ अथैष पुरुषो हिरण्ययो यजमानलोकमेवैष दाधार। मै ३.२.६ विज्ञानमयस्यान्यो आन्तर आत्मा आनन्दमयः। तैउ २.५.१; तैआ ८.५.१

५८ अर्द्धं वै पुरुषस्यात्मनोऽङ्गान्य अर्द्धमायुः। क ४.४.१

५९ यावद् अस्मिन् छरीरे प्राणो वसति तावदायुः। शांआ ५.२; कौ ३.३.२

६० ऋ १०.२२.१४ ६१ ऋ १०.७.१

६२ ऋ १०.६.३ ६३ ऋ १०.१७.४

६४ ऋ १०.१०४.६ ६५ ऋ ९.८६.४१

६६ ऋ १.६७.५

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

विश्वायु की कल्पना में प्रजापति की पूर्वोक्त अग्नि-सोमात्मक सृष्टि का पूरी तरह समावेश हो जाता है।

विश्वायु की कल्पना ही नारायण के रूप में मिलती है। व्यष्टि की दृष्टि से जिसे आयु कहते हैं वह नर है, तो समष्टि की दृष्टि से जिसे विश्वायु कहते हैं वह नारायण है।[67] इन दोनों की स्थिति मानव-व्यक्तित्व में है। इसलिए नर, नारायण को पुराणादि द्वारा सहज बन्धुद्वय के रूप में याद किया जाता है।

(२) वेद-संहिताओं में पुरुष का चित्रण

पुरुष- और आत्म-विषयक पूर्वोक्त विवेचन के आधार पर, यह भली-भांति समझा जा सकता है कि **वैदिक साहित्य में व्यष्टिगत और समष्टिगत चैतन्य के वर्णन में समान शब्दावली का प्रयोग** क्यों किया जाता है। ब्रह्म और आत्मा का सह अस्तित्व एक विशेष प्रकार के बल को जन्म देता है जिसका पारिभाषिक नाम **सहस्** है।[68] पुरुष प्रजापति की सृष्टि में दोनों के सह-अस्तित्व का नाम है **सह-स्व**, क्यों कि इस सृष्टि में दोनों का 'सह-स्ववण' होता है।[69] इस दृष्टि से आत्मा को **सह-स्ववान्** (ऐब्रा २.४०) कहा जाता है। यद्यपि हिरण्यय कोश में इस सह-स्वम् नामक सहास्तित्व का परम रूप है (तां १६.९.२) पर विज्ञानमय से लेकर अन्नमय तक की समस्त सृष्टि **साहस्री वाक्**[70] की उपज है। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए ऋग्वेद स्पष्ट करता है कि पञ्च प्राणों, पञ्च ज्ञानेन्द्रियों और पञ्च कर्मेन्द्रियों के रूप में पञ्चदश उक्थों तथा आत्मा की अनेक महिमाओं का जो सह-स्वधा विभाजन है उसमें ब्रह्म और उसकी वाक् का भी सह-स्वत्व अभिव्यक्त हो रहा है।[71] इसी अर्थ में पुरुष को 'सह-स्व की प्रतिमा' कहा जाता है (माश ७.५.२.१७), तो आयु को **सह-स्वम्** (तैब्रा ३.८.१५.३; १६.२)।

पुरुष-सूक्त का 'पुरुष'

इस दृष्टि से विभिन्न संहिताओं में प्राप्त पुरुष-सूक्तों के पुरुष को सचमुच **सह-स्वस्य प्रतिमा** कहा जा सकता है। ऋग्वेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद के पुरुष-सूक्तों के आरम्भिक मन्त्र में **सह-स्व-शीर्षा, सह-स्व-बाहुः, सह-स्वाक्षः, सह-स्व-पात्** विशेषणों से यह संकेत स्पष्ट है। यहां **सह-स्व** शब्द को केवल बहु-वाची कहना पर्याप्त नहीं है। गत दो वर्षों में 'पुरुष-सूक्त की व्याख्या' शीर्षक से 'वेद-सविता' में जो लेखमाला प्रकाशित हुई है उसके सारांश से यह स्पष्ट हो जाएगा कि किस प्रकार विभिन्न रूपकों और प्रतीकपरक वर्णनों द्वारा पूर्वोक्त सह-स्वत्व चित्रित किया गया है।

पुरुष एक ऐसा पारिभाषिक शब्द है जिसमें मनुष्य-मात्र, अर्थात्, नर, नारी और नपुंसक, तीनों का समावेश होता है। पुरुष में मानव-व्यक्तित्व का केवल शरीर-पक्ष नहीं आता है। शारीरिक पक्ष को तो अन्नमय पुरुष कहा जाता है पर उसका अन्तरात्मा प्राणमय पुरुष, प्राणमय का अन्तरात्मा मनोमय पुरुष, मनोमय का अन्तरात्मा विज्ञानमय पुरुष एवं विज्ञानमय पुरुष का अन्तरात्मा आनन्दमय पुरुष है। इस प्रकार, **पुरुष** की परिभाषा में मानवदेह-रूप पुर् के ये पाँचों स्तर आते हैं। इसके स्थूल रूप में आठ चक्र और नौ इन्द्रियद्वार हैं। इन्हें लक्ष्य करके मानव के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को नौ द्वारों और आठ चक्रों वाली **अयोध्या पूः** (अ १०.५.३१) कहा गया है। इसके भीतर आत्मा से युक्त यक्ष (ब्रह्म) विराजमान है (अ १०.२.३२)। उसी को ब्रह्मवेत्ता जानते हैं।

इस पुर् में निवास करने से आत्मा **पुरुष** कहलाता है। वह ऊपर, नीचे, तिर्यक्, आदि सभी दिशाओं में फैला हुआ है। इसलिए इसकी अनेक विभूतियाँ हो जाती हैं जिनको इस अयोध्यापुरी के **देव** कहा जाता है। इन्द्रिय, प्राण और मन के द्वारा प्रकट होनेवाली अनेक शक्तियाँ इसी एक देव की देवता अथ वा देवत्व वा विभूतियां हैं

---

६७ गो १.५.११; माश १२.३.४.१; १३.६.१.१

६८ निघ २.९

६९ यत् (प्रजापतिः) सहेत्य अब्रवीत् तत सह-स्वस्य सह-स्वत्वम्। जै २.२५४

७० वाग् वा एषा निदानेन यत साहस्री तस्या एतत् सहस्रं वाचः प्रजातम्। माश ४.५.८.४

७१ सहस्रधा पञ्चदशान्य उक्था यावद् द्यावापृथिवी तावद् इत् तत्। सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्। ऋ १० ११४.८

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

जिनको प्रायः **देव** कहा जाता है। इन देवों के **वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वे देवाः** और **मरुत** नामक पांच गण हैं जिन्हें **दैवी** अथ वा **दैवजनी विशः** कहा जाता है। पुरुष की विभूतियाँ विभिन्न स्तरों पर, विभिन्न दृष्टियों से **गन्धर्व, अप्सरस्, मनुष्य, पितृ, असुर, राक्षस, पिशाच,** आदि भी कही जाती हैं। सामान्यतः इन्हें दैवी और आसुरी, दो वर्गों में विभक्त किया जाता है।

एक दूसरे रूपक में पुरुष वा आत्मा की इन विभूतियों की **पशु** संज्ञा है। आरम्भ में ये पशु निरीह, निर्दोष और भोले-भाले होते हैं। इसलिए इन्हें **ग्राम्य** कहा जाता है। ये जब इन्द्रियद्वारों से शरीर के बाहर झांकते हैं तो उन्हें जगत् के शब्द, रूप, रस, गन्ध, आदि विषयों का एक हरा-भरा **अरण्य** (जंगल) आकर्षित करता है। वे उसकी ओर दौड़ते हैं क्यों कि वह रण्य (रमणीय) प्रतीत होता है। पर वहाँ उन्हें निराशा और थकावट ही हाथ लगती है। और तब उन्हें वह जंगल अ-रण्य, अर्थात्, अ-रमणीय ही प्रतीत होता है। जब वे उस अरण्य में भटकने के अभ्यस्त हो जाते हैं तो उन्हें **आरण्य** पशु कहा जाता है। ये पशु जब अरण्य-विमुख हो जाते हैं तो वे भीतर की ओर दौड़ते हैं और **वायव्य** पशु कहे जाते हैं। इस प्रकार, एक पुरुष वा आत्मा अनेक पशुओं के रूप में विभाजित हो जाता है। इन पशुओं के दो रूप होते हैं। एक तो, ज्ञानवृत्ति धारण करने के कारण 'देखनेवाले' कहे जाते हैं। दूसरे वे पशु हैं जो अज्ञानवृत्ति को धारण करते हैं और उक्त अरण्य में आसक्त होकर अज्ञान के 'पाश' में बंध जाते हैं। इसलिए प्रथम का **पशु** नाम दर्शनार्थक पश् धातु से निष्पन्न किया जाता है, तो द्वितीय का **पशु** नाम पाशार्थक **पश्** धातु से।

द्विविध पशु-कल्पना के आधार पर पुरुष भी उक्त पशुओं के समान पाश-मुमुक्षु (पाशों से मुक्त होने का इच्छुक) तथा पाशबद्ध जीव के रूप में जाना जाता है। पाशों से मुक्त होने का प्रयास वेद में **जीवयाज** कहलाता है। इस प्रयास में बाधा डालनेवाली शक्तियों को **असुर, राक्षस, वृत्रादि** कहा जाता है। इन सबका सामूहिक नाम **वृत्र, शम्बर** वा **पणि** है जो जीवयाज के साधनों को अपने अधीन करने की कोशिश में रहता है। इसलिए जीवयाज करनेवाली देवशक्तियों को अपने विरोधी वृत्रों अथ वा असुरों से संघर्ष करना पड़ता है। इसी को 'दैवासुर' संग्राम कहते हैं।

यह संग्राम केवल मानवदेह की सीमा में आबद्ध नहीं रहता। जिस प्रकार इन्द्रियद्वारों से निकलकर ग्राम्य पशु बाहर जगत् में आ जाते हैं उसी प्रकार दैवी और आसुरी शक्तियों के दल भी बाहर पहुँच जाते हैं और सैकड़ों देवकर्म और आसुर कर्म अपना अपना ताना बाना फैला देते हैं। इससे पुरुष का शरीरगत 'द्वैपायन' अस्तित्व विस्तार को प्राप्त करता है। इस प्रकार, पुरुष अपने शरीर से बाहर एक अन्य जगत् बना लेता है। जीवयाज के लिए जो संघर्ष मानव के भीतर होता है वह जगत् के 'कुरुक्षेत्र' में भी होने लगता है। इसी को, दूसरे शब्दों में, सामाजिक और जागतिक जीवन का संघर्ष कहा जाता है। इस संघर्ष में फंसे हुए पुरुष का नाम **आयु** है। इस संघर्ष में आसुरी शक्तियों की विजय का अर्थ है पुरुष का रोगों, राक्षसों, आदि से आक्रान्त होना अथ वा दुराचार और अनाचार से ग्रस्त होना। इसके विपरीत, दैवी शक्तियों की विजय का अर्थ है रोग, राक्षसादि शत्रुओं का शमन अथ वा यज्ञ (जीवयाज) का सफल होना।

इस प्रकार, पुरुष, अर्थात्, मानव-व्यक्तित्व एक होता हुआ भी अनेक रूपों में विभक्त हो जाता है। उसकी अनेक शक्ति-सरिताएं एक साथ (**सह**) स्रवण वा सरण करती रहती हैं। इस दृष्टि से उसे **सह-स्र** (सह+स्र) भी कह सकते हैं। जो पुरुष इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति की दृष्टि से त्रिवृत् है वह प्रत्येक दृष्टि से सह-स्र हो जाता है। इन तीन शक्तियों को क्रमशः **शीर्ष, अक्ष** और **पात्** नाम दिया जाता है तो वह तदनुसार **सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष** और **सहस्रपात्** हो जाता है। पर फिर भी इस अनेकता को एकता में परिणत करनेवाली पुरुष की शक्ति अथ वा महिमा एक ही है जो अनेकता की दृष्टि से **विराज्** कहलाती है, तो एकता की दृष्टि से अदिति। विराज् पर अधिष्ठित होने से यह पुरुष स्वयं भी **विराट्** कहलाता है।

व्यष्टिगत पुरुष को जिस प्रकार 'मानुष व्यक्तित्व' नाम दिया जा सकता है उस प्रकार सम्पूर्ण जगत् में

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

व्याप्त पर ब्रह्म को ऐसा विराट् विश्वपुरुष कहा जा सकता है जो सब व्यष्टियों की समष्टि होने से **सहस्राक्ष, सहस्रशीर्षा** और **सहस्रपात्**, आदि विशेषण ग्रहण करता है। इसे नारायण पुरुष[72] भी कहते हैं। **यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे** के अनुसार अखिल ब्रह्माण्डगत पुरुष को समझने के लिए पिण्डाण्ड के व्यष्टिगत पुरुष अथ वा मानव-व्यक्तित्व को समझ लेना पर्याप्त माना गया है। इसलिए श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित विराट् पुरुष के समान, वैदिक मन्त्रों में भी इसकी झलक यदा कदा मिल जाती है पर सामान्यतः वहां जागतिक प्रतीकों द्वारा मानव के व्यष्टिगत पुरुष को ही समझाने का यत्न किया गया है।

उदाहरण के लिए, पुरुष-सूक्त में जिन सूर्य और चन्द्र को क्रमशः चक्षु और मन से उत्पन्न हुआ बताया जाता है वे, निस्संदेह, आकाश में स्थित प्रकाशगोलक नहीं हैं और न इन्द्र, अग्नि तथा वायु मानव-व्यक्तित्व से पृथक् अस्तित्व रखनेवाले कोई जागतिक तत्त्व हैं।[73] ये सब उसी प्रकार मानव-व्यक्तित्व की विविध शक्तियों तथा उनके धाम वा लोक हैं जिस प्रकार छन्द, ऋक्, साम, यजुः,[74] आदि आध्यात्मिक तत्त्व अथ वा ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र[75] नामक समाजशास्त्रीय तत्त्व हैं। पुरुष-सूक्त की व्याख्या[76] करते हुए इस बात को अच्छी तरह से स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार ये सब तत्त्व मानव-व्यक्तित्व के द्वैपायन रूप को विराट् रूप देते हैं और किस प्रकार व्यष्टिगत 'अर्क' नामक पुरुष-यज्ञ समष्टिगत 'अश्वमेध' यज्ञ का रूप ग्रहण करता है, और व्यष्टिगत भीतरी 'रथन्तर' साम बाहर का 'बृहत्' साम बन जाता है। आन्तरिक दृष्टि से जो मानव-व्यक्तित्व यज्ञ का 'उपांशु' पात्र है वह बाह्य दृष्टि से 'अन्तर्याम' पात्र बन जाता है। अन्तर्मुखी साधना 'पूर्णमाः' है, बहिर्मुखी 'दर्श', और पूर्ण रूप में 'दर्श-पूर्णमास'। इस प्रकार, पुरुष एक होता हुआ भी **द्विपात्** कहलाता है।

एक अन्य दृष्टि से मानव-व्यक्तित्व का यह स्थूल द्विपात् रूप उसका केवल चौथाई भाग ('एकपात्') है जो समुद्र में तैरते हुए हिमखण्ड (iceberg) के उस अंश के समान प्रत्यक्ष है जो पानी से ऊपर रहता है पर जिसका तीन चौथाई (**त्रिपात्**) फिर भी परोक्ष रहता है। इस प्रकार भी पुरुष को **चतुष्पाद्** कहा जाता है। द्विपाद् पुरुष की अभिव्यक्तियों के पारिभाषिक नाम **भूः, भुवः, स्वः** और **महः** हैं। इन चारों को **व्याहृतियां** कहा जाता है। एक दूसरी दृष्टि से इन्हें क्रमशः **जागरित, स्वप्न, सुषुप्ति** तथा **तुरीय** (चतुर्थ) अवस्था कहा जाता है। आधुनिक भाषा में इनको मानव-व्यक्तित्व के चार स्तर कह सकते हैं।

मानव-व्यक्तित्व के इन चारों स्तरों में एक ही पुरुष-चेतना (आत्मा) प्रकट हो रही है। इसी लिए इन चारों को उसकी **व्याहृति**, अर्थात्, अभिव्यक्ति कहा जाता है। इन चारों अभिव्यक्तियों में पुरुष की एक ही शक्ति मूलतः तीन रूपों में प्रकट हो रही है जिनको क्रमशः ज्ञान-, भावना- और क्रिया-शक्ति कह सकते हैं। वेद में इनका नाम **ऋक्, साम** और **यजुः** है। यद्यपि भूः, भुवः, स्वः अवस्थाओं में इन तीनों की अलग अलग प्रतीति होती है पर महः व्याहृति में इनका अव्याकृत रूप प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में, भूः, भुवः, स्वः में ऋक्, साम और यजुः की त्रयी अपनी व्याकृत अवस्था में रहती है, तो महः में वह अव्याकृत अवस्था में हो जाती है। व्याकृत होने से पहले भी वह त्रयी अव्याकृत रहती है, और जब अपने व्याकृत रूप को छोड़कर पुनः महः में आती है तो वह फिर अव्याकृत हो जाती है। इसी अव्याकृत त्रयी का नाम **अथर्व** वा **छन्दस्** है। इस प्रकार, इन चारों स्तरों का ज्ञान अथ वा **वेद** वस्तुतः त्रयी-मात्र कहा जा सकता है, चाहे यह त्रयी अव्याकृत अथर्वा रूप में हो या त्रिविध व्याकृत रूप में।

सामान्यतः, मनुष्य सम्पूर्ण मानव-व्यक्तित्व के तीन स्तरों से ही परिचित होते हैं। जागरित, स्वप्न, सुषुप्ति में पुरुष का व्यक्त रूप प्राप्त होता है। इसी लिए इसकी 'व्यक्ति' संज्ञा है। तुरीयावस्था सामान्यतः अव्यक्त रहती है पर, वास्तव में, वह परम अव्यक्त पुरुष (आत्मा) की प्रथम अभिव्यक्ति है। अतः वह एक दृष्टि से अव्यक्त है, तो दूसरी दृष्टि से व्यक्त। इसी को सांख्य में 'व्यक्ताव्यक्त **महत्**' नाम दिया गया है।

---

७२ पुरुषो ह नारायणोकामयत। अतितिष्ठेयं सर्वाणि भूतान्य् अहमेवेदं सर्वं स्यामिति। माश १३.६.१.१

७३ ऋ १०.९०.१३ ७४ वही, ९

७५ वही, १२ ७६ 'वेद-सविता'; १९८१-१९८२

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

इस महत् के सम्बन्ध से पुरुष को **महान् आत्मा** कहा जाता है पर इससे भी परे पुरुष का एक अन्य स्तर है जिसे कभी कभी 'तुरीयातीत' कहा जाता है। यह मानव-व्यक्तित्व की परा काष्ठा है। यह परम अव्यक्त पुरुष है।

सामान्यतः, अभिव्यक्ति की दृष्टि से मानव-व्यक्तित्व अपने मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से व्यक्त होता है। ये उसकी अभिव्यक्ति की छह सामान्य काष्ठाएं हैं। पर सूक्ष्म दृष्टि से पता चलता है कि इन छह काष्ठाओं में व्यक्त होनेवाला कोई अहं नामक तत्त्व है। वह (अहं), निस्संदेह, उस तत्त्व से कुछ भिन्न सा लगता है जिसको परम अव्यक्त पुरुष की प्रथम अभिव्यक्ति, तुरीय अथ वा महः कहा गया है क्यों कि यह अहं मन और इन्द्रियों पर ममत्व रखता है और अपने को ही सब कुछ समझता है; अपने अतिरिक्त सबसे बेखबर है। इसे हम मानव की 'अहंबुद्धि' कह सकते हैं जो शरीर, मन और इन्द्रियों के साथ अपना तादात्म्य अनुभव करती है, जब कि **महत्** वह 'अहंपूर्वाबुद्धि' है जिससे उत्पन्न होकर भी अहंबुद्धि उसे भूली हुई है। यह अहंपूर्वाबुद्धि वा महत् अहंबुद्धि, मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों सहित सात काष्ठाओं की जननी है और स्वयं भी अभिव्यक्ति की प्रथम काष्ठा है। इसके परे अव्यक्त पुरुष है। उससे अभिन्न हुई जो इसकी शक्ति है वह, वस्तुतः, इन आठों काष्ठाओं की जननी अथ वा 'मूल प्रकृति' है। इसलिए इसको नवमी काष्ठा कह सकते हैं जो अव्यक्त पुरुष की सहगामिनी एवं अभिन्न प्रकृति है। पुरुष इन नौ काष्ठाओं में 'प्र-कृष्ट' है; इसी लिए उसका नाम **प्र-णव** (प्र+नव) है। यह प्रणव पुरुष तटस्थ एवं उदासीन भाव से अपनी प्रकृति (नवमी काष्ठा) से उद्भूत आठ काष्ठाओं की विकृति वा अभिव्यक्ति को, मानो, देख रहा है।

यह अभिव्यक्ति मुख्यतः क्रियामय पक्ष है जो सर्वप्रथम विज्ञानमय के महत् वा महः के स्तर पर होती है। वेद में इसे **प्रथमं अपः**[77], अर्थात्, सबसे पहला कर्म कहा गया है जो कि ऋक्, साम, यजुः, तीनों की अव्याकृत अवस्था है। वेद के एक रूपक में इसके लिए बहुवचनान्त **आपः** का प्रयोग होता है। यही वह मूल **सिन्धु** है जिससे उन अन्य सप्त काष्ठाओं की अभिव्यक्ति प्रवाहित होती है जिनको **सप्त सिन्धवः** कहा जाता है। इन्हीं को वेद में सप्त कारवः (कर्ता) कहा जाता है। महद्-बुद्धि से युक्त आत्मा-रूपी सूर्य के ये सात अश्व वा सात रश्मियां हैं। ये आत्मा-रूपी अग्नि की सात जिह्वाएं हैं जिनके द्वारा होनेवाली अभिव्यक्ति में आत्मा की सप्तविध वाणी (**सप्तशीर्ष्णी वाक्**) मानी जाती है। इसी सप्तविध अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में पूर्वोक्त ग्राम्य और आरण्य पशुओं में से प्रत्येक को सप्तविध माना गया है। यही सप्तविध अभिव्यक्ति जिन हजारों इच्छाओं, क्रियाओं और विचारों के रूप में होती है उनकी सहस्र पशुओं के रूप में कल्पना की गई है। साथ ही ये सब पशु एक ही मानव-व्यक्तित्व-रूपी पुरुष के अनेक रूप हैं; इसलिए पुरुष को भी **पशु** कहा गया है।

चाहे पुरुष की एक पशु के रूप में कल्पना की जाए अथ वा अनेक पशुओं के रूप में, प्रत्येक दृष्टि से पशु-कल्पना उक्त आठ काष्ठाओं से जुड़ी हुई है। दूसरे शब्दों में ये आठ शफ हैं जिन पर पुरुष-रूपी पशु अथ वा सब पशु खड़े हैं (अष्टशफा पशवः)। एक दृष्टि से ये ही आठ अष्टकाएं हैं जिनसे प्रजापति का एक दिन बनता है (माश ६.२.२.२३), और ये ही दूसरी दृष्टि से आठ रात्रियां हैं जिनकी समष्टिभूत अष्टरात्र यज्ञ के द्वारा देवशक्तियाँ (आत्मविभूतियां), **सर्व** कहे जानेवाले सम्पूर्ण बाह्य जीवन को व्याप्त किए हुए हैं।[78] इस नानात्वमय **सर्व** के अन्तर्गत मानव-व्यक्तित्व के सब लोक और दिशाएँ आ जाती हैं, जहां ब्रह्म और आत्मा का सह स्रवण संभव और वांछनीय है; इसीलिए **सर्वसू** को **सह-स्रसू**[79] भी कहते हैं। इसी साहस्री सृष्टि को ऐसा यज्ञ माना जाता है जो एक सौ देवकर्मों द्वारा नियन्त्रित है। श्वसन, पाचन एवं रक्तसंचार, आदि विभिन्न प्रक्रियाएं

७७ तव त्यन् नर्यं नृतोप इन्द्र! प्रथमम्। ऋ २.२२.४; तुलनीय, १.११०.१, आदि।

७८ अष्टरात्रेण वै देवाः सर्वमाप्नुवत। तां २२.११.६।

७९ एतावद्वा इदं सर्वं यावदिमे च लोका दिशश्च। माश ६.५.२.२२। सर्वं वै सहस्रम्। वही, ४.६.१.१५, ६.४.२.७

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

इसी यज्ञ की अङ्गभूत हो जाती हैं। अपने सहज रूप में यही वह यज्ञ है जिसके साथ सब प्रजाओं को प्रजापति उत्पन्न करता है।[80] यही सर्वरूप पुरुष (जैउ १.२७.६) अथ वा यज्ञरूप[81] आयु है। इसी आयु पुरुष को **सर्व** भी कहते है।[82] मानव-व्यक्तित्व, इस सहज यज्ञ की दृष्टि से पशु के व्यक्तित्व से बहुत भिन्न नहीं है।

पुरुष-यज्ञ

मानव-जीवन की यह विशेषता है कि वह सहज **सर्व** रूप को पवित्र **सर्वमेध** में परिणत कर सकता है। सर्वमेध के द्वारा उसका व्यक्तित्व-रूपी पुरुष-यज्ञ **सर्वराट्**[83] बन सकता है। सर्वराट् व्यक्तित्व का ही नाम याज्ञिक परिभाषा में **विराज्-यज्ञ** है।[84] जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सर्व और विराज्, दोनों अनेकता- और विविधता-प्रधान होते हैं। इसलिए याज्ञिक परिभाषा में इस मानव-व्यक्तित्व के लिए बहुवचनान्त शब्द, **'दक्षिणावन्तः'** का प्रयोग होता है जिसका अर्थ 'अनेक प्रकार की दक्षता (efficiency)-वाला' व्यक्तित्व है। जब वह विराज् से बदलकर स्वराज् हो जाता है तो उसका नाम **अदक्षिणा** होता है क्यों कि उसमें 'दक्षिणावन्तः' की अनेकता समाप्त हो जाती है। स्वराड्-अवस्था जब सम्राज्-अवस्था में परिणत होती है तो, व्यष्टिगत पुरुष के समष्टिगत ब्रह्म का सायुज्य प्राप्त करने से, दोनों की दक्षता वा सामर्थ्य का सम्पूर्ण मानव-व्यक्तित्व (पुरुष) में सहस्रवण होने लगता है। इसलिए इस स्तर को **सहस्रदक्षिण यज्ञ** भी कहा जाता है।

इसी दृष्टि से षोडशकला-वाले **सर्व** पुरुष के पुरुष-यज्ञ नामक व्यक्तित्व-विकास का निम्नलिखित क्रम माना गया है, अथातो यज्ञक्रमाः। अग्न्याधेयम्। अग्न्याधेयात् पूर्णाहुतिः। पूर्णाहुतेरग्निहोत्रम्। अग्निहोत्राद् दर्श-पूर्णमासौ। दर्शपूर्णमासाभ्यामाग्रयणम्। आग्रयणाच्च चातुर्मास्यानि। चातुर्मास्येभ्यः पशुबन्धः। पशुबन्धादग्निष्टोमः। अग्निष्टोमाद् राजसूयः। राजसूयाद् वाजपेयः। वाजपेयादश्वमेधः। अश्वमेधात् पुरुषमेधः। पुरुषमेधात् सर्वमेधः। सर्वमेधाद् दक्षिणावन्तः। दक्षिणावद्भ्योऽदक्षिणः। अदक्षिणाः सहस्रदक्षिणे प्रत्यतिष्ठन्।.... गो ५.७

डॉ फतहसिंह के अनुसार, यज्ञ-विस्तार का यह क्रम वस्तुतः योग-साधना द्वारा होनेवाले व्यक्तित्व-विकास का सूचक है। मानव-व्यक्तित्व के इस विकास का लक्ष्य सान्त (ससीम) जीव को अनन्त (असीम)[85] बनाना है। यह अनन्तता जीव को आनन्दमय कोश में स्थित ब्रह्मात्म-सायुज्य की अनुभूति से प्राप्त हो सकती है। इस अनुभूति के पश्चात् ब्रह्म और आत्मा की दक्षता का सहस्रवण होने लगता है। यह व्यक्तित्व-विकास की सोलहवीं अवस्था है जिसमें अनन्त ऐश्वर्य निहित रहता है। आत्मा के इस चरम विकास को सूर्यराज्य[86] कहते हैं जो उसको षोडशी (पूर्ण चन्द्र) होने पर प्राप्त होता है। **षोडशी** का अर्थ है आत्मा का सोलहकला-सम्पन्न होना। आयु- अथ वा सर्व-रूप में पञ्च प्राणों, पञ्च ज्ञानेन्द्रियों और पञ्च कर्मेन्द्रियों के रूप में उसकी जो पन्द्रह कलाएं होती हैं वे अविकसित होती हैं। यम, नियमादि के अष्टांग योग द्वारा शनैः शनैः आरोह तथा अवरोह के क्रम से इन कलाओं का विकास होते होते, जब चित्त की एकाग्रता बढ़ जाती है तो मनोमय पुरुष सोलह कलाओं का पूर्ण चन्द्र वा षोडशी हो जाता है और साथ ही सूर्यराज्य की प्राप्ति हो जाती है।

आरोह के प्रत्येक प्रयास में प्रकाश, और अवरोह में प्रकाशजन्य विश्राम एवं शान्ति है। इसलिए योगाभ्यास के स्थूल आरोहावरोह की अहो-रात्र (दिन रात्रि) संज्ञा है। इसके परिणामस्वरूप मनोमय स्तर पर जो

---

८० सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। श्री.भ.-गी. ३.१०

८१ यज्ञो वा आयुः। तां ६.४.४

८२ सर्वं हैव आयुः। माश २.४.२.६

८३ सर्वमेधेन इष्ट्वा सर्वराडिति नामाधत्त। गो १.५.८

८४ तं एतं विराजं यज्ञमपश्यन्। तमाहरन्। तेनायजन्त। ततो वै ते विराजमन्नमात्मन्नधत्त। जै २.८५

८५ गो १.५.८.९

८६ सूर्यराज्यं षोडशिना (अभिजयति)। मै १.८.६; तुलनीय, असौ वै षोडशी योसौ (सूर्यः) तपति। कौ १७ १

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

परिवर्तन होता रहता है उसको शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष अथ वा दो अर्द्धमास कहा जाता है। इसी प्रकार विज्ञानमय स्तर पर आरोह-अवरोहजन्य परिवर्तन की उत्तरायण और दक्षिणायन संज्ञा होती है। इन तीनों स्तरों पर जो आध्यात्मिक विकास होता है उसके फलस्वरूप जब उक्त सूर्यराज्य की अनुभूति होती है तो विज्ञानमय पुरुष सूर्य बन चुकता है, और उसके प्रकाश को ग्रहण करनेवाला मनोमय पुरुष चन्द्र।

आनन्दमय अथ वा हिरण्यय कोश की सूर्यराज्य स्थिति को वह अमृत तथा अक्षित लोक कहा जाता है जिसकी अजस्र ज्योति में आत्मा का स्वः छिप जाता है।[87] यह सोम[88] राजा की भी परिपक्वावस्था है जिसमें आनन्द, मोद और प्रमोद की पूर्णता[89] होती है क्यों कि सोम नाना सूर्यों से युक्त सप्त दिशाओं, आदि द्वारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व की रक्षा में जुट जाता है।[90] इस स्तर पर अग्नि की भी 'ब्रह्मा'[91] संज्ञा होती है, जो वस्तुतः आदित्य[92] वा सूर्य ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि योगाभ्यास के उक्त अहो-रात्र द्वारा श्रम एवं विश्राम का जो क्रम चलता है उसके साथ क्रमशः ज्ञान और आनन्द अथ वा अग्नि और सोम का भी निरन्तर विकास होता रहता है जो इस अवस्था में आकर सूर्यराज्य नामक अद्वैत अनुभूति में परिणत हो जाता है। यह स्थिति आने से पूर्व अग्नि और सोम की मिथुनावस्था रहती है जिसमें अग्नि को 'जनिता' और सोम को रेतोधा[93] कहा जाता है। मिथुनावस्था में जो दो 'राजा'[94] कहे जाते थे वे अग्नि-सोम सूर्यराज्य की स्थिति में अद्वैत रूप ग्रहण कर लेते हैं। यह मिथुनत्व, वस्तुतः, उस समत्व का नाम है जो योगाभ्यास के आरोहावरोहात्मक श्रम के समय तो चलता ही है पर उसके पश्चात् बैठने अथ वा सोने की अवस्था में भी अज्ञात रूप में चलता रहता है।[95]

षोडशी और अष्टाधोग : अग्नि और सोम का यह योगाभ्यास-जन्य समत्व-विकास पूर्वोक्त षोडश यज्ञक्रमों में परिलक्षित होता है। इन सोलह यज्ञों में से प्रथम आठ ज्ञानाग्निप्रधान हैं, तो द्वितीय आठ में आनन्द-रूप सोम की प्रधानता है। ये अग्नि और सोम यज्ञ के दो पक्ष[96] कहे गए हैं। अग्नि-साधना मुख्यतया व्यष्टिगत नियम, प्राणायाम, धारणादि द्वारा चलती है, तो सोम-साधना यम, परहित, सेवा, आदि के द्वारा आगे बढ़ती है। प्रथम का नाम अर्क यज्ञ वा अग्नि पुरुष[97] है, तो दूसरी का अश्वमेध यज्ञ वा राष्ट्र।[98] दोनों उस महायज्ञ के तनू[99] कहे जाते हैं जो महापुरुष (विज्ञानमय) से लेकर अन्नमय स्तर तक व्यक्ति के क्रमशः भीतरी और बाहरी व्यवहार में अग्नि और सोम को समन्वित रूप से विकसित करते रहते हैं। इस प्रकार इन सोलह यज्ञों में वस्तुतः एक ही यज्ञ अपने अग्नि एवं सोम नामक पक्षद्वय के माध्यम से विकसित हो रहा है।

यज्ञ के इस द्विविध विकास को एक दृष्टि से महत्तत्त्व का अवतरण कहा जा सकता है जो सर्वपुरुष वा आयु की पन्द्रह कलाओं को समृद्ध एवं सम्पन्न करने के लिए प्राणों,

८७ यत्र ज्योतिर् अजस्रं, यस्मिंल् लोके स्वर् हितम्। तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो! परि स्रव। ऋ ९.११३.७

८८ ऋ ९.११४.४ ८९ ऋ ९.११३.११

९० ऋ ९.११४.३

९१ काश ३.१.१.२; मै ३.८.४; माश १.४.२.२; जै १.८.२; की ६.१

९२ का १.२२; माश ६ ४.१.१; ३.९; १०

९३ मिथुनं वा अग्निश् च, सोमश् च, सोमो रेतोधा, अग्निः प्रजनयिता। का ८.१०; क ७.६

९४ राजानौ वा एतौ देवतानां यद् अग्नीषोमौ। तै २.६२.१-२

९५ श्रमाद् अन्यत्र परिवर्तमानश् चरन् वासीनो यदि वा स्वपन्नपि। अहोरात्राभ्यां पुरुषः समेन कतिकृत्वः प्राणिति अपानिति। गो १.५.५; माश १२.३.२.७-८

९६ अग्निषोमाव् अदधुर् या तुरीयासीद् यज्ञस्य पक्षाव् ऋषयः कल्पयन्तः। अ ८.९.१४

९७ स एषोग्निर् अर्को यत् पुरुषः। माश १०.३ ४.५

९८ राष्ट्रम् एवाश्वमेधः। तै ३.८.९.४; माश १३ १.६. ३; २.२

९९ एते वै महायज्ञस्यान्त्ये तनू यद् अर्काश्वमेधौ। सं २.३.७.५

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के स्तर पर, योगाभ्यास के कारण, त्रिविध रूप में प्रवाहित होने लगता है। अत एव इसी को अष्टायोग कहा जाता है जिसमें महत्तत्त्व, अहंबुद्धि और मन को साथ लेकर, प्राणों, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के स्तर पर, निम्नलिखित ढंग से अष्टायोग का निर्माण करता है,—

१ महत् (अहंपूर्व) बुद्धि, अहंबुद्धि और पञ्च प्राण,
२ महत् (अहंपूर्व) बुद्धि, अहंबुद्धि और पञ्च ज्ञानेन्द्रियां,
३ महत् (अहंपूर्व) बुद्धि, अहंबुद्धि और पञ्च कर्मेन्द्रियां।

यह अष्टायोग आन्तरिक और बाह्य साधना के समन्वित प्रयास द्वारा क्रमशः अग्नि एवं सोम की प्रमुखता के आधार पर मानव-व्यक्तित्व में जो पुरुष-यज्ञ आरम्भ करता है उसके दो पक्षों के रूप में द्विविध अष्टस्तरीय विकास होता है। इसी को पूर्वोक्त षोडश यज्ञक्रम में हम निम्नलिखित ढंग से देख सकते हैं,

अग्निप्रधान	सोमप्रधान
१ अग्नेयाधेयम् = पूरक, रेचक प्राणायाम तथा शौच-सन्तोषादि नियमों का पालन	१ राजसूय = प्रेमानन्दरूप सोम राजा के सवन के लिए, अहिंसा, आदि यमों का अभ्यास
२ पूर्णाहुति = कुम्भक, और ध्यान का ध्यान	२ वाजपेय = प्रेम-सेवा के रस को राष्ट्रसेवा द्वारा पेय बनाना
३ अग्निहोत्रम् = दायें, बांए, दोनों स्वरों का समत्व	३ अश्वमेध = भावरूप अश्व को पवित्र मेध बनाना, अर्थात्, भावशुद्धि
४ दर्शपूर्णमासौ = इन्द्रियों-रूप दर्श का मन-रूप पूर्णमाः में लय का अभ्यास	४ पुरुषमेध = शरीर-रूपी आत्मा की शुद्धि के लिए विचारशुद्धि
५ आग्रयणम्=देशकालातीत अवस्था की ओर मन की गति वा धारणा	५ सर्वमेध= भाव, विचार तथा क्रिया की शुद्धि से आचारशुद्धि
६ चातुर्मास्यानि (क) प्रथम चातुर्मा. = उदान में अन्य चार प्राणों का लय, (ख) द्वि. चातुर्मा. = मूक वाक् में कर्मेन्द्रियों का लय, (ग) तृ. चातुर्मा. = श्रोत्रेन्द्रिय में अन्य ज्ञानेन्द्रियों का लय	६ दक्षिणावन्तः = अनेक सिद्धियों के रूप में दक्षताओं की प्राप्ति
७ पशुबन्ध = चित्त की एकाग्रता (चित्तवृत्ति-निरोध)	७ अदक्षिणः = सिद्धियों के प्रति उदासीनता और अचाह
८ अग्निष्टोम = ज्ञानाग्नि का प्रकाश	८ सहस्रदक्षिणः = ब्रह्मात्म-सायुज्यजनित सामर्थ्य का पूरे व्यक्तित्व में सह स्रवण

इस प्रकार अष्टायोग के द्वारा अग्नि एवं सोम के समवेत विकास से होनेवाली अवस्था का एक नाम **यव** है। जैसे जैसे यह स्थिति विकसित होती जाती है वैसे वैसे मानव-व्यक्तित्व से अघादि शत्रुओं का यवन (दूरीकरण) होता जाता है। इस यवन-प्रक्रिया के कारण इन उत्तरोत्तर विकसित होती हुई विभिन्न स्थितियों का नाम यव है।[100] इस प्रकार उत्तरोत्तर विकसित होते हुए यव नामक वेदनम् (अनुभूति) का नाम उत्तरवेदि है।[101] सर्वोत्तम अवस्था में इसी यव को राष्ट्र कहते हैं।[102] इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए अष्टायोग के अतिरिक्त षड्योग का भी विधान है,

इमं यवम् अष्टायोगैः, षड्योगेभिर् अचर्क्रुषु।
तेना ते तन्वो रपो,पाचीनम् अप व्यये।
अ ६.९१.१

१०० तैआ ६.९.२; तैसं १.३.१.१-२; मैसं १.२.११

१०१ यवानामुत्तरवेदिः। जै २.११७

१०२ राष्ट्रं यवः। तै ३.९.७.२

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

षोडशी और षडयोग[103]

षड्योग में क्रमशः पञ्च प्राणों, पञ्च ज्ञानेन्द्रियों और पञ्च कर्मेन्द्रियों के साथ मन का योग करने से त्रिविध षडंग योग होता है जो यक्ष्म तथा अमीव नामक शत्रुओं के विनाश के लिए चिकित्सा की खोज करता है। इस चिकित्सा का मुख्य स्रोत आपः है। **आपः** का सामान्य अर्थ है जल। अरबी तथा फ़ारसी में आपः **आब** रूप धारण कर लेता है जो बोलचाल के 'आबरू' शब्द में भी पाया जाता है। 'आबरू' का प्राचीन रूप **आबेरूह** था, जिसका तात्पर्य है आत्मा (रूह) का पानी (आब)। वास्तव में, यह अर्थ वैदिक 'आपः' से लिया गया है। वेद में आध्यात्मिक जल कहलानेवाली अलौकिक प्राण-शक्ति का नाम आपः है, जो आनन्दमय (हिरण्मय) कोश की उत्तरवेदि से विज्ञानमय कोश में आती है। पर मनोमय से लेकर अन्नमय तक जब अहंकार-रूप अहि (वृत्र) छाया रहता है तब आपः विज्ञानमय से नीचे नहीं आ सकतीं। अतः आपः की प्राप्ति के लिए यव की खेती करनी पड़ती है। 'यव की खेती' से तात्पर्य है अग्नि (ज्ञान) और सोम (आनन्द) का समन्वित विकास। यों तो शारीरिक एवं मानसिक रोगों की चिकित्सा के लिए, हमारे सामान्य प्राण-रूप देवों से भी ओषधियाँ मिलती है पर यव की प्राप्ति उनसे नहीं हो सकती। यव वस्तुतः वह ओषधि है जो देवों के शत्रुओं (असुरों)[104] से मिलती है। दूसरे शब्दों में, आसुरी शक्तियों के सदुपयोग से जो यवन (योग) है उसमें ओषधि निहित है। इस सदुपयोग का एक उदाहरण अमृतमन्थन की कथा में मिलता है जहां देव और असुर, दोनों मिलकर समुद्र से अमृत निकालते हैं। इस सहयोग में ही वह कृपि निहित है जो अग्नि एवं सोम का समन्वित विकास करके उस अमृत यव को प्राप्त कर सकती है जिसमें ब्रह्म एवं आत्मा का सायुज्य वैसा ही होता है जैसे जौ की भूसी के भीतर दो जुड़ी[105] हुई फांकों के समान एक दाना रहता है। इस परम यव के साक्षात्कार के लिए अन्नमय कोश से उत्तरोत्तर यव की खेती की वृद्धि करनी होती है।

डॉ फतहसिंह के मतानुसार तैउ (२.१-५) में अन्नमय से लेकर आनन्दमय तक का जो वर्णन उपलब्ध है उसमें प्रत्येक के शिर, उत्तरपक्ष, दक्षिणपक्ष, आत्मा, पुच्छ एवं प्रतिष्ठा नामों से इसी षड्योग की ओर संकेत किया गया है। 'पुच्छ' आरोह का प्रतीक है, तो 'प्रतिष्ठा' (प्रति+स्था) उसके विपरीत स्थिति (अर्थात्, अवरोह) की सूचक है। आरोहावरोह-क्रम से प्रत्येक स्तर पर मानव-व्यक्तित्व-रूप गौ के शिर, उत्तरपक्ष और दक्षिणपक्ष को मिलानेवाले आत्मा तक पहुँचना है।

षड्योग द्वारा भी उस षोडशी पुरुष (व्यक्तित्व) का शनैः शनैः विकास[106] होता है जिसका उल्लेख अष्टायोग एवं सोलह यज्ञों के क्रम में संकेतित है। षड्योग-रूप षड्होतृ यज्ञ से सर्वप्रथम **पशुबन्ध** (चित्तवृत्तिनिरोध) होता है जो वस्तुतः अन्य सब यज्ञक्रमों का मुख्य हेतु है। पशुबन्ध के माध्यम से होनेवाले परोक्ष आत्म-निष्क्रय का नाम **अग्निष्टोम**[107] है। यह संवत्सर प्रजापति[108] (मनोमय से जुड़ा विज्ञानमय पुरुष) की अवस्था है। इससे जब मनोमय पर्यन्त षोडश कलाएं जुड़ जाती हैं तो वह प्रजापति १) भद्र, २) समापि, ३) अभूति, ४) सम्भूति, ५) भूतम्, ६) सर्वम्, ७) रूपम्, ८) अपरिमित, ९) श्रीः १०) यशः ११) नाम, १२) अग्रम्, १३) सजाताः, १४) पयः, १५) महीया, और १६) रसः, नामक षोडश कलाओं[109] में विभक्त होकर अन्नमय पर्यन्त फैल जाता है और स्वयं सत्रहवीं[110] कला बन जाता है। पूर्वोक्त अग्नि और सोम की प्रधानता के आधार पर होनेवाले द्विविध विभाजन की तरह, सोलह कलाओं में से कभी कभी आठ कलाओं

---

१०३ यहाँ षड्योग का वर्णन डॉ फतहसिंह के मतानुसार है।

१०४ ततो देवेभ्यः सर्वा एवौषधय ईयुर् यवा हैवेभ्यो नेयुः। तद् वै देवा अस्पृण्वत। त एतैः सर्वैः सपत्नानाम् ओषधीर् अयुवत यद् अयुवत तस्माद् यवा नाम। माश ३.६.१.८; ९

१०५ माश ३.६.१.८; ९

१०६ पशुबन्धः षड्होतुर् निदानम्। तै २.२.११.६

१०७ माश ११.७.१.३; तै ३.१२.५.६

१०८ संवत्सरो वा अग्निष्टोमः। मै ३.८.१०; ४.५.७; काठ २६.१

१०९ जैउ १.१५.१.२

११० माश १०.४.१.१७

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

 Digitized by Madhuban Trust

को वैश्वकर्म कलाएँ और आठ को सावित्र कर्म कलाएँ कहा जाता है।[111] कर्मकांड में जब योगजन्य मानव-व्यक्तित्व का रूपान्तरण किया गया तो पुरुषयज्ञ में इसी लिए १६ स्तोत्रों, १६ शस्त्रों एवं १६ आहुतियों का विधान किया गया।[112] यह सब, निस्संदेह, ऋग्वेद और अथर्ववेद के सोलह मन्त्रोंवाले पुरुषसूक्त की ओर संकेत करता है।

(३) संहितोत्तर साहित्य में 'पुरुष'

संहिताओं का पुरुष ही, वस्तुतः, 'ब्राह्मण'ादि ग्रन्थों के विवेचन का विषय है। यह कहने की आवश्यकता इसलिए हुई कि आधुनिक विद्वानों की धारणा के अनुसार इन ग्रन्थों में संहिताओं से भिन्न और असम्बद्ध प्रलाप किया गया है। सत्य तो यह है कि ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों में जो कुछ भी कहा गया है उसका आधार वेदमन्त्र अथ वा उन पर आधारित कर्मकांड है। संहिताओं में जिसे हिरण्मय (आनन्दमय) कोश का पुरुष वा आत्मा कहा गया है और जो ऋत की योनि तथा मानव-व्यक्तित्व के नानारूपात्मक सर्ग का उत्स[113] है वह विज्ञानमय से लेकर अन्नमय कोश तक किस प्रकार विलक्षण हो जाता है उसी का चित्रण यत्र तत्र मिलता है।

अतः कभी कभी अन्य चारों कोशों को ही विशेष महत्त्व दिया जाता है क्यों कि इनको अध्वा[114] (मार्ग) समझा जाता है। योगसाधना द्वारा जब इन चारों स्तरों को आनन्दमय के ब्रह्मात्म-सायुज्य को पहुँचने का अध्वा बनाया जाता है तो ये अध्व-र (यज्ञ) बन जाते हैं। इन चारों का ब्यौरेवार वर्णन तैत्तिरीयोपनिषद् में विशेष रूप से मिलता है।

अन्नरसमय (शारीर) पुरुष : इनमें से प्रथम अन्नरसमय[115] (स्थूलशरीर-)पुरुष है। यदि हम मनोमय, आदि को भूल जाएं तो स्थूलशिर को 'शीर्ष', तथा शरीर के दो पक्षों को क्रमशः 'दक्षिणपक्ष' और 'उत्तरपक्ष' कहेंगे। श्वास-रूप में चलनेवाला प्राण इसका 'आत्मा' कहलाएगा और शरीर का अधोभाग इसकी 'पुच्छ, प्रतिष्ठा' माने जाएंगे।[116] **गर्भोपनिषद्** में इसी को आहारमय शरीर कहकर 'उसमें जो कठिन है उसको पृथिवी, जो द्रव है उसको आपः, जो उष्ण है उसे तेज, जो संचरण करता है उसे वायु, और जो सुषिर है उसे आकाश कहा गया है। पृथिवी धारण करने के लिए, आपः पिण्डीकरण के लिए, तेज प्रकाशन के लिए, वायु व्यूहन के लिए और आकाश अवकाश प्रदान करने के लिए है। इनसे पृथक् श्रोत्र शब्द, त्वक् स्पर्श, चक्षु रूप, जिह्वा रस और नासिका गन्ध ग्रहण करती है; उपस्थ से आनन्दप्राप्ति, अपान से उत्सर्ग तथा वाक् से बोलना होता है। इसी में मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु और कषाय रसों को ग्रहण किया जाता है; षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद स्वर उत्पन्न होते हैं। शुक्ल, रक्त, कृष्ण, धूम्र, पीत, कपिल और पाण्डुर, ये छह रंग इसी के हैं। छह प्रकार का रस होता है; रस से शोणित, शोणित से मांस, मांस से मेद, मेद से स्नायु, स्नायुओं से अस्थियाँ, अस्थियों से मज्जा, मज्जा से शुक्र और शुक्र-शोणित से गर्भ उत्पन्न होता है। हृदय में अग्नि आता है और अग्नि से पित्त, पित्त के स्थान में वायु और वायु के पश्चात् कफ होता है।[117]

इसी को अथर्ववेद में 'अष्टचक्रा नवद्वारा अयोध्या' नामक 'देव-पूः' कहा गया है। इसी को नव-द्वार-वाला 'पुण्डरीक' भी माना गया है।[118] कठोपनिषद्[119] में,

---

१११ माश १०.४.१.१६

११२ कौ १७.१; माश ११.१.६ ३६

११३ पुनानः सोमं धारयापो वसानो अर्षसि। आ रत्नधा योनिम् ऋतस्य सीदस्र उत्सो देव ! हिरण्ययः। ऋ ९.१०७.४

११४ चत्वारः पुरुषा इति वाध्वा। ऐआ ३.२.३

११५ अन्नात् पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तैउ २.१

११६ स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदम् एव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयम् उत्तरः पक्षः। अयम् आत्मा इदं पुच्छः प्रतिष्ठा। तैउ २.१

११७ गउ १.१; देखिए, डॉ फतहसिंह, **वैदिक दर्शन**

११८ पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर् गुणेभिर् आवृतम्। तस्मिन् यद् यक्षम् आत्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः। अ १०.८.४३

११९ पुरम् एकादशद्वारम् अजस्यावक्रचेतसः। कउ २.३.१

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

सम्भवतः, नव द्वारों के साथ ब्रह्मरन्ध्र और नाभि को सम्मिलित करके इसी शरीर को एकादश-द्वार-वाला गया है ।

प्राणमय[120] **(छन्दः-**[121]**)पुरुष** : अन्नरसमय (शरीरः-)पुरुष का जो अन्तरात्मा है वह प्राणमय पुरुष है । उसका प्राण 'शिर' है, व्यान 'दक्षिणपक्ष', अपान 'उत्तरपक्ष', आकाश 'आत्मा' और पृथ्वी 'पुच्छ, प्रतिष्ठा' है ।[122] अन्नमय कोश के कण कण में प्राण अथवा वायु समाया हुआ है । नासिका द्वारा हम जो वायु भीतर ले जाते हैं वह पहले शीर्षस्थानीय 'हृद्' में जाती है; इसका नाम **प्राण** है ।[123] इस स्थान से आगे कण्ठप्रदेश में जाकर जो वायु नली द्वारा फेफड़ों तक विचरण करती है उसे 'उदान' कहते हैं । यह उदान जब फेफड़ों में शोधे हुए रक्त में मिलकर सारे शरीर में विविध रूप से भ्रमण करता है तो 'व्यान' कहलाता है । शरीर के अधोभाग में रहकर मूत्र, पुरीष, आदि को बाहर निकालनेवाले वायु का नाम 'अपान' है । और नासिका द्वारा बाहर निकलनेवाले वायु को भी 'अपान' कहते हैं क्यों कि 'अपान' का शाब्दिक अर्थ बाहर वा नीचे की सांस है । नाभि के आसपास, शरीर के मध्य भाग में रहकर अँतड़ियों, आदि की क्रिया में काम आनेवाला वायु 'समान' कहलाता है । इन सब प्राणों के जाल को प्राणमय कोश कहा जाता है । इसी की शक्ति पाकर अन्नमय कोश के सारे व्यापार चलते हैं । स्थायी रूप से मृत्यु के समय, तथा अस्थायी रूप से लम्बी समाधि में जब यह हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाती है तो अन्नमय कोश की सारी क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं; मूत्र-पुरीष-त्याग तथा नख वा बालों का उगना तक समाप्त हो जाता है । प्राणमय कोश में भी क्रिया प्रधान है । यथार्थ में अन्नमयकोश में होनेवाली क्रिया इसी के बल पर चलती है ।

प्राणमय पुरुष को 'छन्दः पुरुष' अथवा 'छन्दस्य पुरुष' भी कहा जाता है । यह अन्नमय पुरुष का स्रष्टा भी है[124] क्यों कि अन्नमय कोश में जो भी इच्छाओं, विचारों, आदि की कर्ममय अभिव्यक्ति होती है उसका निकटतम मूल यह छन्दस्य पुरुष होता है । इस पुरुष का नामकरण, निस्संदेह, **छन्द** शब्द के आधार पर होता है, जिसका निर्वचन इच्छा वा आच्छादन अर्थवाली **छद** धातु से होता है । पर, वास्तव में, छन्दःपुरुष के इस छन्दस्त्व का मूल मनोमय कोश में है ।

मनोमय(वेद-)पुरुष : इसी लिए प्राणमय के भीतर रहने वाले मनोमय पुरुष को उसका अन्तरात्मा कहा गया है । यजुः इसका 'शिर' है, ऋक् इसका 'दक्षिण पक्ष', साम 'उत्तर पक्ष', आदेश 'आत्मा' तथा अथर्वाङ्गिरस 'पुच्छ, प्रतिष्ठा' है ।[125] निस्संदेह यहाँ **ऋक्, यजुः, साम** तथा **अथर्वाङ्गिरस** शब्दों से इन नामों वाले ग्रन्थों से अभिप्राय नहीं हो सकता है । ये मनोमय की चतुर्विध शक्तियां हैं जिनका समन्वित वा अव्याकृत रूप प्राणमय के लिए मनोमय द्वारा आदेश का काम करता है । इसी लिए **आदेश** को मनोमय पुरुष का 'आत्मा' कहा गया है । एक विद्वान्[126] के अनुसार ऋक्, यजुः, साम क्रमशः ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और इच्छाशक्ति के नाम हैं; ये ही वेदत्रयी हैं जो अपने अव्याकृत रूप में **अथर्वा** अथ वा **छन्द** भी कहे जाते हैं । अत एव इस व्याकृत वेदत्रय से युक्त होने कारण मनोमय पुरुष की 'वेदपुरुष' संज्ञा हो गई प्रतीत होती है । इसी वेदपुरुष का आत्मा कहलाने वाला 'आदेश' ऋक्, यजु और साम की त्रिविधता में व्यक्त होकर हमारे आचरण का ताना बना बुनता है ।

विज्ञानमय (महा-) पुरुष : मनोमय के आदेश नामक अन्त-

---

१२० डॉ फतहसिंह, वैदिक दर्शन, पृ ४१

१२१ पांक्तः छन्दःपुरुषो बभूव विश्वैर् विश्वाङ्गैः सह सह सं भवेम । अ १२.३.१० । तुलनीय, ऐआ २.३.२

१२२ एतस्माद् अन्नरसमयाद् अन्योन्तर आत्मा प्राणमयः, तेनैष पूर्णः, तस्य प्राण एव शिरः, व्यानो दक्षिणपक्षः । अपान उत्तरपक्षः । आकाश आत्मा । पृथिवी पुच्छं, प्रतिष्ठा । तैउ २.२

१२३ हृदि प्राणोपानः, समानो नाभिसंस्थितः ।
उदानः कण्ठदेशस्थः, व्यानः सर्वशरीरगः ।

१२४ एष वै छन्दस्यः साममयः प्रथमोक्षन वैराजः पुरुषो योन्नमसृजत । वै.एँ., पृ. १३१

१२५ तस्माद् वा एतस्मात् प्राणमयाद् अन्योन्तर आत्मा मनोमयः तेनैष पूर्णः.....तस्य यजुर् एव शिरः । ऋग् दक्षिणपक्षः सामोत्तरपक्षः । आदेश आत्मा । अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा । तैउ २.३

१२६ डॉ फतहसिंह, **वैदिक दर्शन**, पृ. २९-३०; **वै.एँ**, पृ १३१

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

रात्मा का एक नाम **विज्ञानमय** भी है। इसका श्रद्धा 'शिर' है, ऋतम् 'दक्षिण पक्ष', सत्यम् 'उत्तर पक्ष', योग 'आत्मा' तथा महः 'पुच्छ, प्रतिष्ठा' है।[127] **महः** शब्द के आधार पर विज्ञानमय पुरुष को **महापुरुष** भी कहा गया है। इस पुरुष की विशेषता यही है कि यहाँ आकर मनोमय की सम्पूर्ण अनेकता और विविधता एकत्व में परिणत हो जाती है। इसलिए 'योग' को इसका आत्मा कहा गया है। इसी दृष्टि से महापुरुष[128] को अन्य सब भूतों में एकता उत्पन्न करनेवाला **संवत्सर** पुरुष भी कहा जाता है।[129] वही अथर्वा अथ वा ब्रह्मा है जो वेदपुरुष (मनोमय) का 'रस'[130] है।

मनोमय से लेकर अन्नमय तक पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और पंच प्राणों का मिलाकर कुल पन्द्रह कलाएं होती हैं। इन सबका उद्भव और लय इस संवत्सर (विज्ञानमय) पुरुष में होता है। अतः इसे 'षोडशी कला' भी कहा जाता है जो उक्त पंचदशात्मक **वित्त** के द्वारा पूरित और क्षीण हुआ करती है। दूसरे शब्दों में, विज्ञानमय पुरुष अथ वा महापुरुष संवत्सर नामक षोडश-कला-वाला **प्रजापति** है जो उक्त वित्त के द्वारा 'वेद्य' कहा जाता है।[131] यज्ञ में इन सोलह कलाओं के प्रतीक-स्वरूप सोलह आहुतियों का विधान किया गया[132] है। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त की सोलह ऋचाएँ भी इन षोडश कलाओं की द्योतक होकर पुरुषमेध-यज्ञ में प्रयुक्त होती हैं।[133] सुषुप्ति अवस्था में अन्नमय से लेकर मनोमय तक के सब प्राणों का विज्ञान एकत्र करके हृदयाकाश में शयन करने-वाला यही विज्ञानमय पुरुष है।[134]

एक दृष्टि से इसी को **चन्द्र** भी कहा जाता है। जिस प्रकार चन्द्रमा की पन्द्रह कलाएं एक एक करके कम होती हैं और फिर एक एक करके बढ़ती हैं उसी प्रकार मनोमय से लेकर अन्नमय तक का पञ्चदशात्मक वित्त वा कला-समूह मनोमय से उद्भूत होता है और पुनः उसी में लीन हो जाता है, जब कि वह स्वयं सोलहवीं कला के रूप में माना जाता है। मनोमय का साक्षात्कार वस्तुतः मनोमय के एकीभूत होने पर ही होता है। इसलिए उपर्युक्त चन्द्र (विज्ञानमय) को मन से उत्पन्न हुआ बताया गया है।[135] साथ ही विज्ञानमय पुरुष मनोमय पुरुष का पालक और स्वामी भी है। इसलिए इसे एक ऐसा मनसस्पति[136] भी कहा जाता है जो और ऊपर जा सकता है, और निर्ऋति के परे अभिचक्षण करने की सामर्थ्य रखने के कारण **चक्षु** भी कहलाता है।[137]

---

१२७ एतस्मान् मनोमयाद् अन्योन्तर आत्मा विज्ञानमयः तेनैष पूर्णः.....तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणपक्षः सत्यम् उत्तरपक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा।

१२८ महापुरुष इति यम् अवोचाम संवत्सर एव प्रध्वंसयन्न् अन्यानि भूतान्यैक्याभावयन् अन्यानि तस्यैतस्यासाव् आदित्यो रस इति। ऐआ ३.२.३

१२९ देखिए, **वै. द.**, पृ. २१९-२२४, २२६, २२७, २३८, २४३, २४६

१३० वेदपुरुष इति यम् अवोचाम येन वेदान् वेद ऋग्वेदं यजुर्वेदं सामवेदं तस्यैतस्य ब्रह्मा रस इति। ऐआ २.३.२

१३१ यो वै स संवत्सरः। प्रजापतिः षोडशकलोयम् एव स योयम् एवंवित् पुरुषस् तस्य वित्तम् एव पञ्चदश कला आत्मैवास्य षोडशी कला स वित्तेनैवा च पूर्यतेप च क्षीयते तद् एतन् नभ्य यद् अयम् आत्मा प्रधिर् वित्तं तस्माद् यद्यपि सर्वज्यानि जीयत आत्मना चेज् जीवति प्रधिनागाद् इत्य् आ हुः। माश १४.४.३.२३

१३२ ता वा एताः। षोडशाहुतयो भवन्ति षोडशकलो वै पुरुषः पुरुषो यज्ञस् तस्माद् षोडशाहुतयो भवन्ति। माश ११.१.६.३६

१३३ ब्रह्मा दक्षिणतः पुरुषेण नारायणेनाभिष्टौति 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपाद्' इत्य् एतेन षोडशर्चेन षोडशकलं वा इदं सर्वं सर्वं पुरुषमेधः। माश १३.६.२.१२

१३४ यत्रैष एतत् सुप्तोभूद् य एष विज्ञानमयः पुरुषस् तद् एषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानम् आदाय य एषोन्तर्हृदय आकाशस् तस्मिञ् छेते। माश १४.५.१.१७

१३५ चन्द्रमा मनसो जातः। ऋ १०.९०.१३

१३६ अपेहि मनस् पते,प क्राम परश् चर।
परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व, बहुधा जीवतो मनः। ऋ १०.१६४.१

१३७ भद्रं वै वरं वृणते, भद्रं युञ्जन्ति दक्षिणम्।
भद्रं वैवस्वते चक्षुर्, बहुत्रा जीवतो मनः। ऋ १०.१६४.२

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

आनन्दमय पुरुष अथ वा आदित्य : इस चक्षु अथ वा विज्ञानमय पुरुष के इस पराचक्षण के द्वारा ही उस आनन्दमय पुरुष का साक्षात्कार सम्भव है जिसमें 'आत्मन्वत् ब्रह्म' की स्थिति मानी गई है। अत एव पुरुष-सूक्त में चक्षु से सूर्य की उत्पत्ति[138] कही गई है और आदित्य को सम्वत्सर महापुरुष (विज्ञानमय) का रस माना गया[139] है। इसी पञ्चम पुरुष का साक्षात्कार आदित्य-बोध भी कहा जाता है।[140] यह आनन्दमय पुरुष विज्ञानमय पुरुष का अन्तरात्मा है, प्रिय जिसका 'शिर' है, आमोद 'दक्षिण पक्ष' है, प्रमोद 'उत्तर पक्ष', आनन्द 'आत्मा' तथा ब्रह्म 'पुच्छ प्रतिष्ठा'[141] है। इसके दोनों पक्षों और पुच्छ-प्रतिष्ठा को लेकर ही पूर्वोक्त चार पुरुषों की संहति को **सप्त पुरुष**[142] कहा गया है।

(३) 'प्रजापति' पुरुष

इस प्रकार, सप्तविध पुरुष, वस्तुतः, सात प्रकार का मानव-व्यक्तित्व सिद्ध होता है। इसी के अन्तर्गत सप्त पुरुषों की जो श्री[143] वा रस है उसका दोहन मानव-व्यक्तित्व के विविध प्राणों के रूप में प्रकट होता है। प्राण वे प्रजा हैं जिनकी सृष्टि करके यह पुरुष **प्रजापति**[144] कहाता है। 'प्रजापति' पुरुष के दो स्तर कहे जा सकते हैं। आनन्दमय स्तर पर वह **अतिपुरुष, असंगपुरुष, अतिरिक्त** अथ वा **असङ्ग पुरुष**[145] कहा जाता है, तो विज्ञानमय स्तर से उसका **संवत्सर** रूप आरम्भ होता है।[146]

एक दूसरी दृष्टि से प्रजापति पुरुष अथ वा आत्मा को पञ्चविध माना जाता है। आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय पुरुष अथ वा आत्मा का उल्लेख पहले हो चुका है। इस विषय को वैदिक साहित्य ने विभिन्न प्रकार से दोहराया है। बृहदारण्यकोपनिषद्[147] में आत्मा से अनेक प्रजाओं की उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार किया गया है, **'आत्मैवेदम् अग्र आसीत् पुरुषविधः। सो नुवीक्ष्य नान्यद् आत्मनोपश्यत् सोहमस्मीत्य अग्रे व्याहरत् ततोहंनामाभवत् !.....स द्वितीयम् ऐच्छत्। स हैतावान् आस यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ। स इमम् एवात्मानं द्वेधापातयत्। पतिश्च पत्नी चाभवताम्, तयोर् मिथुनं तस्मात् प्रजा अजायन्त....।** इस पुरुषविध आत्मा की प्रथमावस्था को कभी कभी **गोपा**[148] भी कहा जाता है क्यों कि यह अपने एकत्व में सम्पूर्ण नानात्व को गुप्त रखता है। एकत्व से अनेकत्व की अभिव्यक्ति जिन रूपों में होती है उन्हें अनेक **भुवन** कहा जाता है। एकत्व और अनेकत्व के बीच तीन और अवस्थाओं की भी कल्पना करते हुए गोपा को क्रमशः **पराचरत्, सध्रीची** तथा **वसान** नाम दिए गए हैं,[149]

अपश्यं गोपाम् अनिपद्यमानम्
आ च परा पथिभिश् चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर् वसान,
आ वरीवर्ति भुवनेष्व् अन्तः।

एक अन्य वर्णन में इसी पुरुषविध आत्मा को प्रजा-

---

१३८ चक्षोः सूर्यो अजायत। ऋ १०.९०.१३

१३९ तस्यैतस्य (महापुरुषस्य संवत्सरस्य) असावादित्यो रस इति। ऐआ २.३.२

१४० असौ वै आदित्यो बोधः। काठ ३७.१०

१४१ तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयात्। अन्योन्तर आत्मानन्दमय। तेनैष पूर्णः। तस्य प्रियम् एव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तैआ ८.४.१

१४२ स वै सप्तपुरुषो भवति। सप्तपुरुषो ह्य् अयं पुरुषो यच्च चत्वार आत्मा, त्रयः पक्षपुच्छानि चत्वारो हि तस्य पुरुषस्यात्मा त्रयः पक्षपुछन्य अथ यदेकेन पुरुषेणात्मानं वर्धयति तेन वीर्येणायमात्मा पक्षपुछान्य उद्यच्छति। माश ६.१.१.६

१४३ माश ६.१.१.४

१४४ स एव पुरुषः प्रजापतिर् अभवत्। माश ६.१.१.५

१४५ असंगो ह्य् अयं पुरुषः। माश १४.७.१.१७; अतिरिक्तो वै प्रजापतिः। जै २.१९२ अपरिमितः प्रजापतिः। तैसं १.७.३.२; ५.१.८.४

१४६ ऋतुः प्रजापतिः संवत्सर इत्य एते संवत्सरस्य नाम धेयानि। तैसं ३.१०.१०.४

१४७ बृ १.४.१; ३

१४८ स हीदं सर्वम् अनिपद्यमानो गोपायति। जैउ ३.३७.२

१४९ ऋ १.१६४.३१; १०.१७७.३

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

पति कहकर उससे प्रजाओं की सृष्टि होती हुई बताई गई है,[150]

प्रजापतिर् वा इदम् आसीत्। तस्य वाग् द्वितीयासीत्। तां मिथुनं समभवत् सा गर्भम् अधत्त सास्माद् अपाक्रामत् सेमाः प्रजा असृजत। सा प्रजापतिम् एव पुनः प्राविशत्।

इन तीनों वर्णनों की तुलना करने से आत्म-सृष्टि की पांच अवस्थाएँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं,

१	२	३	४	५
क) आत्मा एव इदम्	क) अहंनाम	क) स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ	क) आत्मानं द्विधापातयत् पतिश् च पत्नी च	क) प्रजाः अजायन्त
ख) अनिपद्यमान गोपा	ख) वाग्द्वितीय	ख) सध्रीची	ख) विपूचीः	ख) वसानः
ग) प्रजापतिर् वा इदम्	ग) परा पथिभिः चरन्	ग) मिथुनः	ग) सास्माद् अपाक्रामत्	ग) सा प्रजाः असृजत

उपर्युक्त पांच अवस्थाओं में से प्रथम तो 'केवल आत्मा' की अवस्था है, जब कि उसकी सारी सृष्टि उसी में लीन वा गुप्त रहती है और उसमें कोई गति नहीं रहती। इसीलिए इस निश्चल आत्मा को 'अनिपद्यमान गोपा' (न चलनेवाला) कहा गया है। दूसरी अवस्था में आत्मा का यह कैवल्य नष्ट होने लगता है क्यों कि अस्मिता के साथ आत्माभिव्यक्ति की शक्ति (वाक्) का उदय होने लगता है जिससे वह अपने ('आत्मानं') को ही दूसरे रूप में देखने लगता है। इसी को वेद में वाग्युक्त, वाग्द्वितीय वा परा पथ पर चलनेवाला 'अहं-नाम' कहा गया है। तीसरी अवस्था में आत्मा और वाक्, वाच्य और वाचक का भेद तो उत्पन्न हो जाता है पर फिर भी दोनों यामल रूप में रहते हैं और एक को दूसरे से पृथक् नहीं माना जा सकता। इसी लिए इस अवस्था का 'मिथुन, आलिङ्गन बद्ध स्त्रीपुरुष' अथ वा 'सध्रीची' कहा गया है। चौथी अवस्था में न केवल आत्मा और वाक् की सत्ता एक दूसरे से पृथक् रूप से आंकी जा सकती है अपि तु वे एक दूसरे से सूक्ष्म और स्थूल भेद से भिन्न होने के कारण दूर भागते हुए भी कहे जा सकते हैं। आत्मा के द्विधा पतन, गोपा के विपूची होने तथा वाक् का प्रजापति से पलायन ('सास्माद् अपाक्रामत्') इसी तथ्य को सूचित करते हैं। पांचवीं अवस्था में वह एक वाक् वा शक्ति अनेक रूप ग्रहण करती है जिससे अनेक इच्छाओं, विचारों, क्रियाओं, आदि का जन्म होता है। वाक् के इन विविध रूपों के सन्दर्भ में आत्मा को अनेक रूपों में कल्पित किया जा सकता है। इन्हीं अनेक रूपों का नाम **प्रजा** (सन्तान) अथ वा **प्राण** कहा जाता है। इसी के सन्दर्भ में आत्मा एकपुत्र से बहुपुत्र[151] प्रजापति बन जाता है।

इस तथ्य का एक बहुत ही स्पष्ट उल्लेख जैउब्रा में इस प्रकार मिलता है,[152]

एको ह्य् एवैष पुत्रो यत् प्राणः। स उ एव द्विपुत्र इति, द्वौ हि प्राणापानौ। स उ एव त्रिपुत्र इति, त्रयो हि प्राणोपानो व्यानः। स उ एव चतुष्पुत्र इति, चत्वारो हि प्राणोपानो व्यानस् समानः। स उ एव पञ्चपुत्र इति, पंच हि प्राणोपानो व्यानस् समानोवानः। स उ एव षट्पुत्र इति, षड् हि प्राणोपानो व्यानस समानोवानः उदानः। स उ एव सप्तपुत्र इति, सप्तहीमे शीर्षण्याः प्राणाः। स उ एव नवपुत्र इति, सप्त हि शीर्षण्याः प्राणा द्वाव् अवाञ्चौ। स उ एव दशपुत्र इति, सप्त शीर्षण्याः प्राणाः द्वाव् अवाञ्चौ नाभ्यां दशमः। स उ एव बहुपुत्र इति, एतस्य हीयं सर्वाः प्रजाः।

इस बहुमुखी सृष्टि में आत्मा कहीं दिखाई नहीं पड़ता। वह वाक् (शक्ति) की स्थूल सृष्टि से सर्वत्र आवृत्त रहता है। इसी लिए इस अवस्था को 'वसानः' अथ वा 'अपोवसान'[153] (कर्म से आवृत्त) कहा गया

१५० तां २१.१४.२; तुलनीय, कासं १२.५.२७.१; ऐब्रा २.३३; माश २.२.४.४; ४.२.७; ७.५.२.६; जैउ १.४६

१५१ देखिए, आगे।

१५२ जैउब्रा २.५.२.११

१५३ अ १०.२.७

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

है। मानव-व्यक्तित्व की विविध अभिव्यक्तियों को इसी प्रकार पाँच अवस्थाओं में कल्पित किया जा सकता है और उसके स्थूलतम रूप की 'वसानः' अथ वा 'अपोवसानः' से तुलना की जा सकती है। उपनिषदों में इसी को कभी कभी उद्गीथ साम की पांच अवस्थाओं के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, जिसकी तुलना गोपा की उक्त पांच अवस्थाओं से इस प्रकार की गई है, [154]

बृहदारण्यक	छान्दोग्य	ऋग्वेद
१ स्वर जो कि उद्गीथ साम का आत्मा ही है। इस अवस्था में वाक् वा शक्ति स्वर-रूप (स्वर-सम्पन्ना) हो जाती है।	१ ओ३म् अक्षरम्	१ अनिपद्यमान गोपा
२ उद्गीथ—इस अवस्था में गान उत्पन्न (उत्तब्धम्) भर ही होता है।	२ उद्गीथ-वाक् वा ऋक् को केवल गुण-रूप में ग्रहण करने-वाला साम (प्राणों का रस आत्मा)	२ परा पथिभिश चरन्तम्
३ साम—इस अवस्था में सा (वाक्) और अम (आत्मा वा प्राण) साथ साथ जुड़े हुए होते हैं।	३ साम—ऋच्य अध्यूढं साम,साम ऋक् पर आरूढ़	३ सध्रीची
४ ब्रह्म और ब्रह्मणस पति अथ वा बृहती और बृहस्पति —इस अवस्था में आत्मा और उसकी शक्ति (वाक्) एक दूसरे से पृथक् लगते हैं।	४ बृहस्पति और बृहती	४ विषूची
५ चक्षु, श्रोत्रादि के नाना प्राण जो दोनों के संसर्ग से उत्पन्न होते हैं।	५ चक्षु, श्रोत्रादि के अनेक प्राण जो दोनों से उत्पन्न होते हैं।	५ वसानः

पुरुष की प्रजाएं और यज्ञ

इस प्रकार विज्ञानमय के एक अक्षर, **ओम्** वा स्वर से जो उद्गीथ आरम्भ होता है वही हमारे स्थूल चक्षु, श्रोत्रादि की शक्तियों वा प्राणों के रूप में दिखाई पड़ता है; जो पहले एक था वही अनेक होकर कर्म करता है; जो पहले अव्यक्त था वही व्यक्त होकर स्थूल इन्द्रियों का विषय बन जाता है। एकत्व से अनेकत्व का यह प्रसार पूर्वोक्त पुरुष का एकपुत्र से बहुपुत्र होना है। दूसरे शब्दों में, मनोमय से लेकर अन्नमय कोश तक जो अनेकता-विविधता दिखाई पड़ती है उसे ही प्रजापति पुरुष का प्रजनन अथ वा यज्ञ का विस्तार कहा जाता है।

प्रजाओं का यह प्रजनन अथ वा यह का विस्तार प्राणों की विविधता में निहित[155] है और इसका मूल कारण पुरुष की वह शक्ति है जिसे वेद में **वाक्, विराज्, माया,** आदि अनेक नामों से पुकारा गया है। यह शक्तितः, मूलतः, अप्राणा होती है जो प्राण के सहित विज्ञानमय से अन्नमय पर्यन्त सम्पूर्ण 'विश्व' का विमर्शन करके 'वि-राज्' कहलाती[156] है। इसी विमर्शन के कारण शक्ति को अन्यत्र (आगम तथा सांख्यादि में) 'विमर्श' तथा 'प्रधान' कहा जाता है। इन्हीं दो में निहित विषयीकरण तथा भेदबुद्धि का द्योतक 'माया'[157] शब्द भी है। इसी प्रकार, 'प्रधान' का अर्थ 'प्रकृष्ट रूप से निधान करना' है। अतः इन दोनों में उसी शक्ति की ओर संकेत है जो पुरुष को अपने निज स्वरूप को विषय बनाने में सक्षम करती है। माया

१५४ वै.द., पृ ३९-४०

१५५ प्राणैः यज्ञस तायते। जैब्रा २.४.३१; एको ह्य् एवैष पुत्रो यत् प्राणः....स उ एव बहुपुत्रः। जैउब्रा २.५.२.११

१५६ अप्राणैति प्राणतीनां विराट् स्वराजम् अभ्य् एति पश्चात्। विश्वं मृशन्तीम् अभिरूपा विराजं पश्यन्ति त्वे न त्वे पश्यन्त्य एनाम्। अ ८.३.३

१५७ 'माया' शब्द **मा** धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ मापना वा निर्माण करना है।

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

स्वयं एक से अनेक होकर पुरुष को **पुरुरूप** बना देती है और हमारे पिण्डाण्ड में नाना प्रकार की इच्छाओं तथा क्रियाओं, आदि को जन्म[158] देती है। यही विविध रूप में विराजमान होने के कारण 'विराज्' कही जाती है। विज्ञानमय पुरुष, इस विराज् के संयोग से, त्रिभुज रूप में सोता हुआ[159] कहा जाता है; अन्यत्र, मानो इसी त्रिभुज की जागरित अवस्था (मनोमय) में वाक् (विराज्) से मन और इन्द्र नामक, दो धुरों को पैदा होते बताया गया है। ये ही दो धुर अथर्ववेद में विराज् के दो अर्ध अथ वा दो वत्स कहे गये हैं,[160] जो विज्ञानमय-रूप गुहा में एक दूसरे से अभिन्न होकर विद्यमान रहते हैं।[161] डॉ फतहसिंह के अनुसार यह विराज् (सलिल अथ वा आपः) की गर्भावस्था, तथा त्रयी की अव्याकृत अवस्था है जिसमें वेद ब्रह्म एक दूसरे से संयुक्त होकर रहते हैं और विपश्चित् के लिए तप द्वारा ही वेद्य होते हैं।[162] इसलिए वेद ब्रह्म का पिता वा माता भी वही विराज् है जिसके प्रच्युत होने पर यज्ञ भी प्रच्युत हो पड़ते हैं और जिसके अच्युत वा स्थिर होने पर यज्ञ भी स्थिर हो जाते हैं।[163]

परम व्योम की विराज् और छन्दःपुरुष

विराज् का अच्युत रूप परम व्योम (आनन्दमय कोश) में रहता है जिसके प्रसवव्रत के फलस्वरूप ब्रह्म (यक्ष) सक्रिय हो उठता है।[165] यही वह तुरीया है जो विज्ञानमय में यज्ञ के 'अग्नीषोम' नामक दो पक्षों का निर्माण करके, और मनोमयादि में पञ्चविध, षड्विध, सप्तविध तथा अष्टविध प्रजाओं की सृष्टि को प्रेरित करती हुई पुरुष को वास्तविक रूप में प्रजापति[166] बना देती है, तथा स्वयं गायत्री, त्रिष्टुभ्, जगती, अनुष्टुभ् और बृहदर्की संज्ञा ग्रहण करती हुई आत्मा-रूप यजमान के लिए स्वर[167] (उद्गीथ) का आहरण करती है। यही वह विराज् है जो प्रसिद्ध पुरुष-सूक्त में पुरुष से उत्पन्न होती है और पुरुष जिसका अधिष्ठाता बनता है। इसी के सम्पर्क से वहां नाना रूपात्मक सृष्टि का जो वर्णन है उसी को पुरुषयज्ञ भी कहा गया है। यहां भी पूर्वोक्त वेद ब्रह्म की अव्याकृत और व्याकृत त्रयी के अतिरिक्त विभिन्न प्रतीकों[168] द्वारा नानारूपात्मक प्रजासृष्टि का उल्लेख मिलता है।

इन प्रतीकों को समझने में प्रमुख कठिनाई यह है कि यहां बहुत से प्रतीक बाह्य जगत् से भी लिए गए हैं। इसका कारण यह है कि वैदिक दर्शन की मूल धारणा के अनुसार जैसा पिण्ड में है वैसा ब्रह्माण्ड में भी है। सारा विश्व एक ब्रह्माण्ड है, और मनुष्य का पिण्ड उसी का एक छोटा सा संस्करण है। इसका अर्थ यह है कि जो जो वस्तुएं एक में हैं वे दूसरे में भी हैं। व्यष्टि और विश्व में यह सादृश्य हमारे दर्शन का मूल आधार है, जो प्राचीन काल से अब तक वैसा ही चला आ रहा है। कठोपनिषद् में लिखा है, 'यद् एवेह तद् अमुत्र यद् अमुत्र तद् अन्व इह। 'इसी को दूसरे शब्दों में 'विश्वसारतन्त्र' में दुहरा दिया है, 'यद् इहास्ति तद् अन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्व चित्।' तांत्रिक दर्शन[168] के अनुसार तो ब्रह्माण्ड के सात लोक पिण्डाण्ड के सप्त चक्रों के विस्तारमात्र हैं।

---

१५८ तुलनीय, इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। ऋ ६.४७.१८; ऋ २.३३ ९; ५.८.५

१५९ अ ८.९.२ १६० अ ८.९.१

१६१ यो अक्रन्दयत् सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रि-भुजं शयानः। वत्सः काम-दुघो वि-राजः स गुहा चक्रे तन्वः पराचैः। अ ८.९.२

१६२ अ ८.९.३; तुलनीय, फतहसिंह, '**मानवता को वेदों की देन**,' पृ. १६

१६४ विराजम् आहुर् ब्रह्मणः पितरं, तां नो वि धेहि यतिधा सखिभ्यः। अ ८.९.७

१६५ यां प्रच्युताम् अनु यज्ञाः प्र-च्यवन्त उप-तिष्ठन्त उपतिष्ठमानाम्। यस्या व्रते प्र-सवे यक्षम् एजति सा विराडृषयः परमे व्योमन्। अ ८.९.८

१६५ अग्नीषोमाव् अदधुर् या तुरीयासीद् यज्ञस्य पक्षाव् ऋषयः कल्पयन्तः। अ ८.९.१४; विविध सृष्टि के लिए देखें, अ ८.९.१५–२१

१६६ देखें, पूर्वोक्त स्वर और ओम् से आरम्भ होनेवाली उद्गीथ की पांच अवस्थाओं के साथ गोपा की पांच अवस्थाएं।

१६७ 'वेद-सविता' में धारवाहिक रूप से प्रकाशित पुरुष-सूक्त की व्याख्या में इन प्रतीकों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

१६८ षड्चक्रनिरूपण; आनन्दलहरी (र. अनन्त शास्त्री द्वारा सम्पादित), पृ ८५; शुकसंहिता, आदि। तुलनीय, आर्थर अवेलन, **सर्पेंट पावर**, पृ १६९, १८३

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

वैदिक साहित्य में तो सादृश्य का यह सिद्धांत इतना अधिक है कि इसको ध्यान में रखे बिना वेद को बिल्कुल ही नहीं समझा जा सकता। उपनिषदों में तो यह सिद्धांत पूर्णतया स्पष्ट रूप से दिखलाया गया है। पहले देखा जा चुका है कि किस प्रकार संवत्सर, सूर्य और चन्द्रमा, आदि बाह्य जगत् के प्रतीक अन्तर्जगत् के वर्णन में प्रयुक्त हुए हैं। डॉ फतहसिंह के 'वैदिक दर्शन' में पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड के इसी सादृश्य के द्योतक कुछ तथ्य एकत्र किए गए हैं। वे यहां संक्षेप में प्रस्तुत हैं :

प्राण	पिण्ड	ब्रह्माण्ड
अपान	वायु और उपस्थ का प्राण	पृथिवी
प्राण	चक्षु, श्रोत्र, मुख, नाक का प्राण	पृथ्वी*
समान	मध्य शरीर का प्राण	आकाश
व्यान	सारे शरीर की नाड़ियों का प्राण	वायु
उदान	ऊर्ध्व भाग का प्राण	तेज

१ महासंहिता

स्थान	पूर्व-रूप	उत्तर-रूप	संधि	संधान
क) अध्यात्मम्	अधरा हनुः	उत्तरा हनुः	वाक्	जिह्वा
ख) अधिलोकम्	पृथिवी	द्यौ	आकाश	आयु
ग) अधिज्योतिषम्	अग्नि	आदित्य	आपः	वैद्युत
घ) अधिविद्यम्	आचार्य	अन्तेवासी	विद्या	प्रवचन
ङ) अधिप्रजम्	माता	पिता	प्रजा	प्रजनन

२ व्याहृतियाँ

स्थान	भूः	भुवः	स्वः	महः
क) अध्यात्मम्	प्राण	अपान	व्यान	अन्न
ख) अधिलोकम्	पृथिवी	अन्तरिक्ष	द्यौ	आदित्य
ग) अधिज्योतिषम्	अग्नि	वायु	आदित्य	चन्द्रमा
घ) अधिविद्यम्	ऋक्	यजुः	साम	ब्रह्म

३ पांक्त पुरुष

	१	२	३	४	५
अध्यात्मम्	प्राण चक्षु चर्म	व्यान श्रोत्र मांस	अपान मन स्नायु	उदान वाक् अस्थि	समान त्वक् मज्जा
अधिभूतम्	पृथिवी अग्नि आपः	अन्तरिक्ष वायु ओषधियाँ	द्यौ आदित्य वनस्पतियाँ	दिशाएं चन्द्रमा आकाश	अवांतर दिशाएं नक्षत्रगण आत्मा

* वेद में पृथ्वी शब्द व्यष्टिगत पूः के बहुला एवं उर्वी रूप का वाचक है, जब कि पृथिवी समष्टिगत है। तु. पूश्च पृथ्वी बहुला न उर्वी। ऋ १.१८९.२

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

इस प्रकार, प्राणन, आदि विभिन्न क्रियाओं के दृष्टि-कोण से पांक्त पुरुष का वर्णन करने के पश्चात्, उसके पूर्ण व्यक्तित्व को ध्यान में रखकर उसके आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय, ये पांच भेद बतलाए गए हैं जिनका वर्णन पहले हो चुका है।

छान्दोग्य उपनिषद्[169] में 'ओम्' उद्गीथ का उपव्याख्यान करते हुए कहा गया है कि 'भूतों का पृथिवी, पृथिवी का आपः, आपः का ओषधियों, ओषधियों का पुरुष, पुरुष का वाक्, वाक् का ऋक्, ऋक् का साम और साम का उद्गीथ रस है।' यह उद्गीथ ऋक् और साम का 'मिथुन-रूप'[170] है, अतः साम 'ऋच्य अध्यूढ' कहलाता है। इस साम का रूप पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड में एक सदृश है :

ब्रह्माण्ड का ऋच्य अध्यूढ साम

ऋक् (सा)	+साम (अम)	=साम
पृथिवी	अग्नि	,,
अन्तरिक्ष	वायु	,,
द्यौ	आदित्य	,,
नक्षत्र	चन्द्रमा	,,
आदित्य की शुक्लता	आदित्य की नीलिमा	,,

पिण्डाण्ड का ऋच्य् अध्यूढ साम

ऋक् (सा)	+साम (अम)	=साम
वाक्	प्राण	,,
चक्षु	आत्मा	,,
श्रोत्र	मन	,,
चक्षु की शुक्लता	चक्षु की नीलिमा	,,

ब्रह्माण्ड[171] में इस साम का सा (ऋक्) और अम (साम) क्रमशः पृथिवी-अग्नि, द्यौ-आदित्य, नक्षत्र-चन्द्रमा तथा आदित्य की शुक्लिमा-नीलिमा के 'मिथुनों' में देखा जा सकता है, जबकि पिण्डाण्ड[172] में वह क्रमशः वाक्-प्राण, चक्षु-आत्मा, श्रोत्र-मन तथा आंख की शुक्लिमा-नीलिमा के संयोग में विद्यमान है। सामगान में हिंकार प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन, कुल पांच अवस्थाएं होती हैं। अतः उक्त ऋच्य अध्यूढ साम[173] को भी पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड में पञ्चविध साम के रूपों में वर्णन किया है। हमारे शरीर में साम की उक्त अवस्थाएं क्रमशः प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन के रूप में हैं, तो ब्रह्माण्ड में भी वे विभिन्न क्षेत्रों में उसी प्रकार वर्तमान हैं,

क्षेत्र	साम				
	हिंकार	प्रस्ताव	उद्गीथ	प्रतिहार	निधन
लोक	पृथिवी	अग्नि	अन्तरिक्ष	आदित्य	द्यौ
वृष्टि	पुरोवात	मेघ	वर्षा	विद्योतन-गर्जन	उद्ग्रहण
आपः	मेघ	वर्षा	प्राच्य स्पंदन	प्रतीच्य स्पंदन	समुद्र
ऋतु	वसन्त	ग्रीष्म	वर्षा	शरद्	हेमन्त
पशु	अज	अवि	गौ	अश्व	पुरुष

इसी प्रकार, साम गान की सात अवस्थाओं की दृष्टि से पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड, दोनों में सप्तविध साम की कल्पना की गई है। इसका वर्णन भी, पंचविध साम के समान, विभिन्न क्षेत्रों में पृथक् पृथक् किया गया है। उदाहरण के लिए यहाँ उसमें से दो वर्णन दिए जाते हैं,

१) लोमा हिंकारः, त्वक् प्रस्तावो, मांसम् उद्गीथो, स्थि प्रतिहारो, मज्जानिधानम् एतद् यज्ञायज्ञीय अङ्गेषु प्रोतम्।

२) अग्निर्हिंकारो, पायुः प्रस्ताव, आदित्य उद्गीथो,

---

१६९ छांउ १.१.२ १७० छांउ ३०.११.५

१७१ वही, १.१.६ १७२ वही, १.१.७ १७३ वही, २.१.८

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

नक्षत्राणि प्रतिहारश्, चन्द्रमा निधनम् एतद् राजनं देवतासु प्रोतम् ।

इसी तरह, वैदिक दर्शन के प्रत्येक अंग में पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड का सादृश्य रक्खा गया है । इसका परिणाम यह हुआ है कि जो पारिभाषिक शब्द केवल आध्यात्मिक जगत् के थे उनका प्रयोग आधिभौतिक जगत् के तथ्यों के लिए होने लगा, तथा जो आरम्भ में केवल ब्रह्माण्ड की वस्तुओं के लिए प्रयुक्त होते थे उनसे पिण्डाण्ड की बातें व्यक्त की जाने लगीं । उदाहरण के लिए निम्नलिखित श्लोक में सामाजिक **ब्रह्म** तथा **क्षत्र** का प्रयोग आध्यात्मिक प्रसंग में उपस्थित किया जा सकता है,

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः ।
मृत्युर् यस्योपसेचनं, क इत्था वेद यत्र सः ?

इसी प्रकार, अथर्ववेद १०.२ के अनुसार, जब पुरुष के भीतर भूमि, द्यौ, पर्वत, पर्जन्य, आपः, सिन्धु, आदि बाह्य जगत् की वस्तुओं का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है तो, निस्संदेह, उनको किसी न किसी आध्यात्मिक अर्थ में ही समझने की आवश्यकता प्रतीत होती है । अथर्ववेद के **स्कम्भ ब्रह्मचारी, उच्छिष्ट व्रात्य,** आदि सूक्तों में इस प्रकार के अनेक प्रतीकों का उपयोग दिखाई पड़ता है । उदाहरण के लिए, स्कम्भ-सूक्त के मन्त्र १२ से १७ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । इनके अनुसार स्कम्भ में भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौ, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, तैंतीस देव, प्रथमजा ऋषिगण, ऋक्, साम, यजुः, समुद्र, आदि समाहित हैं । और आश्चर्य की बात यह है कि स्कम्भ स्पष्ट रूप से पुरुष कहा गया है,

यत्रामृतं च मृत्युश च पुरुषेधि समाहिते ।
समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेधि समाहिता, स्कम्भं
तं ब्रूहि कतमः स देवः । १५
ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमे-ष्ठिनम् ।
यो वेद परमे-ष्ठिन यश च वेद प्रजा-पतिम् ।
ज्येष्ठं ये ब्रह्माणं विदुस ते स्कम्भम् अनुसंविदुः । १७

इस बात की पुष्टि इससे भी होती है कि पुरुष को समुद्र, यह लोक, अन्तरिक्ष लोक और द्यौ लोक कहते हुए, उसके उष्ण भाग को ज्योति, छिद्रों को आकाश, लोहित श्लेष्मा और रेतस् को आपः, शरीर को पृथ्वी, तथा प्राण को वायु कहकर उसे पञ्चविध पुरुष बताया जाता है ।[174] इस पञ्चविध पुरुष की तुलना अथर्ववेद के पांक्त छन्दःपुरुष से करते हुए, उक्त द्युलोक और समुद्र को क्रमशः मनोमय तथा विज्ञानमय में स्थित उत्तर राष्ट्र तथा उदीची दिशा माना जा सकता है जिसे देश-कालातीत **अग्र** नामक आनन्दमय कोश भी कहा जा सकता है ।[175] जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आनन्दमय (अग्र) का स्तर ही वह परम व्योम है जहां विराज् अपने अच्युत रूप में रहती है । इसी को, एक दृष्टि से, **अपादा** और **प्रथमा** भी कहा जाता है । वह अपने गर्भ-भार को लेकर अनृत का विनाश और ऋत का भरण-पोषण करती हुई, मनोमय से लेकर अन्नमय तक अपने उन सभी रूपों तक पहुँचती है जो **पद्वती** कही जाती हैं ।[176] इसलिए यह कहना सर्वथा उचित है कि विराज्-शक्ति पुरुष की वाक् ही नहीं अपि तु वह उसके भीतर स्थित पृथिवी, अन्तरिक्ष, प्रजापति, मृत्यु, साध्य देवों की अधिराट्, एवं भूत, भव्य, सब कुछ है ।[177]

त्रिवृत् पुरुष : पंचविध पुरुष के समान, वैदिक साहित्य में त्रिवृत् पुरुष की कल्पना भी मिलती है । सामान्यतः यह त्रिविधता वाक्, मन और प्राण की दृष्टि से कल्पित हुई है ।[178] पर साथ ही कहीं तेज, सत्, तथा सदायतना प्रजाभेद से, तो कहीं प्राक्, उदक् तथा अधराक् भेद से

---

१७४ ऐआ २.३.३

१७५ उत्तरं **राष्ट्रं** प्रजयोत्तरावद्,
दिशाम् उदीची कृणवन् नो अग्रम् ।
पांक्तं छन्दः पुरुषो बभूव,
विश्वैर् विश्वाङ्गैः सह सं भवेम । अ १२.३.१०

१७६ अपाद् एति प्रथमा पद्वतीनां,
कस् तद् वां मित्रावरुणा चिकेत ।
गर्भो भारं भरत्य् आ चिद् अस्या,
ऋतं पिपर्त्य् अनृतं नि पाति । अ ८.१०.२३

१७७ विराड् वाग्, विराट् पृथिवी,
विराड् अन्तरिक्षं विराट् प्रजापतिः ।
विराण् मृत्युः साध्यानाम् अधिराजो बभूव,
तस्य भूतं भव्यं वशे, स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु ।
अ ९.१०.२४

१७८ छाउ ६.१५.१; ६.८.६

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

भी पुरुष को त्रिधा माना गया है।[179] इसके साथ ही ऋक्, यजुः, साम नामक त्रय तथा रजः, तमः, सत्त्व गुणों की त्रिविधता को भी लिया जा सकता है।

उपनिषदों का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उल्लेख पुरुष को सम्राज्, स्वराज् तथा विराज् भेद से भी त्रिविध मानता है। इन तीनों शब्दों की निष्पत्ति **राज्** धातु से हुई है जिसका अर्थ 'दीप्त होना' है। अतः **सम्राज्** को सम्पूर्ण वा सम्यक् रूप से प्रकाशित, **स्वराज्** को स्वीय रूप से प्रकाशित तथा **विराज्** को विविध रूप से प्रकाशित, कहा जा सकता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में ज्योतिर्मय सम्राज्[180] का विस्तृत वर्णन मिलता है। वह आत्मा की परम गति, परम सम्पदा, परमानन्द और परम लोक है।[181] इसके आनन्द का अनुमान निम्नलिखित ढंग से कराया गया है,[182]

१	मनुष्यों में सर्वसम्पन्न और सब मानुप भोगों के श्रेष्ठ भोक्ता का आनन्द	= १ मनुष्य का परम आनन्द
२	१०० मनुष्यों के आनन्द	= १ पितृ का आनन्द
३	१०० पितरों के आनन्द	= १ गन्धर्वलोक का आनन्द
४	१०० गन्धर्व लोकों का आनन्द	= १ कर्म-देव का आनन्द
५	१०० कर्म-देवों "	= १ आजान देव "
६	१०० आजान देवों "	= १ प्रजापतिलोक "
७	१०० प्रजापति लोकों "	= १ ब्रह्मलोक " = सम्राज्

कुछ हेर-फेर के साथ इसी प्रकार की आनन्द-मीमांसा तैत्तिरीय उपनिषद्[183] में की गई है,

१	युवा, साधु युवा, अध्यापक, आशिष्ठ, द्रढिष्ठ और बलिष्ठ का आनन्द	= १ मानुप आनन्द
२	१०० मानुष आनन्द	= १ मनुष्य-गन्धर्वों का आनन्द
३	१०० मनुष्य-गन्धर्वों का आनन्द	= १ देव-गन्धर्वों का आनन्द
४	१०० देव-गन्धर्वों का आनन्द	= १ पितरों "
५	१०० पितरों का आनन्द	= १ आजानज देवों "
६	१०० आजानज देवों का आनन्द	= १ कर्म-देव "
७	१०० कर्म-देवों का आनन्द	= १ देवों "
८	१०० देवों का आनन्द	= १ इन्द्र "
९	१०० इन्द्र का आनन्द	= १ बृहस्पति "
१०	१०० बृहस्पति का आनन्द	= १ प्रजापति "
११	१०० प्रजापति का आनन्द	= १ ब्रह्म "

यह एक अद्वैत सम्राज् वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, हृदय, आदि रूपों में नानात्व ग्रहण कर प्रकाशित होता है।[184] पर वागादि में से कोई भी एक पूर्ण सम्राज् नहीं है अपि तु केवल **एकपाद् सम्राज्**[185] है। पूर्ण सम्राज् तो अकर्ता है। वह देखता हुआ नहीं देखता है, सूंघता हुआ नहीं सूंघता है, रस ग्रहण करता हुआ ग्रहण नहीं करता है, बोलता हुआ नहीं बोलता है, सुनता हुआ नहीं सुनता है, सोचता हुआ नहीं सोचता है, स्पर्श करता हुआ स्पर्श नहीं करता है, विज्ञान करते हुए विज्ञान का कर्ता नहीं है; क्यों कि सम्राज् तो एक और अद्वैत है, और देखने, सूंघने, आदि व्यापारों के लिए विषय रूप में यदि 'अन्य'

१७९ वही, ६.८.६; ६.१४.१
१८० वृउ ४.३.३२ १८१ वही।
१८२ वही, ४.३.३३ १८३ तैउ २.८
१८४ वृउ ४.१.२-७ १८५ वही, ४.३.२३.३०

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

नहीं तो 'अन्यद्-इव' होना तो आवश्यक ही है।[185] वह तो अविनाशी है; उसमें कोई **द्वितीय** उससे विभक्त नहीं है (अविनाशित्वान् न तु तद् द्वितीयम् अस्ति ततोन्यद् विभक्तं यद् विजानीयात्)। और जहां 'अहं' तथा 'इदं' का द्वैत सम्भव नहीं वहां कौन किसको देखे, सुने, कहे या जाने (यत्र वान्यद्-इव स्यात् तत्रान्योन्यत् पश्येद् अन्योन्यज् जिघ्रेद् अन्योन्यद् वदेद् अन्योन्यत् स्पृशेद् अन्योन्यद् विजानीयात्)।[186] हमारे शरीर में ज्ञान और कर्म के नाना व्यापार होते हैं। वे सम्राज् में नानात्व को छोड़कर 'एक' प्रकाश वा प्रद्युति मात्र में परिवर्तित हो जाते हैं।[187]

एकीभवति न पश्यतीत्य आहुर् एकीभवति न जिघ्रतीत्य आहुर् एकीभवति न रसयतीत्य आहुर् एकीभवति न वदतीत्य आहुर् एकीभवति न शृणोतीत्य आहुर् एकीभवति न मनुत इत्य आहुर् एकीभवति न स्पृशतीत्य आहुर् एकीभवति न विजानातीत्य आहुस्तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते।

सम्राज् वा ब्रह्म जब नाना रूप में प्रकाशित होता है तभी विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, आदि विभिन्न पुरुषों की उत्पत्ति होती है।[188] विविध रूपों में **राजन** (प्रकाशन) होने से सम्राज् को, इस रूप में, **विराज्** कहा जाता है।[189] यथार्थ में, एक सम्राज् वा ब्रह्म को अनेक करने वाली तो उसकी शक्ति, वाक् है। इसलिए वास्तविक विराज् (विविध रूप से राजनेवाली) तो वाक् ही है।[190] अत एव द्वैत वा नानात्व की अवस्था में वाक् को **विराज्** तथा ब्रह्म को विराट्-पुरुष वा विराज् का पति कहा जाता है।[191] जैसा कि ऊपर देख चुके हैं कि एक अद्वैत आत्मा को द्वैतता तथा विविधता की ओर ले जानेवाली वाक्, वास्तव में, दूसरी अवस्था (विज्ञानमय) में आरम्भ हो जाती है और दूसरी अवस्था से पाँचवी अवस्था (अन्नमय) तक अपना कार्य करती रहती है। पर दूसरी अवस्था में तो वाक् पुरुष से संयुक्त रहती है, जब कि तीसरी से पाँचवी अवस्था तक ये दोनों एक दूसरे से पृथक् पृथक् नानात्मक हो जाते हैं।

अतः ऊपर कही हुई पांच अवस्थाओं में से पुरुष दूसरी अवस्था (विज्ञानमय) में 'वाग्द्वितीय, परापथिभिश्च चरत्, 'अहंनाम', आदि कहा जाता है। ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण, यहां वाक् ब्रह्म का **स्व** कहलाती है।[192] इसलिए यह विज्ञानमय पुरुष, 'स्व' से स्व का निर्माण करके 'स्व' के प्रकाश से प्रकाशित होनेवाला, **स्वयंज्योतिः**[193] पुरुष कहलाता है। इस अवस्था में पुरुष के 'स्व' में ही प्रतिष्ठित होने से,[194] 'स्व' के अतिरिक्त उसे और कोई अनुभूति होती ही नहीं। वहां तो केवल 'अहम्' के अतिरिक्त कुछ रह नहीं जाता (अहमेवाधस्ताद् अहम् उपरिष्टाद् अहं पश्चाद् अहं पुरस्ताद् अहं दक्षिणतोहम् उत्तरतोहम् एवेदं सर्वम् इति)। अतः इस आत्मानन्द 'विज्ञानमय' पुरुष को **स्वराज्** नाम दिया गया है,

आत्मैवाधस्ताद्, आत्मोपरिष्टाद्, आत्मा पश्चाद्, आत्मा दक्षिणतः, आत्मोत्तरतः, आत्मैवेदं सर्वम् इति। स वा एष एवं पश्यन् एवं मन्वान एवं विजानन्न् आत्मरतिर् आत्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति।

ऊपर वर्णन हो चुका है कि विज्ञानमय पुरुष की एकीभूत अव्याकृत शक्ति मनोमय, प्राणमय तथा अन्नरसमय में नानामयी होकर व्याकृत तथा व्यक्त हो जाती है। वास्तव में, मनोमयादि अन्तिम तीन अवस्थाओं में ही, शक्ति यथार्थ विविधता प्राप्त करती है। अतः इन्हीं अवस्थाओं में पुरुष को **वि-राज्** पुरुष कहा जाता है।

१८६ वही, ३१ १८७ वही, ४.४.२
१८८ वही, ४.४.५ १८९ ऋ १०.९०.५; १.१८९.३
१९० सा ते कामदुहिता धेनुर् उच्यते याम् आहुर् वाचं कवयो विराजम्। अ ९.२.५; या वाग् विराट्। छांउ ४.१.२; वाग् वै विराट्। माश ३.५.१.३४। तुलनीय, तां २५.९.४; ऋ १.१६४.४१; अ ९.१०.२१
१९१ तुलनीय, तस्माद् विराड् अजायत, विराजो अधि पूरुषः। १०.९०.५, भ.-गी. ११ भी बृउ ४.२.३; गो २.२.९; माश १४.६.११.३; १.१.१०.६
१९२ माश १.४.२.१७; २.२.४.४; २०.१.४.२; कासं १२.५; २७.१; छांउ ७.२४.१
१९३ स्वयं विहत्य, स्वयं निर्माय, स्वेन भासा, स्वेन ज्योतिषः, प्रस्वपित्य अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर् भवति। बृउ. ४.३.९
१९४ छांउ ७.२४.१

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है जो कि ब्रह्म सुषुप्ति (विज्ञानमय कोश) में एक 'स्वराज्' होकर सोता है वही स्वप्नावस्था (मनोमय कोश) तथा जागरितावस्था (प्राणमय तथा अन्नरसमय) में विविध प्रकार से 'राजना' (प्रकाशता) है, नाना प्रकार की क्रियाएँ करता है। माण्डूक्य उपनिषद् में जागर्ति, स्वप्न और सुषुप्ति का आत्मा क्रमशः वैश्वानर, तैजस तथा प्राज्ञ बतलाया गया है।[195] बृहदारण्यकोपनिषद् में इन तीनों का पारस्परिक सम्बन्ध एक सुन्दर रूपक द्वारा दिया गया है, तैजस आत्मा महामत्स्य है जो विश्व- तथा प्राज्ञ-रूप दो सरित्कूलों के बीच तैरता हुआ इससे उसकी ओर, उससे इसकी ओर चलता रहता है।[196] पर इन तीनों अवस्थाओं से ऊपर, 'सम्राज्' वा पूर्ण अद्वैत ब्रह्म की तुरीय वा असुप्त अवस्था[197] है जिसे **अतिछन्दाः** भी कहा जाता है क्यों कि यह अवस्था, विज्ञानमय (सुषुप्त) तक पाई जानेवाली ऋक्, यजुः, साम के संयुक्त अव्याकृत रूप अथर्वांगिरस (छन्दस्) का भी अतिक्रमण करके, परे पहुँच जाती है। इसका स्वरूप तथा अन्यों से सम्बन्ध बतलाते हुए कहा गया है,[198] 'इसका (स्वराज्) अतिछन्दा अपहतपाप्मा तथा अभय रूप है। जिस प्रकार प्रिय स्त्री का आलिङ्गन करके कोई बाह्य तथा आन्तरिक बात को नहीं जानता उस प्रकार यह पुरुष 'प्राज्ञ' आत्मा से आलिंगित होकर किसी बाह्य वा आन्तरिक बात को नहीं जानता और **आप्तकाम** अकाम हो जाता है।' इसी विषय में कहा गया है कि

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते, कामा येस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योमृतो भवत्य, अत्र ब्रह्म समश्नुते।[199]

जैसा कि **सम्राज्**, **स्वराज्** तथा **विराज्** शब्दों से प्रतीत होता है, इन तीनों में पाया जानेवाला व्यापक मूल तत्त्व एक ही **राज्** (प्रकाश) है जिसे उक्त शब्दों में **राज्** धातु से व्यक्त किया गया है। फिर भी इन तीनों में कुछ न कुछ भेद अवश्य है जिसे **सम्**, **स्व** तथा **वि** उपसर्गों से प्रगट किया गया है। ऊपर के विवेचन से यह बात स्पष्ट है कि इन तीनों अवस्थाओं में पाया जानेवाला यह प्रकाश-भेद, वास्तव में, विषयीकरण द्वारा होता है। प्रकाशात्मा सम्राज् स्वयं एक अद्वैत है। अतः उसमें विषयी और विषय अथ वा **अहम्** और **इदम्** का भेद नहीं होता। पर स्व-राज् अवस्था में वह अपने स्व को ही अपना विषय बना लेता है और उसे एक बाह्य **इदं** रूप में देखकर **अहम् अस्मि** का अनुभव करता है। यह स्व वि-राज् अवस्था में पहुँचकर **वि** में परिवर्तित हो जाता है, अर्थात्, अहं-रूप का **इदम्** 'विविध-रूप इदम्' में बदल जाता है, एक **स्व** के स्थान पर **इदम्** का नानारूपात्मक विषय उपस्थित हो जाता है, एक विराज् के स्थान पर अनेक विराज् (विराजानि)[200] हो जाते हैं।

ऋग्वेद-संहिता में अग्नि का **गोपा**-रूप सम्राज् है।[201] वह सप्त होताओं के संयोग से अनेक ज्योतियों में परिवर्तित होकर विराज्[202] बनता है। एक दूसरी दृष्टि से इन अनेक विराज्-रूपों को अनेक सम्राजों की संज्ञा भी दी गई है और तब उनको 'अनेक आदित्य' भी कहा जाता है।[203] सम्राज् और विराज् के बीच में स्व को एकीभूत करनेवाला (**स्व-युः**) इन्द्र स्वराज् कहलाता है।[204] स्वयुः से किञ्चित् भिन्न, स्वराज् की एक **द्वयुः**-अवस्था भी है[205] जिसमें स्वराज् के एकत्व में द्वित्व उपस्थित हो जाता है। इसी का संकेत मित्रावरुणौ[206] तथा इन्द्रावरुणौ[207] कल्पना में मिलता है।

पुरुष का रहस्य

पुरुष अथ वा प्रजापति की दृष्टि से उपर्युक्त गोपा सम्राट् को असङ्ग अथ वा अतिरिक्त पुरुष वा प्रजापति

१९५ माउ १.३.१ १९६ बृउ ४.३.१८
१९७ माउ १.१२ १९८ बृउ ४.३.२१
१९९ बृउ ४.४.७

२०० ऋ १०.१५९.६ २०१ ऋ ३.१० १-२
२०२ होता मन्द्रो विराजस्ट अति स्रिधः। ऋ ३.१०.७
तुलनीय, ऋ ३.१०.४-५
२०३ ऋ १०.६३.५ २०४ ऋ ३ ४५.५
२०५ ऋ ८.१८.१४-१५; ९.१०४.६; १०५.६
२०६ आ यद् वामीय चक्षसा, मित्र ! वयं च सूरयः।
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये। ऋ ५.६६.६
२०७ मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य विश्वायोर् विश्वे अमृता
यथा नः। क्रतुं सचन्ते वरुणस्य देवा राजामि
कृष्टेर् उपमस्य वव्रे। ऋ ४.४२.१

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

कहा जा सकता है जो अपने को सप्तहोतृ वा दशहोतृ रूप में प्रकट करके प्रजाओं की सृष्टि द्वारा अनेक विराजों का रूप ग्रहण करता है।[208] एकत्व और अनेकत्व की इन दो अवस्थाओं के बीच एक और अवस्था है जिसे यज्ञ का मूर्धा[209] कहा जाता है। यह 'यज्ञ का केतु' और 'प्रथम पुरोहित' अग्नि है जो त्रिविध अथ वा उक्त सप्तविध, आदि रूपों में यज्ञ को प्रकट करता है।[210] इसके अतिरिक्त सम्राज् अवस्था 'यज्ञ का परम व्योम' कहलाती है जिसमें यज्ञ के समस्त नानात्व की मूल शक्ति (शाक) अन्तर्हित रहती है।[211] यह अवस्था यज्ञ का लय (निशिति) और उदय (उदिति) है जिसे एक रहस्य की तरह पूरित होता कहा जाता है।[212] यह यज्ञ का **अग्र** है जिसे तमोनाशक उषाएं प्राप्त होती हैं।[213]

निस्संदेह, यह वही पुरुष है जिसका वर्णन ऋग्वेदादि के पुरुष-सूक्तों में हुआ है। इस सूक्त की ऋचाएं जब कर्मकाण्ड में प्रयुक्त हुईं तो उनकी व्याख्या के लिए आवश्यक विवेचन ब्राह्मणों ने किया तथा आरण्यकों ने उन पर अपने दार्शनिक निष्कर्ष निकाले। उपनिषदों ने भी इस विषय का निरूपण किया जिसका उल्लेख प्रसंगानुसार हो चुका है। इस प्रसंग में **मुद्गल उपनिषद्** विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसे एक प्रकार से पुरुष-सूक्त की व्याख्या कहा जा सकता है। इसमें ऋग्वेदीय पुरुष-सूक्त के पन्द्रह मन्त्रों के पश्चात् सोलहवें मन्त्र के स्थान पर यजुर्वेदीय पुरुषाध्याय के अट्ठारहवें मन्त्र को लेकर तदनन्तर ऋग्वेदीय १६वें मन्त्र को रखा गया है। पारमात्मिकोपनिषद्, महावाक्योपनिषद्, चित्युपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, आदि में पुरुष-सूक्त के विषय का जो निरूपण हुआ है उसमें इन पृष्ठों में परिभाषित **पुरुष** और **आत्मा** शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध देखा जा सकता है। दर्शनों में सांख्य-योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा तथा न्याय-वैशेषिक के मेल से पुरुष एवं आत्मा के जिस स्वरूप का साक्षात्कार होता है उसके मूल में भी यही वैदिक साहित्य का पुरुष है। यह बात तभी बोधगम्य हो सकती है जब हम इनमें से प्रत्येक को स्वतन्त्र दर्शन न मानकर इस सबको वैदिक सिद्धान्त को समझने के लिए छह दृष्टिकोण मानें।

---

२०८ प्रजापतिर् वा एक आसीत्। सोकामयत यज्ञो भूत्वा प्रजाः सृजेयेति। स दशहोतारं यज्ञं आत्मानं व्यधत्त। मैसं १.८.३

२०९ मूर्धन् यज्ञस्य समनक्तु देवान्। ऋ २.३.२

२१० यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहितम् अग्निं नरस त्रिषधस्थे समीधिरे। ऋ ५.११.२

२११ ऋतेन ऋतं धरुणं धारयन्त यज्ञस्य शाके परमे व्योमन्। ऋ ५.१५.२

२१२ ऋ ६.१५.११

२१३ ऋ ६.६५.२। तुलनीय, ऋ ७.१५.५

'पुरुष' की परिभाषा

श्रद्धा चौहान, एम ए, पीएच डी

['वैदिक-परिभाषा-कोष' में 'पुरुष' की जो परिभाषा प्रस्तावित है उसका प्रारूप कुछ इस प्रकार का बनता है। यह 'कोष' वेद-संस्थान की वैदिक-शोध-योजना का सार प्रस्तुत करने के लिए प्रकाशित होगा। 'कोष' और शोध-योजना की चर्चा आगे के पृष्ठों में की जा रही है।]

पुरुष, इस शब्द की व्युत्पत्ति पूः (पुर्) से मानी गई है। पूः=देह-रूप पुर। (१) **पुरुष**=प्रत्येक देह में शयन वा निवास करनेवाला जीव अथ वा आत्मा। यह व्यष्टि-गत पुरुष है। [यह पुरुष प्रति-शरीर भिन्न है; जितने शरीर उतने पुरुष। पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों, मनुष्य, आदि सब प्राणियों के देहों में से प्रत्येक देह का चेतन तत्त्व (जीव) व्यष्टि-गत पुरुष है।] २) **पुरुष**=सब पुरों में एक साथ रहनेवाला। यह समष्टि-गत पुरुष है। पहला पुरुष परिमित (ससीम)

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

है, जब कि दूसरा पुरुष है अ-परिमित (असीम), और है प्रत्येक व्यष्टि के अन्दर-बाहर वर्तमान, अज, अमनाः, अप्राण ।

इन दोनों पुरुषों की पहचान करने का सामर्थ्य मानव-देह-रूप पुर में रहनेवाले व्यष्टिगत पुरुष को ही प्राप्त है । अतः वेद में पुरुष-द्वय की चर्चा मुख्यतः मानवदेह-रूप पूः के सन्दर्भ में हुई है ।

व्यष्टि-गत पूः और पुरुष का सह-स्रत्व : मानवदेह-रूप पूः को अथर्ववेद **अष्टाचक्रा नवद्वारा अयोध्या** कहता है । उसके दो कोशों (देवकोश, हिरण्यय कोश) का विशेष रूप से उल्लेख है । देवकोश का दूसरा नाम 'अथर्वा का शिर' है । वह 'विज्ञानमय' भी कहाता है । उसकी रक्षा मन, प्राण, अन्न क्रमशः करते हैं । उसके ऊपर मनोमय, प्राणमय, अन्नमय कोशों को क्रमशः परिवेष्टित माना गया है । इन पांच कोशों की दृष्टि से पञ्चविध पुरुष की कल्पना की गई है । हिरण्यय कोश का नाम 'आनन्दमय' भी है । उसमें एक ज्योतिर्मण्डित स्वर्ग है । उस स्वर्ग में 'आत्मन्वत् यक्षं'[1] है । इसे ही ब्रह्मवित् जानते हैं । ब्रह्म का यह आत्मन्वत् (आत्मा से युक्त) रूप मा.-शतपथब्राह्मण का आत्मन्वी ब्रह्म है । इस ब्रह्म का आवास होने से उक्त स्वर्ग को 'ब्रह्मपुरी' कहा जाता है । दोनों पुरुषों के सायुज्य (सहास्तित्व) की संज्ञा **सह-स्र** है । अतः व्यष्टि-गत पुरुष **सह-स्रस्य प्रतिमा** अथ वा **सह-स्रवान्** कहाता है । पुरुष को **सहस्रशीर्षाः सहस्राक्षः, सहस्रपात्** कहने (ऋ १०.९०.१) का तात्पर्य जहां उस समष्टि-गत पुरुष से है जो सब देहों में विराजमान होने से हजारों शिरों, आंखों, पैरों वाला है वहाँ उस व्यष्टि-गत पुरुष से भी है जिसके शीर्ष (ज्ञान-संस्थान), अक्ष (इन्द्रिय-संस्थान), पात् (क्रिया-संस्थान) में दोनों पुरुषों की शक्ति का सह-स्रवण हो रहा है । अतः ब्रह्म (गुह्य प्रजापति) में जो तीन ज्योतियां हैं वे आत्मा (परमेष्ठी) में भी हैं (अ १.७.४०-४१) ।

यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे : सह-स्रवण की इस कल्पना के कारण व्यष्टि-गत पुरुष और समष्टि-गत पुरुष में सादृश्य देखा गया और देह (पिण्ड) को ब्रह्माण्ड का एक लघु संस्करण माना गया । अतः जगत् के विभिन्न पदार्थ व्यष्टि-गत तत्त्वों के प्रतीक बनाए गए । अ १०.२ में व्यष्टि-गत पुरुष की एड़ी से चोटी तक के विभिन्न अंगों की चर्चा करते हुए, यह भी पूछा गया है कि पुरुष के भीतर पृथिवी, अंतरिक्ष, द्यौ, पर्जन्य, पर्वत, सिंधु, संवत्सर, उषा, सायंभव, नक्षत्र, यज्ञ, अग्नि, सोम, आपः, आदि किसने रख दिए । अन्यत्र, व्यष्टि-गत पुरुष के भीतर दो त्रिलोकियों की कल्पना की गई । एक त्रिलोकी में मनोमय, प्राणमय, अन्नमय कोशों को क्रमशः द्यौ, अन्तरिक्ष, पृथ्वी कहा गया, तो दूसरी त्रिलोकी में मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोशों को क्रमशः पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ कहा गया । प्रकारान्तर से, प्रथम त्रिलोकी के तीनों लोक पृथ्वी हैं, तो द्वितीय त्रिलोकी के तीनों लोक द्यौ हैं । दोनों त्रिलोकियों के सब लोकों को मिलाकर 'षड् उर्वीः' मानी गईं । उन्हें 'षड् द्यावापृथिवी' भी कहा गया (अ ८.९.१६) ।

पुरुष-स्कम्भ : व्यष्टि-गत पुरुष के समग्र व्यक्तित्व की कल्पना एक स्कम्भ के रूप में की गई है । उसे एक रहस्य के रूप में प्रस्तुत किया जाता है । साथ ही यह भी कहा जाता है कि 'जो पुरुष में स्थित ब्रह्म प्रजापति को, परमेष्ठी (ब्रह्म से युक्त आत्मा) को, ज्येष्ठ ब्राह्मण (ब्रह्म के ज्येष्ठ पुत्र, विज्ञानमय पुरुष) को जानते हैं वे स्कम्भ को जानते हैं ।[2] इससे स्पष्ट है[3] कि यहाँ व्यक्तित्व के अव्यक्त हिरण्यय कोश को, और उसकी प्रथम अभिव्यक्ति (विज्ञानमय कोश) को उस पूरे स्कम्भ का मूलाधार माना गया है जिसमें मन सहित छह ज्ञानेन्द्रियों रूप मयूखों के साथ इच्छा, क्रिया, आदि के अनेक तन्तुओं द्वारा नाना-रूपात्मक अभिव्यक्ति का ताना-बाना बुना जाता है । मूल स्कम्भ के **पर** अर्ध (विज्ञानमय कोश) से 'विश्वं भुवनं' (मनोमय कोश से अन्नमय कोश तक की सारी अनेकता) उद्भूत होता है, पर **अपर** अर्ध (हिरण्यय कोश) रहस्य बना रहता है ।[4]

पुरुष की शक्ति और सृष्टि : अपनी जिस शक्ति के द्वारा पुरुष व्यक्त होता है उसका नाम 'वाक्' है । सह-स्रत्व के कारण वह साहस्री है । वह विविध रूपों में विराजने पर

---

१ सामान्यतः **यक्ष** पुंल्लिग है पर, ब्रह्म के लिए प्रयुक्त होने से, उसे अथर्ववेद में नपुंसकलिंगी बना दिया गया है ।

२ अ १०.७.१७ ३ वही, ४१-४२ ४ वही, १०.८.७

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

विराज् कहाती है, अन्यथा वह पुरुष में विराम (विश्राम) करनेवाली 'विराज्' है जिसको 'पराची' अथ वा 'परा' भी कहते हैं। पुरुष और वाक्, एक दूसरे से अभिन्न होकर, हिरण्यय कोश में, अव्यक्त हैं। विज्ञानमय कोश में दोनों का वह प्रथम 'व्यक्त' रूप उभरता है जो फिर मनोमय कोश से अन्नमय कोश तक नाना रूपों में व्यक्त होता है। इस रूप में, पुरुष, बोल-चाल में 'व्यक्ति' कहाता है।

व्यक्ति त्रिविध है। अन्नमय कोश में, वह मनोमय, प्राणमय, वाङ्मय है। प्राणमय कोश में प्राण, अपान व्यान की त्रिविधता है। मनोमय कोश में वह ऋङ्मय, यजुर्मय, साममय है। विज्ञानमय में ऋक्, यजुः, साम की त्रयी, अव्याकृत होकर, महत् अथवा महदुक्थ कहाती है। सांख्य की प्रकृति-विकृति के समान, यह महत् द्विविध है। हिरण्यय कोश (ब्रह्मपुरी) की ओर उन्मुख होने से यह 'ब्रह्मवेद' है, तो 'अर्वाङ्मुख' होने का अथ (आरम्भ) करने से यह 'अथ-र्वा' है। मनोमय कोश से अन्नमय कोश तक अनेक आंगिरस प्राणों में विभक्त होकर यह 'अथर्वाङ्गिरस' कहाता है।

पुरुष की सारी अनेकता और उसमें समाविष्ट त्रिविधता वस्तुतः हिरण्यय कोश में पुरुष से अभिन्न (परमे-ष्ठिनी) अव्यक्त वाक् की अनेकता और त्रिविधता है। यह वाक् वह वेद है जिसका उद्-भरण हिरण्यय कोश से होता है, और जो विज्ञानमय कोष में 'अव्याकृत' त्रयी होकर, तथा पुनः मनोमयादि कोशों में 'व्याकृत' त्रयी होकर, अन्ततोगत्वा 'अनन्त' हो जाता है। वाक् वा वेद की इस अनेकता से पुरुष भी अनेक हुआ कहा जाता है। इस दृष्टि से, एक होता हुआ भी, प्राण 'बहुपुत्र' और पुरुष 'बहुप्रज' कहाता है और प्राण अथ वा पुरुष को प्रजापति कहा जाता है। विराज् वाक् की यह सृष्टि पुरुष को 'विराट्' बना देती है।

विराज् वाक् के तीन भेद हैं, दैवी, मानुषी, यज्ञिया। अतः सृष्टि भी तीन प्रकार की है।

१) **दैवी** सृष्टि के अन्तर्गत दस दिशाओं में होनेवाली, पुरुष की, दिव्य शक्तियां आती हैं। इस सन्दर्भ में 'दशाङ्गुल' सृष्टि की कल्पना की गई। इन शक्तियों का प्रयोग अच्छी-बुरी (मेध्यामेध्य), सब सृष्टियों में हो सकता है।

२) **मानुषी** सृष्टि में चार तो सामाजिक व्यवहार के वे तत्त्व हैं जिनके आधार पर प्रत्येक पुरुष (व्यक्ति) न्यूनाधिक रूप में ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य, शूद्र होता है। इनको 'अत्ता' (उपभोक्ता) कहा जाता है। इस सृष्टि में छह मेधा-तत्त्व हैं। इनको 'ब्राह्मण'-ग्रन्थों में उक्त उपभोक्ताओं का 'आद्य' (भोजन) कहा गया है। ये मेधा-तत्त्व गौ, अश्व, अज, अवि, व्रीहि-यव, इन पांच प्रतीक-नामों से जाने जाते हैं। इन्हें कभी कभी गो-अश्व, अजावि, व्रीहि-यवौ नामों से तीन संयुक्त तत्त्वों के रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है।

३) **यज्ञिया** सृष्टि 'पुरुष-मेध' कहाती है। स्कम्भ-(मानव)-व्यक्तित्व के 'पर' (विज्ञानमय कोश) तथा 'अवर' (मनोमय कोश से अन्नमय कोश तक), दो स्तर हैं। अहंकार-रूप अहि (वृत्र) के प्रभाव से अवर व्यक्तित्व अमेध्य होता रहता है। इसे मेध्य बनाना 'पुरुष-मेध' है। पुरुष-मेध के लिए, बिखरे हुए पुरुष(अवर)-रूप पशु को बांधना (एकजुट करना) आवश्यक है। वेद में इसका नाम 'जीवयाज' भी है। योगसूत्र में इसे योग (चित्तवृत्ति-निरोध) कहा गया है। 'ब्राह्मण'-ग्रन्थों में, यह उलटे यूप को सीधा करना, अर्थात्, बहिर्मुखी चेतना को अन्तर्मुखी करना है। कर्मकाण्ड में इस प्रक्रिया के प्रतीक यूप-निर्माण, पशु-बन्धन तथा आलभन हैं। जब पुरुष का आलभन हुआ तो उसका मेध भागकर अश्व (भावात्मक पुरुष) में प्रविष्ट हो गया। अश्व का आलभन हुआ तो उसका मेध निकलकर गौ (ज्ञानात्मक पुरुष) में घुस गया। गौ का आलभन हुआ तो उसका मेध अज (पर पुरुष) में प्रविष्ट हो गया। अज का आलभन हुआ तो उसका मेध अवि (पर पुरुष के शम्) में प्रविष्ट हो गया। अवि का आलभन हुआ तो उसका मेध व्रीहि-यवौ (शुद्ध आत्म-ब्रह्म-सायुज्य) में प्रविष्ट हो गया। इस आख्यान का अभिप्राय यह है कि चित्तवृत्तियों के निरन्तर निरोध अभ्यास से, अमेध्य हुए अवर पुरुष का मेधा तत्त्व निरन्तर विकसित होता हुआ, अन्त में, ब्रह्मात्मसायुज्य के साक्षात्कार में परिणत हो जाता है।

व्यष्टि-गत पुरुष के विभिन्न रूप : पुरुष की अभिव्यक्ति के वैविध्य को ध्यान में रखकर, पुरुष के विभिन्न रूपों की

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

कल्पना की गई है। यथा, (१) **पुरुषार्ध-द्वय**, अ) निर्ऋति-गृहीत, अ-निर्ऋतिगृहीत, आ) आग्नेय, वारुण, इ) अंगः, आयु। (२) **एकादशः**, १० प्राण, १ आत्मा। (३) **चतुर्विंशः**, ४ हस्त-पाद, २० अंगुलियां। (४) **पंचविंशः**, अ) ४ हस्त-पाद, २० अंगुलियां, आत्मा, आ) ५ अंगुलियों वाले ४ हस्त-पाद, आत्मा, इ) दाएं, बाएं पार्श्वों की १२+१२ पसलियां, आत्मा। (५) **षाड्क्त**, लोम, त्वक्, अस्थि, मज्जा, मस्तिष्क। (६) **विंशः**, २० अंगुलियां। (७) **वैराजः**, १० प्राण २० अंगुलियां। (८) **षोडशकलः**, लोम, त्वक्, असृक्, मांस, स्नायु, अस्थि, मेद, मज्जा में से प्रत्येक के दो दो अक्षर इस पुरुष की दो दो कलाओं के प्रतीक माने गए हैं। (९) **सप्तदशः**, १० प्राण, ४ हस्त-पाद, ग्रीवा, शिर, आत्मा। (१०) **पंचदशः**, १० हस्तांगुलियां, २ ऊरू, २ बाहु, धड़। (११) **षोडा**, आत्मा, शिर, ४ हस्त-पाद। (१२) **पंचविध**, उष्णत्व, छिद्र (**खानि**), लोहितादि, शरीर, प्राण (जो क्रमशः ज्योति, आकाश, आपः, पृथ्वी, वायु के प्रतिनिधि हैं]। (१३) **शरीर-**, अन्नरसमय, देहाभिमानी आत्मा। (१४) **अशरीर**, प्रज्ञात्मा। (१५) **छान्दस**, प्राणमय। (१६) **वेद**, मनोमय [जिसमें व्याकृत वेदत्रय—ऋक्, यजुः, साम—का प्रादुर्भाव होता है]। (१७) **सं-वत्स-र**, विज्ञानमय का सं-वत्स (मनोमय वत्स से युक्तता) रूप। (१८) **अति/अतिरिक्त/असंग**, उपर्युक्त सब रूपों से परेवाला रूप जिसकी बोधक दो व्युत्पत्तियां गढ़ी गईं, अ) **पूः+उष्** (दाहे) : शरीरादि से अपने सब सम्बन्धों को दग्ध कर चुका हुआ आत्मा; आ) **पूर्व+उष्** : नाम-रूप की संपूर्ण अनेकता से पूर्व ही सब पापों को दग्ध कर चुका हुआ आत्मा। (१९) **अ-पुरुष**, आत्मा अथ वा परमात्मा का सब उपाधियों से सर्वथा रहित, तुरीयातीत रूप (तुलनीय, १०.१५५.३)। (२०) **संपन्नतमः**, मानव-व्यक्तित्व का वह रूप जो प्रज्ञान से इतना सम्पन्न हो कि 'विज्ञान' का द्रष्टा और वक्ता होने के साथ साथ, 'भावी' एवं 'लोकालोक' का वेत्ता होता हुआ अपने मरणधर्मा शरीर को अमृत-प्राप्ति का साधन (ऐआ २.३.२) भी बना ले।

सार : 'पुरुष' शब्द व्यष्टि-गत और समष्टि-गत चैतन्य के व्यक्त और अव्यक्त, स्थूल और सूक्ष्म, सब प्रकार के रूपों के लिए ही नहीं अपि तु उस अरूप के लिए भी प्रयुक्त होता है जो, वेदान्त के निरुपाधिक चैतन्य के समान, सर्वातीत है।

मानव के व्यक्तित्व की खोज

फतहसिंह, एम ए, डी लिट्

आचार्य : ज़हूरबख्श जी! डॉ श्रद्धा का लेख पढ़ने के बाद, वेद के विषय में आपकी क्या राय बनती है?

ज़हूर : आचार्य जी! मुझे तो ऐसा लगता है कि वेदों का केन्द्र-बिन्दु मनुष्य ही है। डॉ श्रद्धा ने जिसको पुरुष कहा उसी की खोज तो, मानो, वेद है।

जॉन : ज़हूर भाई! मुझे तो मनुष्य के बजाय पुरुष कहना अधिक अच्छा लगता है।

ज़हूर : हाँ, जॉन भाई! आपने अच्छी याद दिलाई। 'पुरुष' शब्द तो ग़ज़ब का है। डॉ श्रद्धा ने कितना लिखा है पुरुष के बारे में·····।

आचार्य : अरे, डॉ श्रद्धा ने तो बहुत ही संक्षेप में लिखा है। वेद में जो अनेक मनुष्य-नाम आए हैं उन सबकी व्याख्या की जाए तो पता चले कि पुरुष, अर्थात्, मानव-व्यक्तित्व के विषय में वेद ने कितना कुछ ज्ञान दिया है।

जॉन : क्या आज के वैज्ञानिकों से भी इस विषय में वेद आगे गया है?

आचार्य : निश्चित रूप से। आज के भौतिक और सामाजिक विज्ञानों ने मानव के विषय में, निस्संदेह, बहुत कुछ जाना है पर फिर भी वह अपने समग्र रूप में आधुनिक विज्ञान की पकड़ में नहीं आ सका। इसका प्रमाण है

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

पश्चिम में उठती हुई होलिज्म वा पूर्णमानव-वाद की आवाज। वेद ने पहले ही मानव-व्यक्तित्व को इसी दृष्टि से देख रखा है।

जहूर : कृपया इसके बारे में हमें अवश्य बतलाएं।

जॉन : हां, आचार्य जी ! इस ज्ञान से तो हमारे **सेकुलरिज्म** को बहुत कुछ मिलेगा।

आचार्य : जानते हो, अथर्ववेद पुरुष को क्या कहता है ? पांक्तं छन्दः, अर्थात्, पंक्ति वा पंक्तियों से बना हुआ छन्द।

जॉन : छन्द क्या यही दोहा, सवैया जैसा 'मीटर्' !

आचार्य : जिस तरह कवित्त, सवैया, आदि छंद अक्षरों की पंक्तियों से बनते हैं उस तरह पुरुष (मानव-व्यक्तित्व) भी किन्हीं अक्षरों की पंक्तियों से बना हुआ होने से 'पांक्त छन्द' कहा गया।

जहूर : वे कौन सी पंक्तियां हैं ?

आचार्य : देखो। एक तो प्रत्यक्ष पंक्ति है, लोम, त्वचा, मांस, अस्थि और मज्जा की पंक्ति। पाँचों प्रकार के अक्षर एक दूसरे से कैसे सटे हुए हैं ! दूसरी परोक्ष पंक्ति है, अग्नि की पञ्च चितियों की पंक्ति। इन दोनों के और भी अनेक अवान्तर भेद हैं। इन दो के भेद से मानव-व्यक्तित्व दो प्रकार का हो जाता है। परोक्ष पंक्ति के संदर्भ से वह 'सविता' है क्यों कि सब प्रकार की शक्तियों वा तेजों का सवन वा प्रसवन वहीं से होता है। प्रत्यक्ष पंक्ति की दृष्टि से वह 'पूषा', अर्थात्, पोषण करनेवाला है।

जॉन : इनको हम आन्तरिक और बाह्य पुरुष कह सकते हैं।

आचार्य : बाह्य पुरुष नहीं बल्कि उसका पोषक। उसी का रूप एक और भी है। मनुष्य अपनी ज्ञानेंद्रियों और कर्मेन्द्रियों के माध्यम से अपनी चेतना को बाह्य जगत् से जोड़ता है। इस जगत् में नदी, पहाड़, वृक्ष, नक्षत्र, ग्रहादि जड़ प्रकृति से लेकर परिवार, आवसथ (आसपास का समाज), राष्ट्र, आदि भी आते हैं। इस दृष्टि से मनुष्य-चेतना का नाम बृहती है और मानव-व्यक्तित्व 'बृहस्पति', अर्थात्, बृहती का पति कहलाता है।

जहूर : यह तो ग़ज़ब की कल्पना है।

आचार्य : इसके भी मोटे मोटे दो स्तर हैं—एक 'वाचस पति' और दूसरा 'ब्रह्मणस पति'। फिर, व्यक्ति में सामाजिक उत्तरदायित्व पैदा करने की दृष्टि से भी मानव-व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों की कल्पना की गई है।

जॉन : कमाल है। इन पक्षों के विषय में तो अवश्य बताइए, आचार्य जी। यह तो 'माडर्न' है, बिलकुल आधुनिक।

आचार्य : इस दृष्टि से मानव-व्यक्तित्व का एक नाम 'अर्यमा' है। 'अर्यमा' का मतलब है अर्य का निर्माण करनेवाला। आप पूछेंगे, 'अर्य' कौन ? तो अर्य वह है जो अर बनने के योग्य हो। अर नाम है पहिए के उन डंडों का जो पहिए की परिधि में अलग अलग स्थानों से आकर बीच में केन्द्र पर परस्पर जुड़ जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि पहिए पर पड़नेवाले भार को सब अर एकजुट होकर उठा लेते हैं। पहिए के अरों के समान एकजुट होकर सामूहिक उत्तरदायित्व वहन करने की मनोवृत्ति का नाम वेद में 'अर-मति' है। यह शब्द पारसियों की **अवेस्ता** में भी आता है। जिस व्यक्ति में अर-मति है वह पहिये में अर बनने के योग्य है, अर्य है। आत्मन्वी ब्रह्म का जो पक्ष व्यक्ति को अर्य बनानेवाला है वह वेद में अर्यमा देव कहलाता है।

जहूर : वाह ! वाह ! यह तो अद्भुत सूझ है।

जॉन : यह तो समाजविज्ञान है। क्या इस प्रकार की कोई और भी कल्पना है।

आचार्य : क्यों नहीं। मानव-व्यक्तित्व में सामाजिक व्यवहार को उन्नत बनाने के लिए दो तत्त्व प्रमुख हैं। एक मैत्री-भावना, अर्थात्, हम सबको मित्र-दृष्टि से देखें और दूसरे हमको मित्र समझें। इस संदर्भ से मानव-व्यक्तित्व 'मित्र' देव कहलाता है। दूसरा है विवेक, सत्य और अनृत का विवेचन करके जो उचित हो उसको वरण करनेवाला, सत्य का चयन करनेवाला। वरण की दृष्टि से मानव-व्यक्तित्व 'वरुण' देव कहलाता है। वरुण के बिना, मित्र को माह-ग्रस्त होने का डर होता है। अतः वेद 'मित्रावरुणौ' नामक एक संयुक्त तत्त्व की कल्पना करता है। सारी नैतिकता का यही प्रबल स्तंभ है।

जॉन : यह तो कमाल है !

जहूर : यह तो अल्ट्रा मॉडर्न है। इसी तरह की कुछ और कल्पनाएं भी होंगी ?

आचार्य : एक है 'इन्द्रो बृहस्पतिः'।

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

जॉन : बृहस्पति तो आपने बतलाया। क्या इन्द्र विशेषण लगने से कोई विशेष बात आ गई ?

आचार्य : बृहस्पति के कारण, इन्द्र में विशेषता आती है। सामान्यतः इन्द्र पुरुष (मानव-व्यक्तित्व) के उस पक्ष का नाम है जो हमारी इन्द्रियों के माध्यम से काम करता है। लेकिन यह सन्मार्गगामी तब होता है जब यह मित्र, वरुण, अर्यमा, आदि का सहयोगी होता है। अथ वा यों कहें कि जब वह बृहस्पति बनता है। बृहस्पति को हाथी का पैर समझो। इसमें अन्य सबके पैर आ जाते हैं। इसलिए 'इन्द्रो बृहस्पतिः' कहकर इन्द्र के पथभ्रष्ट होने की संभावना को दूर किया गया।

जहूर : हां, इंद्रियों का दास हो जाने पर तो इंद्र के पतन का ख़तरा है।

जॉन : इस ख़तरे से बचकर इंद्र ठीक काम करे, इसके लिए भी सोचा गया ?

आचार्य : देखो। मानव-व्यक्तित्व का एक पक्ष है 'विष्णुः उरुक्रमः।' 'विष्णु' का अर्थ है व्यापक, और 'उरुक्रम' का मतलब है लंबे लंबे डग भरनेवाला। अपने शरीर को ही सब कुछ समझने वाला इंद्र-पुरुष वामन (बौना) है, द्वैपायन (insular), संकीर्ण घरौंदे में रहनेवाला जीव। पर जब वह मित्र, वरुण, अर्यमा, बृहस्पति का सहयोग प्राप्त करता है तो उसका हृदय 'वसुधैव कुटुंबकम्' भावना से विशाल हो जाता है और वह लंबे डग भरता हुआ व्यक्तिगत जीवन से ऊपर के पारिवारिक, सामाजिक जीवन से जुड़ता है, और बौना से 'विष्णुः उरुक्रमः' बन जाता है। वेद कहता है, विष्णु ही यज्ञ है।

जहूर : ऐं, यह क्या ? आप तो मानव-व्यक्तित्व की बात करते करते यज्ञ होम पर आ गए।

जॉन : हाँ, आचार्य जी ! विष्णु को यज्ञ कहना तो अजीब बात है।

आचार्य : बौने द्वारा लंबे लंबे डग भरने का नाम ही 'यज्ञ' है। वैदिक चिन्तन में 'श्रेष्ठतम कर्म' को यज्ञ कहा जाता है। बौना से विष्णु बनना ही श्रेष्ठतम कर्म है, यज्ञ है। यज्ञ वह आचरण है जिसका मूलमंत्र है **इदं न मम,** अर्थात्, तन, मन, धन, जन, आदि। जिन्हें मैं अपना कहता आया हूं वह सब मेरा नहीं है, जगत् का है, जगत्पति का है; अतः उसी को समर्पित है। यह त्याग वा 'क़ुरबानी' ही यज्ञ है।

जहूर : आचार्य जी ! तो क्या इस्लाम में 'ज़कात' और 'क़ुरबानी' का आधार भी यही यज्ञ-भावना रही होगी ?

आचार्य : बिलकुल सही सोचा आपने। एक ज़माना था जब हमारे पूर्वज यज्ञ और क़ुरबानी को इसी सात्त्विक अर्थ में समझते थे। अंगरेजी का जो शब्द, **सैक्रीफ़ाइस,** इसके लिए प्रयुक्त होता है उसका भी अर्थ है पवित्र (सैक्रेड) कर्म।

जॉन : लेकिन पशुबलि इस प्रसंग में कहाँ से आ गई ? यज्ञों में कभी पशुबलि होती थी। ईद पर पशुओं की ही क़ुरबानी होती है। बाईबिल में भी पता चलता है कि ईश्वर के लिए बैल, आदि का बलिदान हुआ। अब्राहम ने तो अपने लड़के की बलि दी थी।

आचार्य : मैं फिर उसी इन्द्र के पतन-वाला ख़तरा आपके सामने लाता हूँ। उस ख़तरे से बचने के लिए इंद्र को किस प्रकार विभिन्न सद्वृत्तियों का सहारा लेना पड़ता था उसका एक चित्र आपको उन अनेक जोड़ों को देखने से मिल जाएगा जिनमें से प्रत्येक में इन्द्र मौजूद है। ये हैं, इन्द्रा-वरुणौ, इन्द्रा-पूषणा, इन्द्रा-बृहस्पती, इन्द्रा-ब्रह्मणस्पती, इन्द्रामरुतः, इन्द्रा-विष्णू, इन्द्रा-सोमौ, इन्द्रा-पर्वतौ, इन्द्राग्नी, इन्द्रा-वायू तथा इन्द्रामित्रौ।

जहूर : इंद्र के इन जोड़ीदारों में से औरों का तो आपने पहले ही ज़िक्र कर दिया है। पर कुछ नए हैं। क्या कृपा करके उनके विषय में कुछ कहेंगे ?

आचार्य : समय रहा, तो अवश्य कहूंगा। अभी तो यह सुनिए कि पशु-बलि कैसे होने लगी।

जॉन : हां, आचार्य जी ! यह तो अवश्य बताइए।

आचार्य : देखो, भाई ! अगर आप किसी का सहयोग चाहते हैं तो आपको कुछ न कुछ बलि देनी पड़ेगी, आपके पास जो है उसे जोड़ीदार के उपयोग के लिए देना पड़ेगा, विशेषकर तब जब आप उससे अपने हितसंपादन की आशा रखते हैं। इन्द्र को भी वरुण, विष्णु, आदि के लिए कुछ ऐसा ही मूल्य चुकाना पड़ता है। उदाहरण के लिए, सोम का मूल्य गौ है।

जहूर : गौ, अर्थात्, गाय।

आचार्य : हां, गाय को वैदिक परंपरा में सोमक्रयणी' कहा जाता है, अर्थात्, गाय देकर सोम ख़रीदा हुआ माना

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

जाता था। लेकिन यह एक प्रकार का रूपक है। दूसरे शब्दों में, मित्र, वरुण, अग्नि, आदि का सहयोग किसी न किसी अन्य पशु की बलि देकर प्राप्त करना होता था।

जान : तो इसका अर्थ है कि पशु-बलि होती थी ?

आचार्य : हां, प्रतीकात्मक बलि। 'पशु' शब्द उसी 'पश्' धातु से निष्पन्न शब्द है जिससे 'पश्यक' बना है। 'पशु' का धात्वर्थ है देखनेवाला। अतः 'पशु' **दृष्टि** का प्रतीक है। 'पशु' का मतलब है एक नज़रिया, एक दृष्टि-कोण। जब पुरुष श्रेष्ठतम आचरण के रूप में यज्ञ करने चलता है, और इस कार्य में उसे विष्णु, वरुण, मित्र, अर्यमा की भूमिका से लाभान्वित होना वांछनीय लगता है तो उसे प्रत्येक बार अपने किसी न किसी पशु (दृष्टि-कोण) की बलि देनी पड़ती है, और किसी अन्य का पोषण करना पड़ता है। पोषण करने की भूमिका से पुरुष (मानव-व्यक्तित्व) 'पूषा' है जिसको 'अ-नष्टपशु' कहा जाता है क्यों कि पोषण ही उसकी विशेषता है जिससे उसके पशुओं के नष्ट होने का प्रश्न ही नहीं।

जॉन, जूहर : पशु-बलि देने का मतलब किसी दृष्टिकोण की क़ुरबानी ?

आचार्य : हां, यही बात। आत्मा वा पुरुष ही यजमान है, और उसका इष्ट कर्म ही इष्टि वा यज्ञ है। इष्ट कर्म के लिए, उसे सिर्फ़ इंद्र होना पर्याप्त नहीं। उसे ब्रह्म का वीर्य चाहिए। उसी का नाम सोम है।

जॉन : क्या सोम कोई मादक पेय नहीं ?

आचार्य : है। पर वेद कहता है कि वह हमारा अन्तः-पेय है। उसे हम अपने इन स्थूल होठों से नहीं पी सकते हैं। वह दिव्य आनन्दानुभूति है जो मानव-व्यक्तित्व की उस अन्तस्तम गहराई में मिलती है जिसका नाम 'आ-नन्दमय कोश' है। उसके लिए सुनहरी गाय की बलि दी जाती है। वही सोम ईश्वर का वह सबसे बड़ा अनुग्रह है जिसके लिए मूसा ने सुनहरी गाय और बछड़े की क़ुर-बानी की थी।

जॉन : अच्छा, तो **बाईबिल** की सुनहरी गाय, वास्तव में, है. क्या ?

जूहर : इस सुनहरी गाय और बछड़े का ज़िक्र तो **क़ुरआन** में भी है।

आचार्य : हां। उसके नाम से तो **क़ुरआन** शरीफ़ का एक पूरा अध्याय है। पर वेद, क़ुरआन और बाईबिल की की यह गाय हाड़-मांस की गाय हर्गिज नहीं है।

जॉन, जूहर : तो क्या है ?

आचार्य : अभी बतलाता हूँ। अभी मैंने आनन्दमय कोश का नाम लिया। यह हमारे व्यक्तित्व की सर्वाधिक गहरी तह है। सबसे ऊपरी तह हाड़-मांस की है। इसको अन्नमय कोश कहते हैं। अन्नमय कोश का अन्तरात्मा प्राणमय कोश, प्राणमय का मनोमय, मनोमय का विज्ञा-नमय तथा विज्ञानमय का अन्तरात्मा आनन्दमय है। आनन्दमय को 'हिरण्मय' कहते हैं और विज्ञानमय को 'हिरण्य'। लौकिक भाषा में हिरण्य सोने का नाम है। अतः आनन्दमय के सोम को हिरण्मय, अर्थात्, सबसे ऊंचे दर्ज़ का खरा सोना कहा गया। इसको पाने के लिए विज्ञानमय के हिरण्य की भी बलि देनी पड़ती है। यही हिरण्य वा सोना वह गाय है। मनोमय के सुख को भी त्यागना पड़ता है। यही सुनहरी गाय का बछड़ा है।

जॉन, जूहर : वाह, वाह, आचार्य जी ! आपने तो बड़े मार्के की बात कही।

आचार्य : ऐसे ही सब पशु हैं और वे, पुरुष की तरह, सब पाँक्त छन्द हैं।

जॉन, जूहर : यह कैसे ?

आचार्य : यह तो स्पष्ट है। सभी दृष्टिकोण पंक्तियां है। कोई मैत्री की पंक्ति है, कोई विवेक की और कोई अर्थ बनने की। हमारी जितनी मनोवृत्तियां हैं वे आरंभ में भोले-भाले ग्राम्य पशु होती हैं। दुनिया के विषय-भोगों का लहलहाता अरण्य (जंगल) देखकर जब वे ललचाते हैं और बार-बार वहां आते जाते पगदण्डी बना देते हैं तो वही पंक्ति बन जाती है। ग्राम्य पशु आरण्य पशु बन जाते हैं। लेकिन जंगल के ख़तरों से बचना है तो इन्हें, यम-नियम-संयम की पंक्ति को पगदंडी बनाकर, वायव्य पशु बनना पड़ता है। ग्राम्य से वायव्य बनाने की प्रक्रिया में क़ुरबानी, त्याग, संयम, आदि की पंक्ति चाहिए। इसी को 'पांक्त यज्ञ' कहते हैं।

जॉन, जूहर : फिर वही पंक्ति और पांक्त।

आचार्य : हाँ, भाई। मनुष्य की सब उपलब्धियाँ पांक्त हैं —एक निरंतर अभ्यास, लगातार प्रयास, एक अटूट परं-

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

परा, शृंखला वा पगदंडी की प्रतिमूर्ति। हाँ, जो वस्तुएं वह साथ लेकर आता है— सहज वृत्तियाँ, सहज बुद्धियाँ, आदि—वे पशु नहीं 'प्रजाएं' कहलाती हैं।

जॉन : आचार्य जी ! मैंने कुछ मंत्रों के अनुवादों को देखा है। उनमें प्रजा और पशु की माँग होती है। तो क्या यह सांसारिक बेटा-बेटी वा भेड़-बकरी की माँग नहीं है ?

आचार्य : कदापि नहीं। पशु के विषय में तो मैं बतला चुका। 'प्रजा' का अर्थ है श्रेष्ठ 'जा', यानी, उपज। मैं पहले कह चुका हूँ कि इष्ट कर्म, इष्टि वा यज्ञ के लिए ब्रह्म-वीर्य की आवश्यकता होती है।

जहूर : हाँ ब्रह्म-वीर्य, अर्थात्, सोम।

आचार्य : बिल्कुल ठीक। पर मैं रूपक की ओर आपका ध्यान ले जाना चाहता हूं। जैसे मनुष्य के वीर्य से उत्पन्न संतान को प्रजा कहते हैं वैसे मानव-व्यक्तित्व में ब्रह्म-वीर्य से जो भी पैदा होता है वह **प्र-जा** वा श्रेष्ठ संतान है। ब्रह्म-वीर्य वा सोम एक अनुभूति ही नहीं अपि तु एक बल अथ वा शक्ति भी है। इस बल के निरंतर एवं निर्बाध प्रवाह से हमारे प्राण शुद्ध और सबल रहते हैं और हमारी अहंबुद्धि और मन सहित ज्ञानेंद्रियादि के सप्तकों में वे शुद्ध प्राण बहते हैं जिन्हें वेद में 'सप्त आपः' कहते हैं। इन्हीं को ईरानी और अरबी परंपरा में **आबे रूह**, अर्थात्, आत्मा का पानी कहा गया, जब कि सोम अथ वा अवेस्ता का होम अमृत अथ वा **आबे हयात** है, यूनानी **एम्ब्रोशिया** है।

जॉन : लगता है कि पहले एक ही मानव-संस्कृति थी।

आचार्य : हाँ, भाई ! हिन्दु, मुस्लिम, ईसाई, आदि का भेद-भाव इतिहास की देन है। पूर्व-पश्चिम की संस्कृतियों में ऐसी बहुत सी बातें हैं जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि वे सब एक ही बीज से फूटी हुई कोंपलें हैं।

जहूर : इस्लाम तो सबसे अधिक मॉडर्न है। क्या उससे और वैदिक संस्कृति से कोई संबन्ध जुड़ता है ?

आचार्य : मैं इस समय आपसे एक ही बात कहूँगा और वह बड़ी अहम है। आपने 'जिब्रील फ़रिश्ते' का नाम सुना है।

जॉन : वह एक फ़रिश्ता वा ऐंजिल है।

जहूर : उसी की मार्फ़त तो अल्लाह ताला के पास से क़ुरआन शरीफ़ भी नाज़िल हुई।

आचार्य : वेद में उसको **जिब्री** कहते हैं।

जॉन, जहूर : क्या वहां भी वह क़ुरआन की आयतें लाता है?

आचार्य : नहीं, उसकी मार्फ़त 'वेदस्' की प्राप्ति होती है। जिसको हिरण्यय कोश में **वेद** कहते हैं वही अवतरण प्रक्रिया के दौरान **वेदस्** कहलाता है। जो वहां **देवाः** कहलाते हैं वे इधर **देवासः** वा **देवताः** कहे जाते हैं।

जॉन : तो क्या देव और देवता; देवाः वा देवासः अलग अलग हैं ?

आचार्य : स्थान-भेद से उनका स्वरूप-भेद और नाम-भेद हो जाता है। वस्तुतः ये सब पूर्वोक्त ब्रह्म-वीर्य की 'प्रजा' वा विशः हैं जिन्हें भारत में **प्राण** अथ वा **देव**, आदि कहा जाता है। ये ही ईरान में **यज़त**, अरब में **फ़रिश्ते** और पश्चिम में **ऐंजिल** कहलाते हैं।

जहूर : तो क्या कोई हवाई जीव वा प्राणी नहीं हैं।

आचार्य : अभी मैंने आपसे वायव्य पशुओं का ज़िक्र किया। वे, निस्संदेह, आसमानी चिड़ियाएं नहीं हैं। इसी प्रकार, ये देव, फ़रिश्ते, आदि भी हमारे भीतर की शक्तियां हैं।

जॉन : तो परी, अप्सराएं वा फ़ेयरी नामक औरतें जो कहानियों में आती हैं वे भी कोई ऐसी ही शक्तियां हैं ?

आचार्य : ठीक कहते हो। मैं पीछे बता चुका हूँ कि सोम को एक स्थान पर 'वैष्णव राजा' कहा गया। इसकी पत्नियां सुंदर अप्सराएं हैं; वे पांच चोटियां करती हैं।

जहूर : वर्णन तो औरतों का ही है !

आचार्य : लेकिन सब कुछ कहने के बाद कह दिया कि वे 'नाथबिन्दु' हैं जिनके द्वारा नाथ को प्राप्त किया जा सकता है।

जॉन : यह क्या ?

आचार्य , नाथ-बिन्दु, अर्थात्, ब्रह्म-वीर्य के बिन्दु, सोम के इन्दु। ये सोम के इन्दु जब इन्द्र को मिलते हैं तो वह अपना जौहर दिखाता है। इसी लिए ऋग्वेद की प्रार्थना है, **इन्द्रायेन्दो ! परि स्रव**, 'हे इन्दु ! तुम इन्द्र के निमित्त परि-स्रवण करो।' सच बात तो यह है कि रोम-यूनान, मध्य-पूर्व, भारत, सुदूर-पूर्व और अमेरिका,

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

आदि के आदिवासियों में भी जो ऐसे देवी-देवता, आदि मिलते हैं वे सब मानव-व्यक्तित्व की विभूतियां हैं। अज्ञानवश आज हम उन्हें कुछ और ही समझ रहे हैं।

जॉन : आचार्य जी ! मुझे रोमन कैथोलिक परंपरा के **अग्रुस दे** की याद आ गई। क्या यह भी वेद के अग्नि देव तो नहीं हैं। लेकिन उसमें एक तो घड़ा होता है, एक भाला और एक मेमना। इसी का नाम है अग्रुस दे।

आचार्य : मेमना को वेद में **मेष** कहते हैं। मेष (म+इष) का धात्वर्थ है प्रकाश (म) की इच्छा (इष्)। जिसको आप भाला सा कहते हैं उसको वेद में **इषु** कहते हैं जो इष्+उ से बना है। इसका अर्थ है ऊपर वा ऊंचे जाने की इच्छा। घड़ा वा घट मानवदेह का प्रतीक है। कुल का अभिप्राय है कि मानवदेह में जो ज्ञानरूप प्रकाश की इच्छा वा जिज्ञासा है उसे ऊर्ध्वगामी इच्छा बनाओ। यही अग्रुस दे वा अग्नि देव की उपासना है। **अग्निः ईडे** कहकर इसी अग्नि के ईडन (ideation) से ऋग्वेद आरंभ होता है।

जॉन : हमारे यहां घड़े को क्राइस्ट से जोड़ते हैं।

आचार्य : 'क्राइस्ट' शब्द मूलतः वेद का **कृष्टि** है। मैं यह नहीं कहता कि क्राइस्ट नाम का कोई ऐतिहासिक महापुरुष नहीं हुआ। पर जैसे क्राइस्ट और क्रॉस का सम्बन्ध है वैसे वेद में **कृष्टि** और **कृष** का है। वेद में भी कृष्टि-हा (कृष्टि को मारनेवाले) का उल्लेख है। पर वहां यह सब एक रूपक के अंतर्गत है जिसके विषय में 'मानवता को वेदों की देन'[1] में कुछ विस्तार से कहा गया है।

जहूर : क्या ऐसी ही बात 'मुहम्मद' और 'अहमद' शब्दों के विषय में कही जा सकती है।

आचार्य : देखो। जिस व्यक्ति को विज्ञानमय का हिरण्य मिल गया वह मनोमय से अन्नमय तक **अहस्-मत्** है। पर जिसने विज्ञानमय के हिरण्य के लोभ में न पड़कर हिरण्मय कोश की ज्योति वा सोम का साक्षात्कार करना ही ध्येय बनाया वह **महस्-मत्** है। मेरे विचार में, ये दोनों अरबी परंपरा में क्रमशः **अहमद** और **मोहम्मद** हुए। जैसे वेद के राम और कृष्ण ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम हुए वैसे यदि इन दोनों नामों का भी प्रयोग हुआ है तो कोई अनहोनी बात नहीं।

जहूर : लेकिन अरबी और संस्कृत तो दो भिन्न परिवारों की भाषाएं है; इनमें यह साम्य कैसे हो सकता है ?

आचार्य : हुआ करें। मानव के घट घट की आंतरिक भाषा एक है। इसी लिए, वेद ने जिसे **शवस्** कहा, इस्लामी, ईसाई और यहूदी परंपरा में और उससे भी पूर्व रोमन-यूनानी परंपरा में उसे **सोफ़ोस** कहा गया है जिससे योरोप के सोफ़िस्ट, सोफ़िया', आदि और मध्य-पूर्व के 'सूफ़ी, तवस्सुफ़,' आदि शब्द बने हैं। भाषा-भेद होते हुए भी वेदान्त और सूफ़ीमत के पारस्परिक संबन्ध को कौन रोक पाया ? इसके अतिरिक्त, सेमेटिक और संस्कृत के निम्नलिखित शब्दों की तुलना कीजिए,

संस्कृत	सेमेटिक
अश्वेत	असवदो
अम्बु	अब्बा
अम्बा	अम्मा
वनिता	वनितु
अल-अहम्	अल्लाह, इलोहीम, इलहाम, इलाही
सोम	सोम
रस	रोजा
नमः	नमाज़
अन	अन
कोढ़ा	ख़ुदा, गॉड

जॉन : आचार्य जी ! यदि इस प्रकार मानव की सार्वभौम एकता के प्रतिपादन में वेद का उपयोग हो सकता है तो संयुक्तराष्ट्र संघ को बड़ा बल मिलेगा।

आचार्य : वेद ही नहीं, दुनिया के सभी धर्म-ग्रंथों का ऐसा उपयोग हो सकता है। सबमें मानवात्मा का एक ही स्वर मुखरित हुआ है। यह बात तब सामने आएगी जब वेद के साथ सब धर्म-ग्रंथों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए। वेद के साथ इसलिए, क्यों कि वैदिक साहित्य में मानवजाति की प्राचीनतम परंपरा सर्वाधिक सुरक्षित है।

जहूर : लेकिन क्या और लोग इसमें तौहीन नहीं समझेंगे ?

आचार्य : इसमें तौहीन की क्या बात है ? सब धर्म-ग्रंथ

---

१ पृ ७४-७८

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

मानवमात्र की निधि हैं और यह भी सब मानते हैं कि वेद प्राचीनतम ग्रंथ है। यदि उसके साथ तुलना करने से बाईबिल, क़ुरआन और पुराणों की बातें पहले की अपेक्षा अधिक तर्कसंगत एवं उपयोगी सिद्ध होती हैं तो इसका स्वागत कौन बुद्धिमान् नहीं करेगा।

जॉन : वैज्ञानिक ढंग से तुलनात्मक अध्ययन किया जाएगा तो उसके निष्कर्ष मानने ही पड़ेंगे।

आचार्य : देखो, भाई ! इस वैज्ञानिक अध्ययन ने बाईबिल, वेद और क़ुरआन के प्रति अश्रद्धा पैदा कर दी। मक्खी मारकर रखना अगर 'वैज्ञानिक' है तो उससे कोई लाभ होनेवाला नहीं।

जॉन : मैं आपकी बात समझा नहीं।

आचार्य : मैं एक उदाहरण देकर समझाऊंगा। अभी कुछ देर पहले मैंने वेद के कुछ ऐसे शब्द बतलाए थे जिनमें 'इन्द्र' शब्द एक अन्य शब्द के साथ जोड़ीदार बना हुआ है।

ज़हूर : हाँ, आचार्य जी ! उनके विषय में तो ज़रूर बताइए।

आचार्य : उनमें एक है **इन्द्रा-पर्वतौ**। इसमें इन्द्र का जोड़ीदार 'पर्वत' है। 'पर्वत' पहाड़ को कहते हैं। वैज्ञानिक पद्धतिवाले यदि इसका अर्थ करेंगे, 'इन्द्र और पहाड़ की जोड़ी' तो इससे हमारे पल्ले क्या पड़ेगा ?

जॉन : आचार्य जी ! तो 'इन्द्रा-पर्वतौ' का अभिप्राय क्या है ?

आचार्य : संस्कृत में 'पर्वत' का मूलार्थ है ऐसी वस्तु जिसमें पर्व (स्तर, **लेयर्स**) हों। पर्ववान्, अर्थात्, पर्ववाला पदार्थ पर्वत है। हमारे शरीर में नीचे से ऊपर पर्व ही पर्व हैं जैसे पहाड़ में होते हैं। हर उंगली में तीन पर्व हैं। रीढ़ कितने ही पर्वों को जोड़कर बनी है। कान, नाक, सिर, हाथ, पांव, आदि शरीर-रूप पर्वत के पर्व ही तो हैं।

ज़हूर : अच्छा ! तो शरीर पर्वत है और इसी के पर्व हैं हमारे अंग जिनमें इन्द्र नामक शक्ति प्रकट होकर काम करती है। इसलिए इन्द्र और पर्वत की जोड़ी अपने आप बन गई।

आचार्य : यह तो हुई स्थूल पर्वत की बात। अंग अंग, अर्थात्, पर्व पर्व में जो चेतना काम करती है उनमें से प्रत्येक एक **पर्वत** है और यह पर्वत इन अंगों में आता कहाँ से है। कहीं से आता तो ज़रूर है। हमारे भीतर कहीं आकाश में ये शक्ति-पर्वत कभी उड़ान भरा करते थे। इंद्र ने इन पर्वतों के पंख काट दिए। तभी तो ये स्थूलशरीर-रूप पृथिवी में पड़े हुए हैं। कहने का अर्थ यह है कि हमारे अंग अंग में जो शक्ति का पर्वत है वह वस्तुतः इस पृथिवी की वस्तु नहीं अपि तु हमारे भीतर के द्यौ की चीज़ है।

जॉन : लेकिन आचार्य जी ! कोई शक्ति-पुञ्ज पर्वत कैसे कहला सकता है ?

आचार्य : जिसे तुम पुञ्ज कहते हो उसमें कई परत वा पर्व होते हैं। मस्तिष्क में विचारों के पर्वों से बना पर्वत है। हृदय में अरमानों का पर्वत है। हम जिसको अपना आचरण कहते हैं वह भिन्न भिन्न क्रियाओं का पर्वत है। ज़रा ग़ौर से सोचो तो पता चलेगा कि ये पर्वत आज जहां हैं वहाँ कहीं से आए हैं। उदाहरण के लिए, हमारे आचरण-रूप महापर्वत के अंगभूत कर्म हमारी हवाई इच्छाओं और विचारों के मूर्त रूप हैं। हमारे इंद्र ने इनके पंखों को काटकर इनका उड़ना बन्द कर दिया है।

ज़हूर : समझाने के लिए ऐसी कल्पना की गई !

जॉन : अच्छा ढंग है इस तरह प्रतीकों द्वारा समझाने का।

आचार्य : पर्वतों के पंख काटने की बात को समझाने के लिए, मैं इन्द्र के एक दूसरे जोड़ीदार को लेता हूँ। वह है **मरुतः**। इनके साथ जुड़कर इन्द्र 'इंद्रामरुतः' कहलाता है। मरुतः एक नहीं, उनके सात गण हैं। एक एक गण, मानो, अनेक पर्वों से बना पर्वत है।

जॉन : 'मरुतः' हैं क्या ?

आचार्य : मरुतों को रश्मियाँ कहा जाता है। वैसे 'मरुतः' का धात्वर्थ है प्रकाश (म) की आवाज़ (रुतः)।

ज़हूर : प्रकाश की आवाज़ तो रश्मियाँ कहलाएंगी ही।

आचार्य : एक दूसरा जोड़ा लीजिए, 'इन्द्रा-विष्णू'। मैं कह चुका हूँ, शरीर में छिपा द्वैपायन बौना लंबी डग भर के विष्णु बनता है, विष्णु यज्ञ बनता है। मानव के श्रेष्ठतम आचरण का अंबार खड़ा हो जाता है जिसके कण कण में मानव का द्वैपायन इंद्र घुसा हुआ है। यह विष्णु पहले था क्या ? वही ब्रह्म-वीर्य सोम। इसी लिए तो वैदिक ग्रंथ कभी कभी विष्णु को सोम ही कह देते हैं।

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

जॉन : तो इसी लिए इन्द्रा-सोमौ की जोड़ी भी बनी ?

आचार्य : बिलकुल ठीक। इसी तरह एक 'इन्द्राग्नी' की जोड़ी है। इन्द्र तो वह शक्ति है जो इंद्रियों के माध्यम से काम करती है। पर जब मन सहित सब इंद्रियाँ सोती हैं फिर भी जो शक्ति काम करती है वह इन्द्र है। सच पूछो तो अग्नि और सोम तो उन वस्तुओं में भी सक्रिय है जिन्हें हम जड़ कहते हैं। पर इन्द्र तो वहीं होगा जिनमें इंद्रियों की शक्ति है जैसे पेड़-पौधे, पशु-पक्षी जिन्हें हम जड़ नहीं चेतन—जीवित मानते हैं।

जहूर : क्या पेड़-पौधे भी जीवित हैं।

जॉन : जगदीशचन्द्र ने भी तो बताया कि पेड़-पौधे सांस लेते हैं।

आचार्य : हमारे यहाँ वाल्मीकि तो आज से लाखों वर्ष पहले ही लिख गए, **जीवन्ति ही तरवो, जीवन्ति पशु-पक्षिण:।** अर्थात्, पेड़-पौधे जीते हैं, पशु-पक्षी जीते हैं। वास्तव में चेतन सत्ता (consciousness) के तीन तत्त्व हैं। इन्हें वेद में इन्द्र, अग्नि और सोम कहा गया। हमारे भीतर एक स्तर पर अग्नि में इन्द्र है और सोम उसके पेट में है। दूसरे स्तर पर वे तीनों अपने अलग अलग रूपों में प्रकट हैं। और अन्यान्य स्तरों पर दो दो की जोड़ी हैं।

जॉन : आपके वह कहने से मुझे मोहेन जोदरो की एक मुद्रा याद आ गई जिसमें, एक विद्वान् के अनुसार, इंद्र, अग्नि और सोम, तीनों को तीन पुरुषों के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

आचार्य : हाँ, इन्द्र सिंहासन पर बैठा सिर पर रोमनाक्षर डबल्यू (W) का सा मुकुट रखे हुए है। नीचे उसके इधर उधर अग्नि और सोम अपने अपनी अपनी भेंट दे रहे हैं जो रोमनाक्षर यू (U) जैसी हैं।

जहूर : तो इन्हीं दोनों के यू से तो इंद्र का डबल्यू जैसा मुकुट नहीं बना ?

आचार्य : बात ऐसी ही है।

जॉन : इसका मतलब क्या है ?

आचार्य : इसका अर्थ है वेद का विज्ञान—हड़प्पा-मोहेन जोदरो की संस्कृति का विज्ञान।

जहूर : वेद में भी विज्ञान।

आचार्य : वेद में ही नहीं, फ्रित्सौफ़ कार्पे नामक वैज्ञानिक ने लिखा है कि बीसवीं सदी का विज्ञान जिन निष्कर्षों पर पहुँच रहा है वे प्राचीन धर्मों एवं रहस्यवादियों को को पहले ही मालूम थे।

जॉन, जहूर : सचमुच !

आचार्य : कलकत्ता में साहा इंस्टीट्यूट आव्-न्यूक्लियर फ़िजिक्स है। उसके एक वैज्ञानिक डॉ चक्रवर्ती ने 'लाइफ़ और लाइफ़ॉन' नामक पुस्तक लिखी है। उसमें भी वैदिक विज्ञान की स्वीकृति है।

जहूर : तब तो वेद आधुनिक विज्ञान के लिए उपयोगी है।

जॉन : तो आचार्य जी ! एक ऐसी शोध-योजना बनाइए जिससे वेदों का ज्ञान सभी धर्मों और विज्ञानों को उपलब्ध हो।

आचार्य ने सिर झुकाकर स्वीकृति दी और आँखें मूंदकर चुप हो गए। आचार्य को समाधिस्थ देखकर, जहूर और जॉन प्रणाम करके चले गए।

भावी वेदभाष्य की तैयारी का उपक्रम

[अर्थात्, प्रस्तावित वैदिक शोध की रूपरेखा]

अभयदेव, एम ए, पीएच डी [अध्यक्ष, वेद-संस्थान]

पूर्व-पृष्ठों में वेद-संस्थान, नई दिल्ली के शोध-सदन के के अध्यक्ष और वहां जारी वैदिक शोध-कार्य के निदेशक, डॉ फतहसिंह के आठ लेख, और संस्थान की शोधकर्त्री डॉ श्रद्धा चौहान का एक विस्तृत शोध-लेख पाठक पढ़ चुके होंगे। प्रत्येक लेख अपने आपमें शोधपरक रचना है। इनका कोई पृष्ठ शायद ही नवीन तथ्य और विवे-

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

चन से रहित हो। वेद के स्वाध्यायशील के लिए ये लेख रत्नों के खज़ाने हैं। वेदजिज्ञासु की वेदजिज्ञासा को अधिकाधिक धधकानेवाले ये लेख हैं। नवीन बातों के कारण, इन्हें एक बार पढ़ जाने-भर से काम नहीं चलेगा। इनका तो बार बार, समझ समझकर अध्ययन करना चाहिए। जितनी बार इन्हें पढ़ेंगे, वेद को हर बार उतना ही बहतर समझ सकेंगे। नई बातों को जज्ब करने के लिए धैर्य, समय और बौद्धिक परिश्रम तो चाहिए ही। जो ऐसे गम्भीर लेखों के अभ्यस्त नहीं हैं वे सर्वप्रथम संवाद-परक दोनों लेख (पृ १ से ११; पृ ११८ से १२५) पढ़ें। अपने अन्य छह लेखों का सार इन दो ललित रचनाओं में डॉ फतहसिंह ने प्रकारान्तर से दे दिया है। इनको समझने के बाद, फिर उनके शेष छह लेख पढ़ने में उतनी बौद्धिक थकान नहीं होगी।

जैसा कि डॉ फतहसिंह अपने इन लेखों में बार बार, अनेक ढंगों से कहते हैं, वेद का प्रतिपाद्य विषय है मानव और उसका सर्वाङ्गीण व्यक्तित्व। मानव जिस संसार का निवासी है उसके साथ उसका सम्बन्ध तो इस प्रतिपाद्य विषय की सीमा में आ ही जाता है, और मानव का भाग्यविधाता, ब्रह्माण्ड का विराट् चेतन पुरुष भी इसमें है। अतः वैदिक शोध-कार्य अखिल मानव-समुदाय का अपना निजी कार्य है। किसी भी प्रकार की देश-कालगत संकुचिता इसमें बाधक नहीं बननी चाहिए।

अतः सब सम्प्रदायों, मतों के सब आचार्यों से, विद्वानों और वैज्ञानिकों से निवेदन है कि वे मानवता के हित में इस वैदिक शोध-योजना को एक बार ध्यान से पढ़ें और विचारें। उनके सामने यह योजना रखने से पूर्व, यह भी बताना जरूरी है कि वे इस

शोध-योजना को पढ़ने का कष्ट क्यों करें ?

(क) यह योजना किसी अनाड़ी के द्वारा नहीं अपि तु एक ऐसे व्यक्ति (डॉ फतहसिंह) के द्वारा तैयार की गई है जिसने अपने जीवन के ५० वर्ष से अधिक वेदाध्ययन में एवं आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश में सब धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन में व्यतीत किए हैं। उन्होंने महा-महोपाध्याय डॉ गंगानाथ झा, महामहोपाध्याय डॉ विधुशेखर भट्टाचार्य, महामहोपाध्याय डॉ गोपीनाथ कविराज जैसे विद्वानों के अतिरिक्त, डॉ यस के बेलवल्कर, डॉ ए यस अल्टेकर, डॉ कुन्हन राजा, डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल जैसे आधुनिक विद्वानों से भी अपने शोध कार्य के लिए आशीर्वाद और प्रोत्साहन पाया है।

(ख) डॉ फतहसिंह का चिन्तन कभी किसी पूर्वाग्रह से प्रेरित नहीं रहा जब कभी कोई नया प्रकाश मिला अपना पुराना मत बदलते उन्हें देर नहीं लगी। १९३६ और '४२ के बीच 'माडर्न रिव्यू, इं. हि. क्वार्टरली, पूना ओरियण्टलिस्ट' और 'बी. यच. यू. जॉर्नल' में प्रकाशित उनके अंगरेजी-निबद्ध लेखों में लोकमान्य तिलक का मत स्वीकार किया गया था। पर उनके डी लिट् शोध-प्रबन्ध को देखकर डॉ गोपीनाथ कविराज ने कहा, 'तुम्हारा मत अरविन्द से मिलता है।' उनके 'वैदिक-दर्शन, वैदिक एटिमॉलोजी' और 'भारतीय समाजशास्त्र' में, दयानन्द और अरविन्द के अतिरिक्त कुछ कुछ म. म. मधुसूदन ओझा की भी झलक मिल सकती है। उनके सब लेखन में माक्स म्युलर-परंपरा की वैज्ञानिक और तुलनात्मक पद्धति अपनाई गई है। 'वेद-सविता' में प्रकाशित उनकी धारावाहिक लेखमाला 'क्या ऋग्वेद के पुनर्गठन की आवश्यकता है ?' में माक्स म्युलर-परंपरा की उसी की पद्धति से आलोचना है। 'पुरुष-सूक्त की व्याख्या' शीर्षक से जो धाराप्रवाह लेखमाला दो वर्षों तक 'वेद-सविता' में चली उसमें, वेदार्थ को तर्कसंगत ढंग से प्रस्तुत करते हुए, आधुनिक विद्वानों के छन्द, व्याकरणादि सम्बन्धी आक्षेपों का निराकरण किया गया। उनके 'मानवता को वेदों की देन' में बतलाया गया है वेद के साथ तुलना करने पर बाईबिल, क़ुरआन और पुराणों की कई निरर्थक प्रतीत होनेवाली बातें भी अत्यंत सारगर्भित एवं उपयोगी सिद्ध होती है। 'वेद-सविता' के इस 'दयानन्द स्वप्नांक' के उनके लेखों से अब एक नए वेद-भाष्य की आवश्यकता स्पष्ट है क्यों कि एक ओर तो आधुनिक विद्वानों ने कठिन परिश्रम करके वेदों को 'पागल के प्रलाप' की श्रेणी में डाल दिया, जिसके आधार पर पत्र-पत्रिकाओं में आए दिन वेद-निन्दा छपती है, तो दूसरी ओर बीसवीं सदी के वैज्ञानिक अपने अद्यतन निष्कर्षों की झलक वेदों तथा अन्य धर्म-ग्रन्थों में देखते चले जा रहे हैं, फ्रिटसौफ़ कार्पे की 'ताओ ऑव् फ़िजिक्स' और डॉ. अनिरुद्ध चक्रवर्ती की 'लाइफ़ एण्ड लाइफ़ॉन' नामक पुस्तक जिसके उत्कृष्ट प्रमाण हैं।

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

ग) अतः एक ओर तो अन्य धर्म-ग्रंथों की तुलना करते हुए वेदाध्ययन करने की तत्काल आवश्यकता है ताकि यह मालूम पड़े कि इन सबमें ऐसे कौन से तथ्य हैं जो सब धर्म-ग्रंथों का गौरव बढ़ानेवाले तथा मानव-व्यक्तित्व के रहस्यों का उद्घाटन करनेवाले हैं।

घ) और दूसरी ओर वैज्ञानिकों की सहायता से यह भी पता लगाना है कि वेद की ऐसी कौन सी बातें हो सकती हैं जो आधुनिक विज्ञान, समाजशास्त्र एवं मनोविज्ञान को आगे बढ़ाने में योग दे सकती हैं तथा मानवजाति की आधुनिक समस्याओं को सुलझाने में सहायक हो सकती हैं।

अपील

क) अतः, सर्वप्रथम, वैदिक विद्वानों से अपील है कि वे कृपया इस 'दयानन्द-स्वप्नांक' को और 'मानवता को वेदों की देन' और 'पुरुषसूक्त की व्याख्या' को गंभीरतापूर्वक पढ़ने का कष्ट करें तथा खुलकर आलोचना करते हुए अपनी प्रतिक्रिया से हमें अवगत कराएं ताकि उनके आलोक में आवश्यक परिष्कार करने अथ वा विद्वानों को संतुष्ट करने का यत्न किया जा सके।

ख) तत्पश्चात्, सहमति के आधार पर उपर्युक्त वेदभाष्य की आवश्यकता-पूर्ति के लिए, एक नए वेद-भाष्य की तैयारी के लिए शोध-कार्य में सहयोग देने के लिए विद्वान् स्वयं आगे आएं, यह सानुरोध निवेदन है।

ग) वेदों के अभी तक जो भी भाष्यकार और अनुवादक हुए हैं उन सबका हम आदरपूर्वक लाभ लें क्यों कि उन सबने अपनी अपनी सुविधा एवं सामर्थ्य के अनुसार लिखा है। हमारा सद्भाग्य है कि हम उनकी ग़लतियों और उपलब्धियों, दोनों से अवगत होकर वेदाध्ययन के कार्य को पहले से अधिक बोधगम्य एवं उपयोगी बनाने की स्थिति में हैं। मतभेद होने पर गाली-गलौज-वा अपशब्दों का प्रयोग करके सत्यशोध के कार्य को कलङ्कित करना ठीक नहीं है।

घ) दूसरे, सब वेद-प्रेमियों और मानवता-प्रेमियों से निवेदन है कि वैदिक शोध की इस योजना को, मानव-कल्याण एवं आध्यात्मिक पुनरुत्थान के नाम पर, दिल खोलकर सर्वविध सहयोग और सहायता दें।

ङ) तीसरे, सब धर्मों के आचार्यों एवं उनके अनुयायियों से नम्र निवेदन है कि वेद तथा अन्य धर्म-ग्रंथों की पवित्र निधि को तुलनात्मक अध्ययन द्वारा छांटने में हमें सहयोग दें। जिन्हें राजनीति के नशे में लड़ना-लड़ाना ही प्रिय लगता है उनसे कुछ नहीं कहना है। पर जो धर्म को ज़हर नहीं अपि तु अमृत समझते हैं उनसे करबद्ध प्रार्थना है कि वे अपने अपने मज़हब और धर्म को राजनीतिज्ञों की दासता से मुक्त करें। राजनीति विभिन्न संप्रदायों को सदियों से लड़ाकर रक्त बहाती रही है और अब कहती है, 'धर्म तो ज़हर है।' उधर बीसवीं सदी का वैज्ञानिक कहता है कि सब धर्मों की रहस्यवादी परंपरा में विज्ञान के अद्यतन निष्कर्ष पहले से ही स्वीकृत हैं। ऐसी हालत में, सब धार्मिक संप्रदायों को परस्पर लड़ने के बजाय, एक सामूहिक मोर्चा बनाकर, सब धर्म-ग्रंथों का तुलनात्मक अध्ययन करके, मानव की आध्यात्मिक एवं नैतिक शक्तियों के विकास हेतु अपना पूरा ज़ोर लगाने की आवश्यकता है।

च) चौथे, सब वैज्ञानिकों से निवेदन है कि वेद-संस्थान की इस योजना को अपना आशीर्वाद दें और बतलाएं कि हम किस प्रकार उनके काम आ सकते हैं और कैसे वे हमारी सहायता कर सकते हैं।

छ) देश-विदेश के सब धनी जनों से और सरकारों से प्रार्थना है कि हमारी महत्त्वाकांक्षी शोध-योजना की पूर्ति में सहानुभूतिपूर्वक सहायता करें।

ज) अंत में, संयुक्तराष्ट्र-संगठन से प्रार्थना है कि हमारा शोध-कार्य मानव की सार्वभौम एकता से अनुप्राणित है। अतः हमें आप प्रोत्साहन एवं आशीर्वाद दें।

: २ :

वैदिक शोध की सामान्य रूपरेखा

१) वैदिक देव-देवता और विभिन्न मतों की समानान्तर कल्पनाएं : आम तौर पर देवी-देवताओं की कथाओं को माइथॉलॉजी कहकर टाल दिया जाता है पर अद्यतन शोधों के आधार पर ऐसे प्रमाण मिले हैं जिनसे पता

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

चला है कि इनके पीछे विज्ञान है; और वह भी आदिम विज्ञान नहीं, जैसा कि कुछ विद्वानों ने पहले कहा था, अपि तु ऐसा विज्ञान जिसमें बीसवीं सदी के विज्ञान की झलक भी मिलती है।

अत एव तुलनात्मक अध्ययन के लिए एक नए प्रयत्न की आवश्यकता है। तुलनात्मक अध्ययन पहले भी हो चुके हैं पर वे संकलनमात्र हैं। उनमें व्याख्या और स्पष्टीकरण का प्रयास नहीं है अपि तु जंगली मानव की मान्यताएं समझकर, उन कथाओं को एकत्र करना मात्र अभीष्ट रहा। उस समय, इससे अधिक संभव भी नहीं था। मनोविज्ञान, परामनोविज्ञान एवं योग, आदि के क्षेत्र में उस समय तक लगभग कुछ भी शोधकार्य नहीं हुआ था। अब इन दिशाओं में जो हो चुका और हो रहा है उसके प्रकाश में देवी-देवताओं, फ़रिश्तों, अप्सराओं, आदि का मूल्यवान् स्पष्टीकरण संभव है। इस स्पष्टीकरण से धर्मों में टकराव कम होगा, श्रद्धा बढ़ेगी और धार्मिक जीवन मानवकल्याण के लिए सचमुच उपयोगी बनेगा।

२) वैदिक ऋषियों की तात्त्विक व्याख्या :

अकेले ऋग्वेद में, मंत्रों के ५५० से अधिक ऋषि हैं। अन्य संहिताओं में इनके अतिरिक्त कुछ और भी नाम हैं। कुल मिलाकर १,००० तक संख्या हो सकती है। यह विवाद व्यर्थ का है कि ऋषि द्रष्टा थे वा कर्ता। पर यह निश्चित है कि ऋषि-नाम से मंत्र को समझने में एक दृष्टि मिलती है, जैसा कि इस 'दयानन्द-स्वप्नांक' में किसी हद तक समझाने का प्रयत्न किया गया है। चाहे किसी मंत्र के ऋषि नदियां हों; एक ऋषि वा ऋषिका हो अथ वा अनेक, उन सबसे मंत्र के अर्थ की ओर अद्भुत संकेत मिलता है। यह मानकर एक एक ऋषि के सब मंत्रों की व्याख्या प्रस्तुत करने से एक नया प्रकाश मिलता है। अतः इस प्रकार के सूक्त-संग्रहों की तात्त्विक व्याख्या प्रस्तुत करना बहुत आवश्यक है।

३ वैदिक छन्द : आधुनिक विद्वानों ने, विशेषकर अर्नाल्ड ने वैदिक छन्दों पर बहुत परिश्रम करके, निहायत ईमानदारी के साथ कुछ समस्याएं प्रस्तुत कीं। इस विद्वान् ने छन्दों में त्रुटियां देखीं। उदाहरण के लिए किसी पाद में अक्षर ८ के बजाय ७ वा कम अथ वा ९ वा अधिक निकले। इसका उत्तर पारम्परिक भारतीय विद्वानों के पास नहीं है। इस प्रकार के छन्दों को क्रमशः 'निचृत्' और 'भुरिक्' कहते आए हैं। इससे स्पष्ट है कि यह ग़लती नहीं हो सकती। बहुत ऊहा-पोह और व्यापक खोज के बाद पता लगता है कि वैदिक छन्दों को सिर्फ़ एक विशेष अक्षर-परिमाण की रचना समझना भूल है। छन्दः-विशेष किसी तत्त्व का प्रतीक है। उस तत्त्व का उत्कर्ष और ह्रास बताने के लिए अक्षर-परिमाण में न्यूनाधिक्य करने की प्रक्रिया अपनाई गई है। इससे सिर्फ़ यही नहीं सिद्ध हुआ कि छन्द वेदार्थ में सहायक हैं अपि तु यह भी कि प्रत्येक छन्द का एक निश्चित क्षेत्र है जहां उसका प्रयोग होगा। इस प्रकार, वेदार्थ करने में छन्द से एक नया और उपयोगी प्रकाश मिला है।

फ़ादर ऐस्टलर इसी तरह की तथाकथित त्रुटियों को देखकर ऋग्वेद को शुद्ध करके छापने पर तुल गए। छन्दों का इस प्रकार अध्ययन प्रस्तुत करने पर, इस विद्वान् को यह कष्ट नहीं करना पड़ेगा।

४ वैदिक भाषा : वैदिक भाषा को लेकर भी, आधुनिक विद्वानों ने बड़ी ईमानदारी से बहुत कुछ लिखा है। उनका यह मानना स्वाभाविक था कि और भाषाओं की तरह ही वैदिक भाषा भी है। इसकी पुष्टि इस बात से भी हुई कि संस्कृत भाषा, जो अन्य ग्रंथों में है, उसी का कुछ बदला हुआ रूप यहां, और कुछ बिगड़ा हुआ रूप पाली, प्राकृत, आदि में है। इसलिए उनका यह निष्कर्ष वाजिब था कि जब वेद में एक ही शब्द के दो दो रूप मिलते हैं तो ये वैदिक भाषा के विकास में स्तर-भेद के सूचक हैं और इसी लिए उसके व्याकरण में भी भिन्नता हुई।

पर इस समस्या पर गम्भीर गवेषणा के बाद पता चलता है कि बात कुछ और है। वेद में जिस तत्त्व का निरूपण हुआ है वह लौकिक विषयों से भिन्न है। अतः लौकिक भाषा के शब्द उसकी अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त नहीं थे। इसलिए 'हिरण्य' के साथ 'हिरण्यय', 'देवाः' के साथ 'देवासः', 'देव' के साथ 'देवता' और 'देवी' को विशेष अर्थ दिया गया। कभी कभी स्वर-भेद करके शब्द का अर्थ-भेद किया गया। कभी लोक-विरुद्ध समास-रचना करके, कभी व्याकरण-विरुद्ध निर्वचन करके, तो कभी

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

किसी अन्य प्रकार से लौकिक शब्द को अलौकिक अर्थ देने के उपयुक्त बनाया गया।

वैदिक भाषा की सबसे बड़ी विशेषता प्रतीक है। थोड़ा बहुत प्रतीकवाद तो सर्वत्र है, – बाईबिल, क़ुरआन में, यहां तक कि दान्ते की डिवाइन कॉमेडी, टेनीसन के कमिंग ऑव् आर्थर तथा पार्सिग आव् आर्थर, मिल्टन के पैराडाइज़ लॉस्ट और रिगेण्ड में भी है। पर वेद में तो प्रतीकों की भरमार है। सूर्य को जिस प्रकाश का प्रतीक बनाया गया वह प्रकाश हर स्तर पर एक सा नहीं है और प्रत्येक स्तर पर सदा एक ही कर्म नहीं करता है। इसलिए स्तर-भेद और कार्य-भेद से उसके अग्नि, सविता, पूषा, मित्र, अगोह्य, विष्णु, आदित्य, सोम, हर्यश्व, बड, सप्त-रश्मि, सहस्ररश्मि, आदि अनेक नाम हैं। इसी प्रकार अग्नि (जो सूर्य का ही एक रूप है) द्रविणोदा, सौचीक, क्रव्याद्, चाक्षुष, तापस, वैश्वानर, यविष्ठ, अपां नपात्, सहसो नपात्, नचिकेता, यम, पावक, आदि अनेक प्रकार का हो जाता है। स्वभावतः जब प्रतीकों के विभिन्न अर्थों को समझाने का काम 'निरुक्त' करता है तो उसे ऐसे अनेक उपाय करने पड़ते हैं जिनसे अनभिज्ञ होने के कारण आधुनिक विद्वान् झुँझलाकर 'निरुक्त' को कोसने लगता है।

एक दृष्टि से, आधुनिक विद्वानों का वेदाध्येताओं पर ऋण है जिन्होंने वैदिक भाषा की विभिन्न विशेषताओं की ओर ध्यान देने के लिये प्रेरित किया। इसके परिणाम-स्वरूप वेदार्थ की उन असंगतियों को दूर करने का अव-सर उपस्थित है जिनके कारण एक ही सूक्त में आकाश-पाताल के कुलावे से मिलाए जाते से प्रतीत होते हैं।

अत एव इस नई प्रतीकपरक दृष्टि से वैदिक भाषा के पुनर्मूल्यांकन की महती आवश्यकता है।

५) **मानव की शक्तियां** : इस प्रसंग में कम से कम निम्नलिखित प्रसंग मनोविज्ञान और योग के लिए बहुत उपयोगी होंगे, अथर्वांगिरस प्राण, भृग्वंगिरस प्राण, विश्वे देवाः, मनुष्याः, मरुतः, रुद्राः, आदित्याः, वसवः, गंधर्वाप्सरसः, आपः और सिंधवः।

६) **वैदिक अंक-गणना** : वैदिक तत्त्वों में एक विचित्र चीज़ भिन्न भिन्न प्रसगों में दुहराई जाती है। तत्त्व-गणना में १ से ९ तक गिनती चलती है। पर उसके बाद के तत्त्व को दश कहने में प्रायः संकोच दिखाई पड़ता है क्यों कि वह तत्व १ से ९ तक प्रत्येक में है पर वह इनसे अतिरिक्त और परे भी है। इसलिए वह **प्र-णव** (प्रकृष्ट नव) कहा जाता है। हाँ, एक विशेष स्तर पर, विशेष दृष्टि से, दश, ग्यारह, बारह ही नहीं, अरब ख़रब तक गिनती प्रयुक्त होती है।

इसके आधार पर स्वर्गीय शंकराचार्य, श्री भारती-कृष्ण तीर्थ के वैदिक गणित का रहस्य खुल सकता है।

७) **वैदिक समाजशास्त्र** : आज की जात-पाँत की दुर्दशा को देखकर वर्ण-व्यवस्था को बहुत कोसा गया है क्यों कि शताब्दियों से उसके वास्तविक रहस्य को भुलाया जा चुका है। वास्तव में, वर्ण-व्यवस्था समाज को विभाजित करने की नहीं अपि तु व्यक्ति और समाज को जोड़नेवाली एक सामाजिक मनोविज्ञान की झाँकी प्रस्तुत करती है। उस सामाजिक मनोविज्ञान को अभी हमारा वैज्ञानिक युग भी नहीं जान पाया है। इसके तात्त्विक आधार का पुनर्मूल्यांकन मानव की सामाजिक समस्याओं को सुलझाने का सामर्थ्य रखता है।

(८) **गृह्यविज्ञान और वेद** : 'गृह्यविज्ञान' से अभिप्राय होम साइन्स न होकर वैदिक गृह्यसूत्रों के विषय से है। आज पारिवारिक जीवन का विघटन मनीषियों के लिए चिन्ता का विषय है। समस्या का समाधान दिखाई नहीं पड़ता। वेदों में दाम्पत्य जीवन और पारिवारिक समस्याओं की ऐसी तात्त्विक व्याख्या छिपी हुई है जिसके आधार पर पारिवारिक पुनर्गठन करने से और दाम्पत्य जीवन को ढालने से आज की समस्याओं का समाधान संभव है। इसलिए, वेद में बिखरे हुए गृह्यविज्ञान के तत्त्वों का मूल्यांकन आधुनिक मानव के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकता है। आधु-निक चिंतन सेक्स और रोटी की समस्याओं से असहाय सा बना हुआ है। इनका समुचित हल न मिलने से व्यक्ति, परिवार और समाज बुरी तरह दुष्प्रभावित हो रहे हैं। विज्ञान-प्रदत्त सुख-सुविधा एवं सामर्थ्य की वृद्धि होने पर भी मानव दानव बनता जा रहा है। जीवन को स्वर्ग बनाने के सभी आधुनिक प्रयत्न उसे नरक बनाते दिखाई पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में वैदिक गृह्यविज्ञान निश्चित रूप से एक नूतन आलोक देता है।

९) **वैदिक योग-विज्ञान** : आज मनोविज्ञान, मानसिक

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

विश्लेषण (Psycho-analysis) तथा परामनोविज्ञान (Para-psychology) नाम से जो विज्ञान कहे जाते हैं उनकी समस्याओं को 'योगविज्ञान' के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है । वेद में पूर्ण मानव की दृष्टि से इन विषयों का जो समन्वित चिन्तन बिखरा पड़ा है उसको एकत्र करके न केवल निरंतर लोकप्रिय होने-वाले योग को और अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है अपि तु उपर्युक्त तीनों विद्याओं की समस्याओं को एक समन्वित धरातल पर अधिक अच्छी तरह से समझा जा सकता है। इस प्रसंग में, वेद के जिष्णुयोग, हरियोग, छन्दसां योग, ग्राव्णां योग, अश्वयोग, हरियोजन, दशयोजन, समानयोजन, आदि कल्पनाएं विशेष रूप से विचारणीय हैं ।

१०) **वैदिक दृष्टि से मानव के विभिन्न आयाम :** 'निघण्टु' में संकलित मनुष्य-नामों, बल-नामों, धन-नामों एवं वाङ्-नामों की व्याख्या से प्राप्त मानव का जो चित्र सामने आता है वह मानव की सर्वविध समस्याओं को समझने में आधुनिक विज्ञान को भी नई दिशा देने-वाला है ।

: ३ :

वैदिक शोध के प्रथम चरण की पञ्चवर्षीय कार्य-योजना

वैदिक शोध की पूर्वोक्त रूपरेखा के अनुरूप कार्य, निस्संदेह, अत्यंत समय-साध्य, व्यय-साध्य और सहयोग-साध्य है । अतः वेद-संस्थान अपने साधनों एवं संभावित सहयोग को ध्यान में रखकर, उपरि लिखित दश-सूत्री 'सामान्य रूपरेखा' के प्रथम सूत्र पर सर्वप्रथम कार्यारंभ करने की मंशा रखता है । यह पञ्चवर्षीय योजना है ।

वैदिक देव-शास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन : फ़िल-हाल यह पञ्चवर्षीय कार्य-योजना 'वैदिक देवशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन' के लिए है । यद्यपि इस विषय पर अनेक प्रयत्न उपलब्ध हैं पर वे प्रायः संकलनमात्र हैं । इसके अतिरिक्त, वे यह मानकर किए गए हैं कि ईश्वरवाद के अभाव में जिनकी पूजा-अर्चना की जाती थी उन्हीं को वेद में 'देव, देवता, देवी' कहा गया है। इन अध्येताओं की निगाह में वैदिक मानवसमाज नदी, पर्वत, उषा मेघ, विद्युत, सूर्य, अग्नि, जल, आदि को ही नहीं अपि तु हल, मूसल, ओखली, धनुष, कवच, आदि को भी उसी तरह उपास्य देव समझता था जिस तरह आज ईश्वर को समझा जाता है ।

तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि देवों का वैदिक साहित्य में वही स्थान है जो अवेस्ता, क़ुरआन और बाईबिल में क्रमशः यजतों, फ़रिश्तों और ऐंजिलों का है । अन्य परंपराओं के समान भारतीय परंपरा में भी वे ईश्वर जैसी किसी परम सत्ता के साथ अथ वा उसके आधिपत्य में रहते माने गए हैं । वेद की यह विशेषता है कि वहां उनके सुविस्तृत वर्णन का तात्त्विक विवेचन करके उस तत्त्वज्ञान पर पहुँचा गया है जिसे कभी कभी मानवजाति की सार्वभौम एवं समान परंपरा अथ वा 'सनातन इतिहास' कहा जाता है । 'मानवता को वेदों की देन, पुरुष-सूक्त-व्याख्या, दयानन्द स्वप्नांक' से इस तथ्य की पर्याप्त जानकारी मिलती है कि ऋषियों, देवों और प्राणों की प्रतीकवादी प्राणदृष्टि से किस प्रकार मानव-व्यक्तित्व की अपार गहराई और रहस्यमयी सच्चाई को प्राप्त करने में पहले से कहीं अधिक सफलता पाई जा सकती है । इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसी दृष्टि से पुराण, क़ुरआन और बाईबिल, आदि की समानान्तर मान्यताओं की पृष्ठभूमि में एक अमूल्य तत्त्वज्ञान के दर्शन होते हैं । इस प्रकार, संस्थान का यह प्रकल्प जहां एक ओर तत्त्वज्ञान, मनोविज्ञान, एवं विज्ञान की गूढ़तम गुत्थियों को सुलझाने में सहायक होगा, वहाँ वह भारत की राष्ट्रीय एकता का ही नहीं अपि तु मानव की सार्वभौम एकता का मार्ग भी प्रशस्त करेगा । यही कारण है कि संस्थान सर्वप्रथम वैदिक देवशास्त्र का तात्त्विक विवेचन करने जा रहा है ।

शोध की पद्धति: वैदिक देवशास्त्र को समझने के लिए, निस्संदेह, वैदिक संहिताएं प्रमुख साधन होंगी । प्रत्येक देव के सब संदर्भों के उद्धरणों के आधार पर उसके

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

विषय में जो विचार बनता है उसकी पुष्टि के लिए ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों तथा परवर्ती ग्रन्थों का भी अनुशीलन करना होगा। तदनन्तर, विश्व की अन्य परम्पराओं में जो समानान्तर मान्यताएं मिलती हैं उन पर भी विचार किया जाएगा।

मैक्डानल ने वैदिक देवशास्त्र विषयक शोध के सम्बन्ध में कहा है कि 'यहां कोई भी विषय ऐसा नहीं है जिसका वैज्ञानिक दृष्टि से निरूपण किया जा सके। अतः कुछ अंशों तक काव्यात्मक अन्तर्दृष्टि के अतिरिक्त, इसके अध्ययन में सतर्कता, और निर्णयों की गम्भीरता की अत्यन्त आवश्यकता है।' इसके साथ यह भी जोड़ना जरूरी है कि हमें यह मानकर चलना है कि वेद सहित मानवजाति की सब प्राचीन परम्पराओं का मूलाधार तत्त्वज्ञान रहा है। इस तत्त्वज्ञान की उपेक्षा करने के कारण ही स्वर्गीय डॉ आनन्द कुमारस्वामी के शब्दों 'वैदिक ग्रंथों के जो अनुवाद हुए हैं वे व्युत्पत्तिशास्त्र के अनुसार कितने ही युक्तियुक्त हों पर वे न तो बोधगम्य हैं और न विश्वास के योग्य। यह बात कभी कभी तो अनुवादकों ने स्वयं स्वीकार की है।'

तत्त्वज्ञान की उपेक्षा करके वेद, पुराण, क़ुरआन, बाईबिल, आदि प्राचीन ग्रंथ तो क्या, कबीर जैसे सन्तों की वाणी भी नहीं समझी जा सकती। तत्त्वज्ञान का आश्रय लेने पर न केवल ये ग्रंथ सुबोध हो जाते हैं अपि तु **इन सबकी पृष्ठभूमि में विद्यमान वह एकता का सूत्र भी मिलता है जिसने प्राचीन मानव को एक दूसरे से जोड़ा था** पर जो तथाकथित सभ्यता के विकास से निरन्तर टूटता चला आया है। इस सम्बन्ध में एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। प्रत्येक प्राचीन परम्परा में यह मान्यता है कि विश्व के सब मानव एक ही पिता की संतान हैं। विभिन्न देशों में, इस आदि पिता वा आदि मनुष्य के जो परम्परागत नाम मिलते हैं प्रायः वे सब, वेदों में विद्यमान हैं। खोज से पता चला कि वे या तो आदम (आत्मन्), नूह (मनु), आयु, कवि, चियेन-सियेन (श्येन), यिम (यम), आदि व्यष्टिगत चेतना के नाम हैं, अथ वा यह्व (यहोवा), अहुर (असुर), क, कोउद्धा (खोदाय, ख़ुदा), आदि समष्टिगत चेतना के नाम हैं।*

अत एव वैदिक शास्त्र के क्षेत्र में वही अन्वेषक सफल हो सकता है जो संस्कृत भाषा के ज्ञान के अतिरिक्त, वैज्ञानिक दृष्टि एवं तत्त्वज्ञान से अनुराग रखता हो। इस दृष्टि से, शोधकर्ताओं के चयन तथा उनके भरण-पोषण का प्रश्न पर्याप्त जटिल अवश्य हो जाता है परन्तु कार्य की गुरुता एवं उपयोगिता की दृष्टि से यह आवश्यक सावधानी के साथ अवश्यमेव करणीय है।

कार्य-विभाजन : पांच वर्ष की शोध-कार्य-योजना में प्रत्येक वर्ष के अलग अलग लक्ष्य इस प्रकार निर्धारित किए गए हैं।

प्रथम वर्ष : (१) देवपुरी अयोध्या में एक और अनेक का प्रश्न : (१) आत्मन्, पुरुष, नर-नारायण। इस प्रसंग में, निम्नलिखित शब्दों के वैदिक प्रयोग भी विशेष रूप से परीक्षणीय होंगे : मनुष्य, नर, जन्तु, विशः, क्षितयः, कृष्टयः, चर्षणयः, नहुषः, हरयः, मर्याः, मर्त्याः, ब्राताः, तुर्वशाः, द्रुह्यवः, आयवः, यदवः, अनवः, पूरवः, जगत्, तस्थुष्, पञ्चजनाः, विवस्वन्तः, पृतनाः ('निघण्टु' में परिगणित मनुष्य-नाम)। (२) **अश्व और अश्विनौ।** इसके साथ निघंटु के २६३ अश्व-नामों का अध्ययन भी आवश्यक होगा जिनमें, अन्यों के साथ, मनुष्यवाचक 'नर' भी शामिल है। अश्व के साथ जुड़े होने से अश्विनौ का अध्ययन अनिवार्य है। (३) आपः सिंधु, और पर्जन्य : वेद में आपः देवता जलवाचक है। अतः इस प्रसंग में 'निघंटु' में परिगणित निम्नलिखित उदक-नामों का भी अध्ययन आवश्यक होगा : अर्णः, क्षोदः, क्षदमः, नभः, अम्भः, कबन्धम्, सलिलम्, वाः, वनम्, घृतम्, मधु, पुरीषम्, विप्पलम्, क्षीरम्, विषम्, रेतः, कशः, जन्म, बृबूकम्, बुसम्, तुग्र्या, वर्बुरम्, सुक्षेम, धरुणम्, सुरा, अररिन्दानि, धरुमन्वत्, जामि, आयुधानि, क्षपः, अहिः, अक्षरम्, स्रोतः, तृप्तिः, रसः, उदकम्, प्रयः, सरः, भेषजम्, सहः, शवः, यहः, ओजः, सुखम्, क्षत्रम्, आवयाः, शुभम्, यादुः, भूतम्, भुवनम्, भविष्यत्, महत्, आपः, व्योम, यशः, महः, सर्णीकम्, स्वृतीकम्, सतीनम्, गहनम्, गभीरम्, गम्भरम्,

* देखिये फतहसिंह : 'भारतीय समाजशास्त्र' 'कामायनी-सौंदर्य', तथा 'एशियाई संस्कृतियों को संस्कृत की देन' में 'आदि मानव' की चर्चा।

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

ईम्, अन्नम्, हविः, सद्म, सदनम्, ऋतम्, योनिः, ऋतस्य योनिः, सत्यम्, नीरम्, रयिः, सत्, पूर्णम्, सर्वम्, अक्षितम्, बर्हिः, नाम, सर्पिः, अपः, पवित्रम्, अमृतम्, इन्दुः, हेम, स्वः, सर्गाः, शम्बरम्, अम्बम्, वपुः, अम्बु, तोयम्, तूयम्, कृपीटम्, शुक्रम्, तेजः, स्वधा, वारि, जलम्, जलाषम्, इदम्।

द्वितीय वर्ष : (२) देवपुरी अयोध्या में एक और अनेक का प्रश्न : (१) दैवी विशः : वसवः, रुद्राः, आदित्याः विश्वे देवाः, मरुतः। (२) आंगिरसाः, आथर्वणाः, भृगवः, पितरः, यम, राष्ट्री, अर्यः, आर्यः, नियुत्वान् तथा इन। (३) अदिति और वाक् सहित ५७ वाङ्नाम : श्लोकः, धारा, इडा, गौः, गौरी, गान्धर्वी, गभीरा, गम्भीरा, मन्द्रा, मन्द्राजनी, वाशी, वाणी, वाणीची, वाणः, पविः, भारती, धमनिः, नाडीः, मेडिः, मेना, सूर्या, सरस्वती, निवित्, स्वाहा, वस्नुः, उपब्दिः, मायुः, काकुत्, जिह्वा, घोषः, स्वरः, शब्दः, स्वनः, ऋक्, होत्रा, गीः, गाथा, गणः, वेना, गनाः, विषा, ननां, कशा, धिषणा, नौः, अक्षरम्, मही, अदितिः, शची, वाक्, अनुष्टुप्, धेनुः, वल्गुः, गल्दा, सरः, सुपर्णी, वेकुरा।

तृतीय वर्ष : त्रैत, द्वैत और एकत्व : (१) त्रैतवाद और द्वैत : ऋभु, विभ्वा, वाज; धर्माणि प्रथमानि, एकत-द्वित-त्रित, सत्त्व-रजः-तमः, सत्-चित्-आनन्द, त्रिशिरा और त्रिमूर्धा, वेदत्रय, लोकत्रय, त्रिमाता, त्रियुग; त्रिवरूथ, त्रिचक्र रथ, त्रिषधस्थ, त्रिवृत्। (२) षड्वीः, षडिन्द्रिय, वषट्कार, षाड्वधानाः, षडक्ष, षडश्व, षडर। (३) द्यावाभूमी, रोदसी, क्रंदसी, द्यावापृथिवी, उषा-रात्री, उषासानक्ता, नक्तोषासा, सूर्यामासा, सूर्या-चन्द्रमसौ।

चतुर्थ वर्ष : देव और देवपत्नी : (१) प्रजापति और वाक् : वाचस पति, बृहस्पति, ब्रह्मणस पति, शचीपति, आदि पत्यन्त देवनाम और विश्वकर्मा, त्वष्टा, आदि कर्तृदेव। (२) देवियां : इन्द्राणी, वरुणानी, इडा, भारती, मही, सरस्वती, श्रद्धा, आदि २३ देवियां। (३) इन्द्र, अग्नि और सोम, और वायु-वात।

पंचम वर्ष : एकत्व-विधान : (१) इन्द्र-अग्नि-सोम का एकत्व, और वरुण, पूषा तथा विष्णु। (२) सूर्य, सविता, अपां नपात्, अज एकपाद्, अहिर्बुध्न्य, रुद्र, द्यौः, अदिति, उषा प्रथमा, प्रथमा सिन्धुः। (३) युगल देव : इन्द्रावरुणौ, मित्रावरुणौ, इन्द्रावायू, इन्द्रा सोमौ, इन्द्रावृहस्पती, इन्द्राविष्णू, इन्द्रापूषणा, सोमापूषणा, सोमारुद्रा, अग्नीषोमौ, इन्द्रनासत्या, इन्द्रापर्वता, इन्द्र-मरुतः, अग्नि-पर्जन्य, पर्जन्य-वात, वात-पर्जन्य, सूर्या-चन्द्रमसौ। (४) उपसंहार : अनेकता में एकता और परम तत्त्व।

वैदिक परिभाषा-कोष

उपर्युक्त दश-सूत्री वैदिक शोध-योजना के परिणामों और निष्कर्षों को विद्वानों, स्वाध्यायशीलों और सामान्य जनता को भेंट करने के लिए प्रकाशनों के भी त्रिविध रूप होंगे।

विद्वानों के लिए **वेद अथ वा विश्वमानुष** में से किसी नाम से एक वैदिकशोध-पत्रिका का त्रैमासिक/चातुर्मासिक/षाण्मासिक प्रकाशन करना होगा जिसके एक अंक में पृष्ठ-संख्या कम से कम ६४ हो; यदि १०० पृष्ठ हों तो शोभास्पद होगा। इस पत्रिका में भाषा-विशेष में ही लेखों के मुद्रण का प्रतिबन्ध नहीं होगा। जो विद्वान् जिस भाषा में लिखना चाहे उसी भाषा में इसमें, यथाशक्य, उसके लेख का प्रकाशन हो, और जो विद्वान् जिन जिन भाषाओं के लेखों को स्वयं पढ़, अथ वा पढ़वा सके उन लेखों का यथासंभव लाभ वह ले ले। यह पत्रिका पूर्वाग्रह-रहित, वेदप्रतिपाद्य की जिज्ञासा से युक्त, स्वमन्तव्य-प्रतिपादक लेखों को ही स्थान देगी, दन्त-कटाकटी से युक्त, वैमनस्य एवं अपशब्दों से दूषित, घमंडी कोटि के तथाकथित विद्वानों (!) के लेखों को नहीं। वेद-संस्थान की वैदिक शोध के परिणाम भी इसी में, विद्वानों की निकष पर कसे जाने के लिए प्रकट होंगे। और निकषकषण के पश्चात् सर्व/बहुसम्मत **निष्कर्ष** भी इसी में प्रकट होंगे। कितने अचरज की बात है इस धरती पर वेद पर अपना फ़ोकस सतत बनाए रखनेवाली कोई वैदिक शोध-पत्रिका है ही नहीं।

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

स्वाध्यायशीलों के लिए वैदिक शोध के निष्कर्ष एक विराट् 'वैदिक परिभाषा-कोश' के रूप में भी प्रकाशित किए जाएंगे। अभी ऊपर जिन 'निष्कर्षों' की चर्चा की गई है उनका संक्षिप्त रूप वैदिक परिभाषाओं के अर्थ/अभिप्राय के रूप में कोष-पद्धति से इसमें दिए जाएंगे। तत्त्वविवेचक की निगाह में तो वेद का प्रत्येक शब्द पारिभाषिक छटा से युक्त प्रतीत होता है। इतने विस्तार को बाद के लिए छोड़ दें तो भी वेद के १,०००/२,००० शब्द तो ऐसे होंगे ही जो **परिभाषिक** अथ वा **प्रतीकार्थक** हैं। इस 'दयानन्द-स्वप्नांक' को ध्यान से पढ़नेवाले अनुभव करेंगे कि वैदिक तत्त्वज्ञान पारिभाषिक पदावली में निबद्ध है। बिना पारिभाषिक शब्दों के अर्थ जाने वेद के सतही शब्दार्थ से कुछ भी पल्ले नहीं पड़ सकता है। इस विशेषांक में एक वैदिक पद, **पुरुष** के लगभग सब वैदिक सन्दर्भों का अध्ययन करके, परिणामों को डॉ श्रद्धा चौहान की लेखनी से, 'संक्षेप' से, प्रकट किया गया है, तथा समूचे अध्ययन का निष्कर्ष, जो 'वैदिक परिभाषा-कोश' में दिया जाने की स्थिति सी में है, भी दिया गया है। इसी प्रकार, सब वैदिक परिभाषाओं का अध्ययन उपरि लिखित दशसूत्री शोध-योजना में होना है।

सामान्य जनता के लिए यह सब अभिनव वैदिक बोध सरलातिसरल, रोचक भाषा-शैली में, पारिभाषिक पदावली के तथा उनकी बारीकियों के पचड़े में पाठक को न डालते हुए, परोसा जाना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना वैदिक शोध का कार्य। बिना वैदिक शोध के, तथाकथित वेदप्रचार मात्र भावुकतामय और अंधविश्वासाश्रित सा कार्य रह जाता है जो भोले लोगों की श्रद्धा को भले ही टिकाव दे सके, बुद्धि को समाधान नहीं दे पाता है। दूसरे, नव-नवीन वैदिक शोधों के अनुसार जनता में वेदप्रचार करनेवालों को अपने चिन्तन, प्रवचन, लेखन में परिष्कार करते रहना चाहिए, अन्यथा उनके प्रवचनादि पुराने, बासी, पिछड़े हुए, दकियानूस, कट्टरतामय ज़िद से भरे हुए हो जाएंगे जब कि ज़माने का चिन्तन आगे बढ़ चुका होगा। 'बाबावाक्यं प्रमाणं' वृत्ति से कोई अपने कूप में मण्डूक बना भले ही अपने लिए कुछ भक्त श्रोता जमा कर ले, विशाल भूतल पर सबके समक्ष वेद का सिक्का बिठाना इस प्रकार असंभव है।

अभी तक यह तृतीय कोटि का कार्य वेद-संस्थान की मासिक पत्रिका 'सविता' (वर्तमान में 'वेद-सविता') करती रही है। क्योंकि संस्थान के पास विद्वानों के लिए कोई वैदिकशोध-पत्रिका अभी तक नहीं है अतः 'वेद-सविता' को ही उपर्युक्त प्रथम कोटि के कार्य के लिए भी प्रयुक्त करने की मजबूरी है। इससे सामान्य पाठकों को कभी कभी शिकायत भी होती है। संस्थान भी 'वेद-सविता' को सामान्य पाठकों की ही पत्रिका रखना चाहता है। पर जब तक एक पृथक् से शोध-पत्रिका का प्रकाशन आरंभ नहीं होता तब तक संस्थान की सीमाओं पर दयाभाव से पाठक इसे मुस्कान के साथ सहन करें, यही रास्ता शेष है। कोई एक-आध लेख कठिन लगे तो पाठक परेशान न हों; अन्य जो सरल लेख हैं उनका लाभ लें। फिर इतना स्वार्थी होना भी अनुचित है कि अपनी रुचि से परे का कोई लेख सहन ही नहीं करना। जो लेख सामान्य पाठक के काम का नहीं है वह विद्वानों और स्वाध्यायशीलों की रुचि का तो होता ही है। वे भी वैदिक पुरुष हैं; उनकी भी तो सेवा 'वेद-सविता' को करनी होती है अन्यथा उन्हें भी सामान्य पाठकों की जैसी शिकायत होने लगती है कि पत्रिका में हमारे लायक कुछ नहीं होता है। अस्तु।

साधनों की समस्या

उपरि लिखित, विराट् और वैदिकतल को स्पर्शी वैदिक शोध-योजना की क्रियान्विति के लिए साधन भी विराट् चाहिएं। ऊपर जो प्रथम चरण की पंचवर्षीय कार्य-योजना दी गई है वह भी अपने आपमें इतनी विस्तृत और गम्भीर है कि इसके लिए २० पूरे समय शोधकार्य में भिड़नेवाले शोधकर्ताओं की एक मण्डली चाहिए। प्रत्येक शोधकर्ता को आज की भीषण महंगाई के युग में न्यूनतम आवश्यकतापूर्ति मात्र पारिश्रमिक भेंट किया जा सके तो वह भी रु १,०००/- मासिक से कम क्या होगा? इतने लोग रात-दिन काम करेंगे तो

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

स्थान, बिजली, स्टेशनरी, टंकण, पत्राचार, सेवक, क्लर्क, प्रकाशन, आदि का भी लगभग रु १०,०००/- मासिक का व्यय तो ऊपर से समझिए ही । इस प्रकार लगभग रु ३०,०००/- मासिक की अपेक्षा रहेगी, अर्थात् ३,६०,०००/- वार्षिक। यह राशि बिना किसी बाधा के प्राप्त रहे, ऐसा भरोसा तभी हो सकता है जब संस्थान की इतनी स्थिर निधि हो कि जिसका इतना वार्षिक ब्याज हो।

मुझे स्मरण आ रहा है अपना एक लेख, 'भावी कार्यक्रम' ('सविता', अगस्त, ७८-अंक, पृ १३५-१३८) जो एक प्रेमी के पत्र में इस प्रश्न के समाधान में लिखा गया था कि वेद-संस्थान के संस्थापक-अध्यक्ष, दिवंगत श्री स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' जी ने १ करोड़ रु. की स्थिरनिधि की स्थापना के लिए जो उपक्रम अपने जीवन की पटाक्षेप-छाया की बेला में किया था उससे प्राप्त होने वाले रु १ लाख मासिक के ब्याज का उपयोग संस्थान किस प्रकार कर पाएगा। अपने एक अन्य लेख, 'वैदिक-शोध-योजना का श्रीगणेश' ('सविता', सितम्बर, ८० पृ ३९-४१) में मैंने लिखा था, 'एक अध्येता प्रतिमास एक शब्द का अध्ययन भी यदि कर सके तो दस वर्षों में समस्त वैदिक पदों का अध्ययन पूरा करने के लिए लगभग १,००० विद्वानों की मण्डली चाहिए। इतना विराट् है यह कार्य।' अनुमान लगा लीजिए कि जब २० शोधकर्ताओं की टोली पर लगभग साढ़े तीन लाख रु. मासिक व्यय है तो श्री स्वामी जी की अपील की निधि के लाख रु. ब्याज से तो अधिकतम १०० विद्वानों की टोली ही काम कर सकेगी। इस टोली को अपना काम पूरा करने में १०० वर्ष लगेंगे। यदि २५ वर्षों में यह काम पूरा कराना हो तो ४०० विद्वान् तो लगाने होंगे। अतः ४-५ लाख रु. मासिक के ब्याज के लिए कितनी विराट् स्थिर-निधि चाहिए ?

इस विराट् साधन-समुदाय को जुटाना भामाशाहों का 'बीड़ा' उठाना' ही संभव करके दिखा सकता है। यदि वैदिक विद्वानों को वैदिक शोध भी करनी पड़े और साधन जुटाने की चिन्ता भी करनी हो, तो दोनों ही कार्य ठीक से न हो पाएंगे। फिर यह विद्वानों के प्रति कितना भारी अन्याय और कितनी क्रूरता होगी कि मानव-संस्कृति का मुख उज्ज्वल करने में वे अखिल मानवता की खातिर सारस्वत व्रत धारण करके जुटें तो उनके अन्न-वस्त्रादि की व्यवस्था भी मानवसमुदाय न कर सके ! क्या हम लोग इतने गए-गुजरे, नालायक और कृतघ्न रहेंगे ?

अतः इन पंक्तियों से अखिल भूतल के वित्तेश्वरों से निवेदन है कि वे अपने कर्तव्य की इस पुकार को सुनें और अपने गौरव के अनुरूप, अविलम्ब, जो करणीय है वह करें। अन्यथा, काल देवता तो अपना काम कर ही रहा है।

जहाँ तक संस्थान, अभय, और डॉ फतहसिंह जैसे वैदिक तत्त्वज्ञ की बात है, श्री स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' के शब्दों में इतना ही कहना पर्याप्त है कि है कि 'यह ध्रुव सत्य है कि इसकी पूर्ण सम्पूर्ति के लिए, मैं अपने जीवनी के अन्तिम क्षण तक साधरत रहूंगा। यह एक प्रभु-प्रेरित सेवा है, यह प्रभु का कार्य है, जिससे अखिल विश्व का कल्याण होना है।....यह एक नितांत निर्लेप और अनासक्त साधना है।.... भावी इतिहासकार को यह भले ही लिखना पड़ जाए कि '....जनता ने इस दिव्य साध में 'विदेह' का साथ नहीं दिया', किन्तु वह यह कदापि न लिख पाएगा कि 'विदेह' ने परिस्थितियों से परास्त होकर अपने घुटने टेक दिए।' ('वेदव्याख्या-ग्रन्थ, द्वितीय पुष्प, 'आत्म-निवेदन' (पृ. ३); १९५७ ई.) यह तो है अपनी बात, आपकी आप जानें।

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

परिशिष्ट १

ग्रन्थ में चर्चित प्रसंग

अग्निष्टोम xx, १७
अग्नीषोमौ १६, २४, ५९
अङ्गिरा ३२; आङ्गिरस ३२-३३
अज ४३
अत्रि ३३; — सप्तवधि १७
अथर्वा २, ३
अदिति : देखें 'देव'
अनुष्टुप् : देखें 'छन्द'
अन्तर्याम : देखें 'पात्र'
अमृत १८
अयास्य (प्राण) २५
अरणि १६
अर-मति ७०
अर्क vi, १८-१९, २२, २३, २४, ४७, ५०
अर्यमा ७०
अवि ४३
अविद्या ४१
अश्व १५, १६, १७, १८, ४३; — मेध vi, २३, ४७, ५०
अश्विनौ : देखें 'देव'
असंभूति ४१
असुर १०, ४६
अहः ३, ४, १५, ३१, ४९
अहम् viii, ३, २४, ४७; — अहंकार ३, ४, १७
आत्मा ii, १८-१९, २७, २८, ३७, ३९-४०, ४१-४२, ४४, ५६-५८
आपः २, ३, ४, ५, १०, १३, १४, २१, २३, ३१, ४८, ५२
आयु ix, xi, ४०, ४३, ४४, ४५, ४६; विश्व — ४४-४५
आर्षेय : देखें 'ऋषि'
इडा १८, ३४, ४३
इन्दु xii
इन्द्र — हरि १, ११-१२; इन्द्रिय — घ्राण-ix; चक्षु-viii, ix, श्रोत्र-viii; स्पर्श-ix; स्वाद-ix
इन्द्रिय : देखें 'इन्द्र'
उक्थ १६
उत्तरवेदि १७, ५१, ५२
उद्गीथ ५८, ५९, ६१
उपासना xi-xii
उपांशु : देखें 'पात्र'
उषा : देखें 'देव'
उष्णिक् : देखें 'छन्द'
ऋत ३
ऋषि xxii, २, ३, ६, ७-८, ९, ११, २६, २७ २८-३५; — आर्षेय २, ३, ८; एवयामरुत् २९; कण्व ३३; कश्यप ३३-३४; कूर्म ३२-३३, ३४; गृत्समद ix, ३२; गोतम xvi, ३२, ३५; च्यवन १७; जमदग्नि २६, ३२; जेता माधुच्छदस ३०; त्रित आप्त्य ३४, भरद्वाज २६, ३२; भुज्यु १७; भृगु २, ४; मधुच्छन्दा वैश्वामित्र २९-३१; ३४; मरीचि ३३; वन्दन १७; वसिष्ठ २५, २६, ३२; विश्वामित्र २६, ३२; सप्तर्षि xvi, ३२-३३;
एवयामरुत् : देखें 'ऋषि'
ओज ८
ओम् १, ३, ४, ५, ८, ११, ५८, ६१
ओषधि-वनस्पति ४
कण्व : देखें 'ऋषि'
करत् : देखें 'महाव्याहृति'
कर्म xi
कश्यप : देखें 'ऋषि'
कूर्म : देखें 'ऋषि'
कृ १
कोश ii, ५२, ५३; अन्नमय — १८, ४२, ५३-५४; आनन्दमय — ii, xx-xxi, १, २, ३, ९, ११, १२, १४, १५, १७, १८, १९, २०, २३, ३०, ४०, ४२, ४९ — ५०, ५२, ५६, ६२, ७२; प्राणमय — ५४; मनोमय — v, २, ३, ४२, ४९, ५४; विज्ञानमय — iii, v, xiii, २, ३, ४, २०, ४२, ४९-५०, ५४-५५, ७२
क्षत्र ६२
गन्धर्व ix
गय xx, xxi, ३७
गर्भ १, २२
गायत्री : देखें 'छन्द'
गृत्स-मद : देखें 'ऋषि'
गोतम : देखें 'ऋषि'
गोष्ठ : देखें 'गौ'
गौ १८, २२, २४, ४३, ७१-७२; गोष्ठ ४३
घृत १८
घ्राणेन्द्रिय : देखें 'इन्द्र — इन्द्रिय'
चक्षु : देखें 'इन्द्र — इन्द्रिय'
चन्द्रमा ३, ४, ४९, ५५
छन्द xxii, ६, ७, ९-११, २६, २७, ३५-३८, ४७, ७०; अनुष्टुप् ३१, ३५, ३७; उष्णिक् २६; गायत्री xx-xxi, २४, २६, ३५-३८; जगती २६, ३८; पंक्ति २६,

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

७०, ७२; बृहती २४, २६, ३५; त्रिष्टुप् ३८
जगत् १३
जगती : देखें 'छन्द'
जनत् : देखें 'महाव्याहृति'
जनुस ३
जमदग्नि : देखें 'ऋषि'
जातवेदाः १७, १८-१९, २०, २२
जीवयाज ४६
जेता माधुच्छन्दस : देखें 'ऋषि'
ज्योति ४३; —ष्टोम १७, ३७
तत् : देखें 'महाव्याहृति'
तप २
त्रित आप्त्य : देखें 'ऋषि'
त्रिधातु १९
त्रिविक्रमण २२, २४
त्रिवृत् १४
त्रिष्टुप् : देखें 'छन्द'
त्वष्टा : देखें 'देव'
दर्श-पूर्णमास ४७
दिक् ३
देव iii, १, ५-६, ८, १०, २०, ३२, ४०, ४५; [अग्नि ii, v, vi, vii-x, xii, २, ४, ८, १६, १७, १८, २०, २२, २८, ३०, ३४, ४३, ४४, ५०—५१; अश्विनौ ६, १५, १६, १७-१८; २२, २३; आदित्य ii, xi, ५, १८, ३४, ४२; इन्द्र xiv, ८, ११, १६, १७, २०, २३, २५, ३०, ४३, ७०-७१; —द्यावापृथिवी ८, ६, १५, १६; —द्यावरुणौ ६५; त्वष्टा २२; पर्जन्य २०; पूषा ४३, ४४, ७०; बृहस्पति २४, ४३, ७०; ब्रह्मणस्पति viii, ७०; मरुतः ५, ४३; मित्रावरुणौ ६, ९, १५-१६, १७, ६५, ७०; रुद्र ५; वरुण ३, ४, ९, १०, २२, २३; वसु ५, ४३; वायु v, ix, xx, २, ८; विष्णु २०, २१, २२, २३, २४, ७१; सविता ii, v, १७, २०, २१, २४, २८, ४०, ७०; सूर्य v, ३, १७, १८, २०, २४, २७, ३१, ३९, ४९—५०; सोम iv, v, vi, vii-viii, xii, ६, १०, ११, १६, १७, १८, १९, २९, ३३, ४३, ५०-५१;] पत्नी २०; [देवी —अदिति ii, १८, १९, २० २१, २५, ४४, ४६; उषा २०, ३२; सरस्वती २३; सिनीवाली २३]; देवता xxii, ६, ७, ८-९, १२-२४, २६-२८, ३५, ४५
दैवासुरम् ४६
द्यावापृथिवी ३, ६ १५
नक्षत्र ४
नर ४१, ४५
नारायण ४१, ४५, ४७
पंक्ति : देखें 'छन्द'
पदपाठ xii-xiv
पर्जन्य : देखें 'देव'
पशु ४३-४४, ४६, ४८, ७२; — बलि ७१-७२
पात्र—अन्तर्याम-४७; उपांशु-४७
पावमानी (ऋक्) २४, ३७
पाश १०
पिण्ड १३
पितर ११
पुर् ४१
पुरुष १९, २०, २७, ३९-६९; — यज्ञ iii, v, vi-vii, ४९-५१, ५५; ६९
पुरोडाश ३४
पुष्कर ४, ५, २३
पूषा : देखें 'देव'
प्रकृति vii-vii, २, १३
प्रजा ३३-३४, ४२-४४, ५७, ५८; —पति २, ३, १४, १६, २१, ४२-४३, ५५, ५६-५७, ५९
प्रव्रज्या २८
प्रसव १७
प्राण ४, ५, ६, ७, ८, १४-१५, २४-२६, ३२, ३३-३४, ३५-३८, ५७, ५८; —दृष्टि ६-७; —अपान iv, ९, १४, १५, १७, ३४; —उदान ९, १४
प्रतीक i, vi, xv-xxi, २, २७,-२८, ३२, ५९ ६२
ब्रह्म ii, v, ४, ५, ६, ८, १२-१३ १४, १५, १७, ३९, ४०, ६४, ६५; -गिरि २४, २५, २६, ३२; -जाया १३; -वर्चस् १७, १८; -वीर्य iii, iv, xxi, १, २, १४, १५, १६, २२; -शक्ति १४
ब्रह्मा ४, ४०
बृहत् : देखें 'साम (गान)'
बृहती : देखें 'छन्द'
बृहस्पति : देखें देव'
भरद्वाज : देखें 'ऋषि'
भर्ग v, ३७
भुज्यु : देखें 'ऋषि'
भृगु : देखें ऋषि'
मधु १८ २९, ३०, ३४
मधुच्छन्दा वैश्वामित्र : देखें 'ऋषि'
मन viii, १, ७, ९, २५-२६
मनु xv, ४, ४३
मन्त्र १, २५, २७, २८
मन्यु xv
मरुत : देखें 'देव'
महः v, ४७, ४८
महत् : देखें 'महाव्याहृति'
महाव्याहृति ३, ४, २३; करत् ३, ५; जनत् ३; तत् ४, ५, ११; महत् ३, ५; रुहत् ३, ५; शम् ४, ५, १०

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

महासंहिता vi, ६०
मानव i, ii, iii, iv, vi, viii, xi-xii, xvii-xviii, १, २, ८, ९, ११, १३, १७, १८, २१, २२, २३, २४, २६, ३३, ३४, ३९, ४२, ४३, ४४, ४६, ४७-५८
मेध xv
मित्रावरुणौ : देखें 'देव'
यक्ष १३, ४०
यज्ञ iii, iv, vi, १, ४, ५, ७, १०, १६, ३४, ३५, ४६, ४८, ४९-५१; ५२-५३; ५९; ६६; ७१; सोम—१९, ३८
यम-यमी ४३
यव iv, xv, xvii, ५१
यश: v
योग iv, vi, vii, xxii, ६, ४९-५३; उत्तरोत्तर—११; -क्षेम ८, ११; ध्यान—१४-१५, १५, ३७-३८; समन्वय—११; हरि—११, २६
रथन्तर : देखें 'साम (गान)'
रयि ४३
राज् ६५
रात्री २, ३, ४, १५, ३१, ४६
रुद्र : देखें 'देव'
रेत: देखें 'ब्रह्म-वीर्य'
लोक xiii, ३
वन्दन : देखें 'देव'
वसिष्ठ : देखें 'देव'
वसु : देखें 'देव'
वाक् ७, १४-१५, २१, २४-२६, ३१, ३३, ३५, ३७ ४५, ५८, ६४
विज्ञान x, १
विद्या ४१
विनियोग xxii
विराट् ३५, ४६, ५८-५९, ६२, ६३, ६४, ६५
विश् ५
विश्वामित्र : देखें 'ऋषि'
विष्णु : देखें 'देव'
वीर १५, १८
वेद i, iii, iv-v, १, ३, ४, ७, १२, १७, २३, २७; —अथर्व (ब्रह्म) v, २, ५, ४७; असुर—३, ५, १०; आङ्गिरस —v, ३; इतिहास—३, ५, १०; — उद्धार iii, iv, xi, १; ऋक् iii, v, vi-x, १, ४, ५, १४, १७, ४७, ६१; पिशाच ३, ५, १०; पुराण ३, ५, ११; यजुर् iii, १, १४, ३६, ३७, ४७; सर्प ३, ४, ५, १०, ११; साम iii, iv, v, xii, १, ११, १४, ४७, ६१;
वृत्र ३, ४, ९, १०, १७, १८, ३०—३१, ४६
वेदि ११
व्याहृति ४७, ६०
व्योम—परम-१, ५, १४
व्रीहि xv, xvii
शचीपति १
शम् : देखें 'महाव्याहृति'
शरीर ४४
शुष्ण ४४
श्येन xx, xxi
श्री (यन्त्र) ३
श्रोत्र : देखें 'इन्द्र—इन्द्रिय'
सत्यं ३
संभूति ४१
समुद्र ix, २, ३, १०, ३१
सम्राज् ६३-६४, ६५, ६६
सलिल १३, १४, २१
संवत्सर २, ३१, ४२, ४५
सवन iv, vi
सविता : देखें 'देव'
सह: ४५
संहिता i-iii, vi-vii, xviii; —पाठ xii-xiv
साम (गान)—बृहत् ४७; रथन्तर ४७
सिन्धु ३०, ४८
सुपर्ण १३
सुवेद २
सूर्य : देखें 'देव'
सृष्टि २, १३; आत्म-५७; -वर्णन २-४; -विद्या २, २५
सोम : देखें 'देव'
स्कम्भ ६२
स्तोम ६, १५-१८, २६
स्पर्श : देखें : 'इन्द्र-इन्द्रिय'
स्वराज् ६४, ६५
स्वस्ति ३०
स्वाद : देखें 'इन्द्र-इन्द्रिय'
हिमालय ४
हिरण्यगर्भ ४०
हिरण्यय : देखें 'कोश—आनन्दमय—'
हृद् ix, २५

परिशिष्ट : २

ग्रन्थ में चर्चित वैदिक शब्द

अङ्गिरा v, ३, ४; आङ्गिरस v
अग्र ६२
अध्वर ५३
अथर्वा v, x
अथर्वाङ्गिरस v, x
अदिति ix

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

अपः xvii
अमावास्या २३
अव्यस् iii
आङ्गिरस : देखें 'अङ्गिरा'
आपः xvii, २, ४, १३, १४
इन्द्र xii
उ xiii, xiv
उक्थ १६
उपासना xi
ॐ : देखें : 'उ'
ऊर्क् १
ऋक् १
ओम् १, ३
कु १
क्षत्र ६२
गायत्री xx-xxi
गोतम ८
चक्षु ५५
छन्दः ९, ५४
जातवेदाः ix
जाया: २, १४
तप २५; —तपोजा २५;
तमः १०
देवः iii
धाराः २, १४
नारायण १३
नियोग ६
पत् २५; —पतयत् २५;
पुत्र xiv-xv
पुरोडाश ३४
प्रणव २१, ४८
प्रधान ५८
प्रमति १६
ब्रह्म १२, ६२
मनसस्पति iii
मन्त्र १
माः २२, ३४
माया ५८
मृत्यु xvi, ३
यातयामन् २१, ३५
युग ११
वरुण ३
वह्नि ix
वाज ११
वामन २२
विग्रह xviii
विनियोग ६
विश् ५
वेद iii
व्यचस् iii
शिपिविष्ट २२
श्रवः viii
श्रुत x ; श्रुति x;
संज्ञान ii, vii
समिति ११
सम्राज् ६३
सलिल १३
संवत्सर २
संवनन ii, vii
संहिता i
सुवेद २
सृष्टि २
स्वराज् ६३
स्वाद ix
स्वेद २
हरियोजन ११

परिशिष्ट : ३

ग्रन्थ में उल्लिखित ग्रथों, देशों, व्यक्तियों, आदि के नाम

अघमर्षण-सूक्त २, ३, ३०-३२
अजातशत्रु १३
अर्जुन १३
आगम १४, ५८
आनन्द के. कुमारस्वामी xviii, xix
आरण्यक xviii, xxi, ३९ ४१, ५३, ६६; ऐतरेय—३३, ४१, ४२; शांखायन – ii, ४२
इस्लाम ७१
उपनिषद् xviii, xx, xxi, ३९, ४०, ५३, ६०, ६६; कठ– ५३, ५९; गर्भ—५३; चिति – ६६; छां— ६१; तै—ii, ४२; पारमात्मिक— ६६; प्रश्न--४१; बृ—२५, ६३, ६५; महावाक्य—६६; मुंड— ६६; मुद्गल – ६६;
'ऐक्स्पैंडिंग यूनिवर्स' १२
ऐय्यर २८
क़ुरआन ७२
कृष्ण १३
कौत्स i
गायत्र मन्त्र ii, ix
गार्ग्य १३
गीता १३, १४, ४६
घेरण्डसंहिता ७
'डिवाइन कमेडी' xviii
तन्त्र ५९; विश्वसार—५९;
दयानन्द २८
दर्शन ३९; न्याय-वैशेषिक—६६; पूर्वमीमांसा—६६; योग—६६; वेदांत—४१, ६६; सांख्य—२, १३, १५, २१, २५, २६, ३१, ४७, ५८, ६६
दान्ते xviii
नासदीय-सूक्त १३
निघण्टु xiv, xv, xviii
निरुक्त i, xiv, xv, xvi, xviii, xx xxi, २८
पतंजलि i

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

पाणिनि i
पुराण १०, ४५; विष्णुधर्मोत्तर—xviii
पुरुष-सूक्त xvi, ४५-४९, ५९, ६६
प्लैटो xviii
फतहसिंह ५९, ६०
बाईबिल xviii, ७१, ७२
बृहद्देवता xvi, xxi, xxii, ६-७, २९
ब्राह्मण xvi, xviii, xxi, ४, ७, ८, ४४, ५३, ६६; ऐत—७; कौषी—७; गोपथ—२, ३, ४, १०, १३, ३९; जैमिनीय—iii, v, ६, ७, १३; मा-शतपथ xv, ७, ३३, ३९
मनुस्मृति १३
मैक्स म्युलर xxi
यास्क i
यूंग xx
योगवासिष्ठ xi
रमण ८
रोम ३
लक्ष्मीनारायण शर्मा ३२
वेद i, vi,-xii, ३, ५९-६०, ६२, ७२; अथर्व—iv, x-xi, ४, १३, ४१-४२, ४५, ५९, ६२, ७०; —अर्थ १; —अर्थवाद vi, xii, xv, ऋग् vii-x, xiii, xv, xix, xxi, १, २, ११, ३७, ४५, ५५, ६५, ६६; —प्रतिपाद्य xviii—xix; —भाषा xvii-xviii; यजुर्—xi, ४५; [—काठक ७, ३५, ४३; —कपिष्ठल ३५; ४३; —तैत्तिरीय xxi, ३९; —मैत्रायणी xiv, ७, ३९, ४३]; साम—xi-xii
वेङ्कटमाधव xxii
'वैदिक दर्शन' ६०
श्रीमद्भगवद्गीता : देखें 'गीता'
'सर्वानुक्रमणी' २७, ३२, ३९
सातवलेकर २८
सायण v, vi, xxi, xxii, १८
सिद्धेश्वर वर्मा xxi
स्कन्दस्वामी xxii
होलीज्म i

पाठक से

वेद-संस्थान इस पुस्तक की विषयवस्तु, लेखनशैली, और आकार-प्रकार के बारे में आपके विचारों के लिए आभारी होगा। अन्य कोई सुझाव आप देना चाहें तो उन्हें जानकर भी हमें प्रसन्नता होगी। हमारा पता है : **बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड, अजमेर, भारत।**

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband

Digitized by Madhuban Trust

प्रत्येक वेदानुशीलक के लिए मननीय

डॉ फतहसिंह-रचित अन्य संस्थान-प्रकाशन

मानवता को वेदों की देन

२० × ३०/८ = ९८ पृष्ठ; रु १२.००

मानवता को वेदों की देन है उसे उसके उदात्त और विराट् स्वरूप का बोध कराना, जिसका आचरण जातियों, रंगों और मतों में विभक्त मानवों के समाज को स्वर्ग बना सकता है और फलतः धर्म विष के बजाय अमृत हो सकता है।

लेखक ने इस ग्रन्थ में दर्शाया है कि अरब, असीरिया, ईरान, दक्षिण-पूर्व एशिया, चीन, जापान, तिब्बत, बेबीलोन, भारत, मिश्र, यूनान, यूरोप, रोम, सुमेर, आदि की परम्पराएं, तथा इंजील, बाइबिल, कुरआन, तन्त्र, पुराण, आदि की उक्तियां और कथाएं वेद के प्रतीकार्थों से बोधगम्य होकर, मनु के कथन, 'सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति' को सत्य प्रमाणित कर देती हैं।

यह ग्रन्थ वेदों के प्रतिपाद्य विषय का स्पष्ट और सप्रमाण प्रतिपादक है और वेदों की शैली को समझने की कुंजी है। वैदिक प्रतिभा की मौलिक महिमा को प्रकट कर, वेदों की विभूति को यह सर्वसुलभ बनाता है।

दयानन्द और उनका वेदभाष्य

२० × ३०/८ = ५८ पृष्ठ; रु १०.००

इस ग्रन्थ में चार महत्त्वपूर्ण निबन्ध हैं : दयानन्द और उनका स्वप्न, वेदोद्धारक दयानन्द, दयानन्द-भाष्य : कार्य की गुरुता, दयानन्द भाष्य : एक मूल्याङ्कन। ग्रन्थ का प्रत्येक पृष्ठ नवीन दृष्टिकोण, मौलिक चिन्तन, प्रबल प्रेरणाओं से युक्त है। दयानन्द के वेदभाष्य का अध्ययन कम ही हुआ है, उस पर भी डॉ फतहसिंह ने जिस दृष्टिकोण से यह अध्ययन किया है वह अपने आपमें अनूठा है।

डॉ फतहसिंह के कुछ और ग्रन्थ

जो प्रकाशन-प्रतीक्षा में हैं

१ पुरुष-सूक्त : एक प्रतीकात्मक अध्ययन

२ अस्यवामीय-सूक्त : एक प्रतीकात्मक अध्ययन

CC-0. Public Domain. Vipin Kumar Collection, Deoband